भगवान है कि नहीं

कर्त्तार सिंह दुग्गल

भगवान है कि नहीं

(कहानी संग्रह)

शिलालेख
दिल्ली - 110032

भगवान है कि नहीं

कर्त्तार सिंह दुग्गल

2003

ISBN 81-7329-034-2

मूल्यः 200.00 रूपये
लेखक : कर्त्तार सिंह दुग्गल

प्रकाशक : शिलालेख
4/32, सुभाष गली,
विश्वास नगर,
दिल्ली - 110032
फोन : 2424810
लेज़र कंपोजिंग : सिंह ब्रदर्ज़,
44/2 चर्च रोड, भोगल, नई दिल्ली - 14

कवर डिजाइन : इमरोज़

BHAGWAN HAI KI NAHIN : Stories by
Kartar Singh Duggal. Price Rs. 200.00

प्यारे भाई
बी. आर. नागर के नाम

अनुक्रम

भगवान है कि नहीं

सुरेन्द्र बहन मेरी बहन नहीं, मेरी बहन की सहेली है। उधर गांव में हमारा घर एक गली में था, उनका घर दूसरी गली में था, बीच में गुरुद्वारा था।

सुरेन्द्र बहन का जन्म गांव के चौधरियों के यहां हुआ। चौधरियों का एक लड़का पढ़ता चला गया, पढ़ता चला गया – उसने डाक्टरी पास कर ली। डाक्टरी पास करने के बाद उस लड़के का ब्याह परियों जैसी, शहर की एक लड़की से हुआ। बालों मे फूल चिड़ियाँ बनाती, पाउडर मलती, सुरखी लगाती। जहाँ से वह गुज़रती कितनी कितनी देर सुगन्ध आती रहती। गोरी, ऊँची-लंबी, गांव में वह पहली औरत थी जो धूप की ऐनक पहनती थी, साड़ी बाँधती थी। जहाँ से उसे गुज़रना होता लोग कितनी कितनी देर एक नज़र उसे देखने के लिये वहाँ मँडराते रहते। और चौधरियों का ड़ाक्टर बेटा कितना भला, कितना हँसमुख था। इधर उसने डाक्टरी पास की उधर उसे सरकारी नौकरी मिल गई। लोग नौकरियों के पीछे भागते और नौकरी डाक्टर को ढूँढ़ती हुई गांव आ घुसी। इस डाक्टर के घर, उस शहरिन की कोख से सुरेन्द्र बहन का जन्म हुआ। जैसे सच्चा मोती हो, लोग आँखें फाड़-फाड़ कर इस लड़की को देखते। ढोल बजे। शहनाईयां बजीं, सुरेन्द्र के दादा चौधरी नारायण सिंह ने अनाज की कोठरियाँ ग़रीब-गुरबा के लिये खोल दीं। कितने दिन खुशी मनाई जाती रही। डाक्टर पिता की बेटी, चौधरी की पोती, सुरेन्द्र बहन कीं लाख ख़ातिरें होतीं। वह छींक मारती और सारे गांव में अफ़रा-तफ़री मच जाती। आज लड़की बैठी है, आज घुटनों चली है, आज लड़की खड़ी हुई है, अब लड़की चलने लगी है। बच्ची की एक-एक हरकत की गली-गली में चर्चा होती। सुरेन्द्र बहन का डाक्टर पिता; बच्ची में जैसे उसकी जान हो, उसके पालने के लिए गिटमिट अंग्रेजी बोलने वाली एक आया रखी गई। अंग्रेज़ी दूध और दवाएं; मालिश और उबटन। गोरी-गोरी, लाल-लाल, गोल-मटोल। डाक्टर पिता लड़की के पहनने के लिये ऐसे-ऐसे कपड़े लाता जो पहले न किसी ने देखे थे न किसी ने सुने थे। खिलौनों से उनका आँगन भरा रहता।

यूँ लाड़-प्यार में बच्ची बढ़ रही थी कि अचानक चार दिन बीमार रहकर उसका डाक्टर पिता चल बसा। पीट-पीट कर उसकी माँ और उसके संबंधियों ने बुरा हाल कर लिया। और एक साल की छोटी बच्ची की समझ में नहीं आ रहा था कि यह हो क्या गया है।

चौधरियों की पोती, सुरेन्द्र बहन की लाख ख़ातिरें होती। पर बाप राजा का हाथ उसके सिर से हट गया था। डाक्टर लड़के की ऐसी बेवक्त मौत पर चौधरी बुझा-बुझा रहता। चौधरियों के घर वर्षों तक सोग मना।

सुरेन्द्र बहन के संबंध में मेरी अगली स्मृति उसके विवाह की है। अभी विवाह की कोई ख़ास उसकी आयु भी नहीं हुई थी कि उसका विवाह कर दिया गया। यह सोच कर कि लड़की अपने पिता के अभाव को महसूस न करे। सुरेन्द्र बहन का विवाह सारे के सारे इलाके में एक यादगार था। लाल पीली वर्दियां पहने 101 बाजों का बेंड। पीछे 101 घोड़ों पर फूलों की चादरों में लिपटी हुई बारात। गली-गली में झंडियाँ, स्थान-स्थान पर स्वागत द्वार। बारात के प्रवेश के समय चौधरियों की सारी की सारी गलियों में दूध सी सफेद चादरें और कालीन बिछाये गये, जिनके ऊपर से गुज़र कर बारात आई। तीन दिन बारात टिकी और तीन दिन ही आतिशबाज़ी छूटती रही। चौधरियों ने चौधरियों से नाता जोड़ा था, और पैसे को पानी की तरह बहा दिया गया। जितने बकरे इस शादी में काटे गये थे, जितने तीतर-बटेर और मुर्गे इस शादी में झटकाये गये उतने पहले कभी किसी ने न देखे थे न सुने थे। ऊँचा लम्बा, चौधरी ने जो लड़का ढूँढ़ा, गांव के लोगों की उसे देख-देख कर भूख न मिटती। लड़का चौदहवीं पास था। अपना स्वयं का काम करता था। उनके घर का इतना भारी व्यापार था। सुरेन्द्र बहन की जब डोली निकली; डोली के साथ चल रही स्त्रियों ने सौ-सौ आशीर्वाद उसे दिए।

'लाखों पर इस लड़की की कलम होगी...।'

'भाग्यशाली है जिसे ऐसा घर मिला। चौधरियों के यहां पैदा हुई और चौधरियों के यहां ही जा रही है।'

'और लड़का कैसा इसे मिला है। जैसे सच्चा मोती हो।'

'जुग-जुग जिये! ऐसी जोड़ी कभी-कभी जुड़ती है।'

'लड़का कैसा सुंदर है।'

'सात बेटों का बाप होगा। ऐसा मर्द भाग्य से मिलता है। बेटों से आँगन भर देगा।'

और सचमुच चौधरियों के उस लड़के ने एक के बाद एक तीन बेटे सुरेन्द्र बहन को दिये। और तीन बेटों की मां; उसे यूँ लगता जैसे सारे संसार पर उसका राज्य हो, जो बात उसके मुँह से निकलती वह पूरी हो जाती। सास-ससुर, पति, पति के भाई, पति की बहन, अड़ोस-पड़ोस वाले, सुरेन्द्र बहन को सब लोग सिर पर उठाये रखते। कभी किसी का जन्म दिन, कभी कोई खुशी, सुरेन्द्र बहन का जीवन खुशियों की एक अटूट लड़ी हो कर रह गया! जो कुछ वह बोलती वही ठीक माना जाता। जो कुछ वह कहती पत्थर की लकीर होता। जो कुछ वह चाहती, वह आंख बंद करती और उसकी मनोकामना पूरी हो जाती। जीवन की हर घड़ी स्वाद-स्वाद, जीवन का हर क्षण मुस्कानों से फूट-फूट पड़ता।

यूँ जीवन गुज़र रहा था कि अचानक सुरेन्द्र बहन का पति बीमार पड़ गया। एक दिन बीमार पड़ा, अगले दिन उसकी हालत ख़राब हुई और तीसरे दिन वह गुज़र गया।

जैसे आकाश में झूला झूल रही किसी को झकझोर कर धरती पर पटक दिया जाए, जैसे तारों में मुस्कानें बिखेर रही किसी को ज़मीन पर मसल दिया जाए, सुरेन्द्र बहन खोटा सिक्का होकर रह गई। विधवा; तीन यतीम बच्चों की मां।

बहुत दिन नहीं गुज़रे थे कि उस भाग्यशाली बहू में, घर वालों को दोष नज़र आने लगे। जो बात करती घर वालों को ज़हर लगती। अड़ोस-पड़ोस में लोग उसकी परछाईं से डरने लगे। एक मास, दो मास, तीन मास और फिर सुरेन्द्र बहन से उस वातावरण में साँस लेना मुश्किल हो गया।

एक दिन किसी बहाने शहर में आई सुरेन्द्र बहन लौट कर न गई। गली-गली घूम कर सुरेन्द्र बहन ने नौकरी तलाश करनी आरंभ कर दी। कोई नौकरी जिससे उसकी इज्ज़त बनी रहे और वह अपने बच्चों को आबरू के साथ पाल सके। पर नौकरी कहां? सुरेन्द्र बहन को बहुत तकलीफ़ उठानी पड़ी। कई वक़्त भूखों निकल गये। बच्चे छोटी-छोटी आवश्यक़ता के लिये बिलखते रहते। यूँ काम की तलाश में एक दिन वह शहर के एक ठेकेदार से मिली। उनका लाखों रुपये का व्यापार था। तम्बुओं-कनातों का वह ठेका करते थे। और तम्बुओं को सिलने-तुरपने के लिये कई औरतें उनके कारखाने में काम करती थीं।

सुरेन्द्र बहन दस सिफ़ारिशें करवा कर ठेकेदार के सामने पेश हुई। लखपति ठेकेदार ने सुरेन्द्र बहन को देखा, उसकी कहानी सुनी और काम देते-देते, अपना दिल दे बैठा। सुरेन्द्र बहन को उस आदमी में से बू आई। उसको ऐसे महसूस हुआ जैसे वह कपड़े फाड़ कर कहीं निकल जाये। इतना घोर अन्याय कैसे हो सकता था। चारों ओर उसे अँधेरा-अँधेरा महसूस हुआ। वह सोचती धरती फट जायेगी। आकाश फूट जायेगा।

पर वह ठेकेदार तो उसको सच्चे दिल से प्यार करता था। एक दिन, दो दिन, महीना, दो महीने उसने देखा! वह तो उस पर चाहे जान कुर्बान कर दे। जहां जहां जाकर वह छुपी, ठेकेदार ने उसका पीछा किया। उसकी मुहब्बत के लिये वह तो हर कीमत देने को तैयार था।

और फिर एक दिन मैं अपने कमरे में बैठा था कि एक जहाज़-सी मोटर आकर रुकी। खिड़की में से झाँक कर मैंने देखा, वह तो सुरेन्द्र बहन थी। जैसे कोई रानी हो। गहनों से लदी हुई। उसकी सलवार, उसकी कमीज, उसका दुपट्टा, उसका रंग, उसके बाल, उसकी आंखें, उसकी पलकें, उसके नाखून। झमझम करती हुई आई। मन्द-मन्द मुस्कराती हुई, सुगन्धियाँ बिखेरती हुई। उसके साथ उसका ठेकेदार पति था। सुरेन्द्र बहन की मौसी की दो जवान बेटियां थीं। ये मेरे साथ ही रहती हैं, सुरेन्द्र

बहन ने बताया, इतनी बड़ी कोठी अकेले मुझे खाने को दौड़ती है। सुरेन्द्र बहन की मौसी की बेटियों के वस्त्र हू-ब-हू-सुरेन्द्र बहन जैसे थे। उसकी कमीज़ जैसी कमीज़ें, उसकी सलवार के रंग की सलवारें, उसके दुपट्टे जैसे दुपट्टे, एक ही थान में से जैसे फड़वाये हों। जितनी देर ये लोग हमारे साथ रहे मुझे यूं लगा जैसे सुरेन्द्र बहन की समझ में न आ रहा था कि इतने पैसे का वह क्या करे। अपने पति की इतनी मुहब्बत का वह क्या करे। कितनी बेफिक्र, कितनी खुश, कितनी प्यारी। जाने से पहले उसने माडल टाऊन की अपनी कोठी का पता मुझे लिखवाया। टेलीफ़ोन का नम्बर नोट करवाया और अगले इतवार मिलने का मुझ से इक़रार लेकर चली गई।

अगले इतवार में चार दिन बाक़ी थे। जब भी मुझे सुरेन्द्र बहन का ख़्याल आता एक नशा सा मुझे महसूस होता। उसकी फूट-फूट पड़ती मुस्कानें, उसकी पलकों की शोखियां, उसकी आत्मविश्वास से भरपूर हर हरकत। शनिवार की शाम थी, मैं सोच ही रहा था कि अगले दिन माडल टाऊन जाऊंगा कि सुरेन्द्र बहन मेरे कमरे में आ निकली। मैले कुचैले कपड़े, बिखरे बाल, सूजी हुई आँखे। आते ही मेरे गले लग रोने लगी। उसका पति उसकी मौसी की एक बेटी के साथ विवाह कर रहा था।

सुरेन्द्र बहन ज़ार-ज़ार रोती। गुच्छों के गुच्छे अपने बालों के नोचती; दीवारों से सिर पटकती। दुपट्टे के कोने को बल देकर बार-बार उंगली पर लपेट लेती, बार बार खोल देती। कहती, मैं तो ज़हर खा लूंगी। ज़हर खाकर उस ज़ालिम औरत की आंखों के सामने तड़प-तड़प कर मर जाऊंगी जिसने मेरा घर इस तरह बरबाद किया है। यूँ लगता था; पिछले कई पहरों से सुरेन्द्र बहन ने कुछ खाया नहीं था। मेरे सामने फ़रियाद करती वह बेहोश हो गई।

और फिर उसके बाद जहां भी मिलती, सुरेन्द्र बहन जल रही होती। सूख-सूख कर तिनका हो गई। उसके पति ने सुरेन्द्र बहन की मौसी की बेटी के रहने के लिए अलग कोठी ले दी, अलग मोटर, अलग नौकर-चाकर, परन्तु सुरेन्द्र बहन पल-पल छिन-छिन घुलती जा रही थी। उसका रंग कोयले जैसा काला हो गया। रो-रो कर उसके मुँह पर दाग़ पड़ गये। कितने-कितने दिन वह न कुछ खाती न पीती। बैठी बैठी छल-छल आँसू रोने लगती। उसके नौकर घर की चीज़ें चुराने लगे। उसकी कोठी के फूल मुरझाने लगे। फूलों के पेड़ सूखने लगे। उसके सबसे छोटे बच्चे की आंखें दुखने लगी। लापरवाही में उसकी एक आंख बह गई।

फिर देश आज़ाद हुआ। पंजाब का बँटवारा हुआ। दंगों में कोई कहाँ गया, किसी ने कहीं सिर छुपाया, कई मास तक सुरेन्द्र बहन की कोई ख़बर नहीं मिली। फिर एक दिन मुझे पता चला कि सुरेन्द्र बहन मुझ से मिलने के लिये आ रही थी। सुरेन्द्र बहन खुश-खुश थी। सब बातें उसमें एक ज़िम्मेदार औरत की-सी थीं। उसके पति ने चालीस हज़ार रुपये की एक कोठी उसके लिए देहरादून में उसे ले दी थी,

जिसमें वह रह सकती थी, उसका किराया खा सकती थी। उसका सबसे बड़ा बेटा जवान हो गया था और अब वो दादा-घर से मां के पास आ गया था। एक दो दिन में वह नौकरी पाने वाला था। उससे छोटा उसके ठेकेदार पति ने देहरादून अकादमी में दाख़िल करवा दिया था। एक या दो वर्ष में उसे कमीशन मिलने को था। सबसे छोटे की आंख चाहे ख़राब थी किन्तु सुरेन्द्र बहन कहती, वह उसकी नई आँख लगवा देगी। आजकल डाक्टर इस तरह आँख बनाते हैं कि पता थोड़े ही लगता है।

मैं बहुत खुश था। सुरेन्द्र बहन से ज़्यादा खुश मैं था। सारे काम ही उसके ठीक हो गये थे। देहरादून सुरेन्द्र बहन को हमेशा से पसन्द था। और अब उसका बड़ा बेटा नौकर हो जायेगा। चाहे वह ठेकेदारी ही शुरू कर दें। अपनी मां के पति के साथ। उसका बड़ा बेटा अपनी माँ को सँभाल लेगा।

कई मास गुज़र गये। एक दिन मैं दफतर में बैठा था कि टेलीफ़ोन आया कि सुरेन्द्र बहन का सबसे बड़ा बेटा छत से गिर कर मर गया है। तीन मंज़िल; छत के ऊपर वह सो रहा था। रात को सोया-सोया उठ कर चलने लगा और नीचे जा गिरा। धरती पर आते ही उसकी जान निकल गई थी।

यूँ लगता था कि सुरेन्द्र बहन अब नहीं बच सकेगी। लड़के की अर्थी निकली, वह बेहोश पड़ी हुई थी। शमशान भूमि में अन्तिम संस्कार के समय वह वैसी की वैसी बेहोश थी। डाक्टर दवायें दे देकर थकते तो टीके लगाना शुरू कर देते, टीके लगा-लगा कर थकते तो मालिश शुरू कर देते। जो कोई भी लड़के की जवानी का ख़्याल करता, बार-बार हाथ मलता और अभागी मां के लिये लहू के अश्रु रोता। जो बोलता यही कहता ऐसी मौत कभी नहीं देखी, ऐसी मौत कभी नहीं सुनी। कई दिन तक डाक्टर यह न बता सके कि वे माँ को बचा सकेंगे या नहीं। सुरेन्द्र बहन हड्डियों का पिंजर बन गई। बोलने लगती तो बोलती जाती। चुप होती तो सारा-सारा दिन किसी से बात न करती। अच्छी भली बैठी होती, इसकी आँखों से अविरल आँसू बहने लगते। बहते-बहते आप ही आप रुक जाते। नहाती रहती, केश धोती रहती, कपड़े बदलती रहती, कोई उससे बात करता तो नहाने लग जाती, कोई उसके पास से गुज़र जाता तो वह केश धोने शुरू कर देती। किसी की आवाज़ उसके कान पड़ती तो वह जोड़ा बदलने के लिए उठ खड़ी होती।

उसके बाद मैं सुरेन्द्र बहन को कोई एक साल के बाद मिला। पार्लियामेंट के चुनाव हो चुके थे और उसका पति पार्लियामेंट का सदस्य चुना गया था। दिल्ली; उनके घर बधाई देने के लिये मैं गया। सुरेन्द्र बहन वहां थी, खुश बहुत खुश। उसका पति पार्लियामेंट का सदस्य बन गया था। लोग कहते शायद वह मंत्री भी हो जाए। बार-बार उसका पति सुरेन्द्र बहन के गले में बांहे डालता और कहता; यह सब कुछ उसकी प्रार्थना का परिणाम है। मैं पार्लियामेंट के लिए चुनाव का फ़ार्म भर कर

इसे देहरादून से ले आया था। मेरे दिल ने कहा, यदि सुरेन्द्र हाथ जोड़ेगी तो मैं ज़रूर सफल हो जाऊंगा। खुश बहुत खुश, सुरेन्द्र बहन ने मुझे बताया कि उसके पति ने अपनी दूसरी पत्नी को कहीं शहर में घर लेकर दिया था। कोठी में केवल वह रहती थी। वह और उसके कोई आध दर्जन नौकर और दो मोटरें। वह और मेहमान, कोई मंत्री था, कोई नेता था, कोई अफ़सर था। खुश बहुत खुश। सुरेन्द्र बहन मिनट-मिनट बाद टेलीफोन सुनती। मिनट-मिनट बाद बधाईयाँ लेती। कोई सुरेन्द्र बहन के गले में हार डालते, कोई उसके पति के गले में हार डालते, फोटोग्राफ़र उसके पति की तसवीरें लेने आते। हर बार वह पत्नी को साथ खड़ा कर लेता। कहता —पार्लियामेंट में जीती यह है, नाम केवल मेरा है।

और फिर अक्सर दिल्ली में सुरेन्द्र बहन से मुलाक़ात हो जाती। कभी किसी पार्टी में, कभी किसी दावत में। सिफारशें करवानी होतीं। हम लोग सुरेन्द्र बहन से कहते रहते। उसका पति हमारे काम करवा देता। कई बार तो यूं भी होता कि सुरेन्द्र बहन स्वयं टेलीफोन कर देती। उसकी अपनी जान-पहचान अब इतनी बढ़ गई थी।

उसका पति इस बार मंत्री नहीं बना। अगली बार ज़रूर बन जायेगा। हम सब लोग सुरेन्द्र बहन के प्रति पूर्ण आश्वस्त हो चुके थे कि अचानक सरदार बीमार हो गया। पेट का कोई कीड़ा था। डाक्टर सिर मार कर रह गये। एक अस्पताल से दूसरे अस्पताल। एक शहर से दूसरे शहर। परन्तु वह बच न सका। एक सुबह सुना सुरेन्द्र बहन फिर विधवा हो गई थी। फिर बरबाद हो गई थी। फिर मिट्टी के साथ मिल गई थी।

सुरेन्द्र बहन का पति गया। इसके साथ कोठी गई, टेलीफोन गया, टेलीफोन करने वाले धीरे-धीरे ख़त्म हो गये। उसे चारों और घुप अँधेरा दिखाई देता। घुप अँन्धेरा और कर्ज़ मांगने वाले। घुप अँधेरा और लोगों की बदली हुई नज़रें। घुप अँधेरा और लोगों की बेमुरव्वती। और सुरेन्द्र बहन कान लपेट कर दिल्ली से निकल गई।

अगली मुलाक़ात; सुरेन्द्र बहन से मेरी कुछ महीने बाद मेरे दफ़्तर में हुई, दूध से सफ़ेद रेशमी कपड़ों में जैसे कोई देवी हो। चिक उठाकर अन्दर आई। उसके साथ उसका दूसरा बेटा था। इसको कमीशन मिल गया है और आगरा इसकी पोस्टिंग भी हो गई है। सुरेन्द्र बहन ने मुझे बताया और उसकी आँखें जैसे कह रही हों, एक मां को और क्या चाहिए? किसी के बेटे को कमीशन मिल जाये और उसकी पोस्टिंग हो जाये और फिर वह आप ही आप ऊपर चढ़ता जाता है। क्या का क्या बन जाता है। एक मां को और क्या चाहिए? सुरेन्द्र बहन सत के विवाह का सोच रही थी। लड़कियों वाले कह-कह कर शर्मिंदा करते थे और सत कहता वह तो अपनी मन-पसन्द लड़की से शादी करेगा। सुरेन्द्र बहन को यह बड़ा अच्छा लगता। उसका बेटा अपनी पसन्द की लड़की के साथ शादी करेगा। इतना बड़ा जो हो गया था। बेटा कमायेगा और मां खर्च करेगी। आज कल के लड़के-लड़कियों से घर नहीं

चलते। और फिर आजकल तो इधर शादी हुई, उधर बच्चा हुआ। लड़के-लड़कियों को खाने पहनने से ही फुरसत नहीं मिलती और बच्चे नौकरों पर पलते हैं। मैं तो यूँ कभी नहीं होने दूंगी। सुरेन्द्र बहन की आंखों में कई स्वप्न थे। मेरे पूछने पर पता चला कि वे दिल्ली के सबसे बड़े होटल में ठहरे हुए थे। कुछ दिनों बाद बेटे ने आगरा जाना था। माँ देहरादून लौट जायेगी। कुछ दिन वहाँ रहेगी। इतने में सत को सरकारी कोठी मिल जायेगी। और माँ भी उसके पास चली जायेगी।

खुश-खुश, खिली-खिली मुस्कानें बिखेरती सुरेन्द्र बहन आई। खुश-खुश, खिली-खिली मुस्काने बिखेरती चली गई। जितने दिन वह दिल्ली में रहे मैं उन्हे प्रतिदिन मिलता रहा। कितना खर्च सुरेन्द्र बहन करती थी। इम्पीरियल होटल के कमरे गर्मियों में ठन्डे; सर्दियों में गरम। इधर-उधर घूमती, ऐसे लगता था जैसे सारी आयु सुरेन्द्र बहन ऐसे ही वातावरण में रही हो, इन लोगों में उठते-बैठते बड़ी हुई हो।

गर्मियों के दिन थे। सुरेन्द्र बहन ने मुझे देहरादून बुला भेजा। और कुछ दिनों तक उसे सत के पास चले जाना था। देहरादून छोड़ने से पहले उसकी मर्ज़ी थी कि एक-आध महीने मैं उसके पास जाकर रहूँ। सुरेन्द्र बहन की यह छोटी-सी फरमाइश थी। मैने इसे ठुकराना मुनासिब न समझा।

कई दिनों से मैं सुरेन्द्र बहन के पास ठहरा हुआ था। प्रतिदिन उसे सत की चिट्ठी आती। हर रोज़ कोई नई बात। हर रोज़ कोई नई खुशी। कभी उसे यह पोटलियां भेजती रहती, कभी वहाँ से उसे पार्सल आते रहते।

एक दिन सुबह जब मैं उठा, सुरेन्द्र बहन घर में नहीं थी। पूछने पर पता चला; वो तो प्रातःकाल शहर चली गई थी। नौकर का ख़्याल था कि बीबी की शायद तबीयत ठीक नहीं थी। चौकीदार ने उसे बताया था कि सारी रात वह कोठी के बरामदे में बेचैन टहलती रही थी।

नाश्ते के बाद कहीं सुरेन्द्र बहन शहर से लौटी। उसका चेहरा बुझा हुआ था। उस पर एक भयानक वीरानी छा रही थी। मेरे पूछने पर उसकी आँखों से अश्रु फूट आये। "मुझे पता नहीं क्यों मेरा दिल बैठा जा रहा है।"

"तबीयत तो ठीक है?" मैने पूछा।

सुरेन्द्र बहन की तबीयत अच्छी भली थी। पर उसे पता नहीं क्या हो रहा था। वह अत्यन्त बेचैन थी। फिर वह कोठी के सामने दालान में टहलने लगी। मैं अपने कमरे में खिड़की के पास खड़ा देख रहा था। सुरेन्द्र बहन के चेहरे पर एक रंग-आता, एक रंग जाता।

"इसको हो क्या रहा है?" मैं बार-बार सोचता। तेज-तेज कदम। आहिस्ता आहिस्ता कदम। कभी हाथों को मलती। कभी दुपट्टे के आँचल को मरोड़ती। बार-बार पसीना पोंछती। कितनी ठंडी हवा चल रही थी और कैसे उसका पसीना बह रहा

था। कितनी देर से वह इस तरह बेचैन टहल रही थी कि सामने कोठी का गेट खुला और एक तार वाला अन्दर आया। सुरेन्द्र बहन ने तार वाले को देखा और दौड़ कर उसकी ओर गई। मैं भी बाहर निकल आया।

"क्या सत मर गया है?" सुरेन्द्र बहन ने तार वाले से फटी हुई आवाज़ में चीख़ कर पूछा। सुरेन्द्र बहन से मैने तार खींच लिया। लिफाफा फाड़ कर मैंने देखा, और फिर काग़ज़ मेरे हाथों से गिर गया। पायलेट अफसर सिंह हवाई जहाज़ की एक दुर्घटना में मर गया था। सरकार को उसके संबंधियों को यह सूचना देते हुए बहुत दुख था।

इस दुर्घटना को कई दिन हो चुके हैं। सुरेन्द्र बहन मेरे सामने बैठी है। जैसे शमशान का झुलसा हुआ कोई कुंदा हो।

"भगवान कोई नहीं।" बार-बार मेरे दिल में यह आता है।

"भगवान कोई नहीं।" मैं एक से अधिक बार ऊंचा भी कह चुका हूं।

"भगवान कोई नहीं, सुरेन्द्र बहन, भगवान कोई नहीं।" पत्थर की पत्थर सुरेन्द्र बहन मेरे सामने बैठी है।

यूँ ही वह बैठी रहती, जितनी देर मैं और देहरादून रहा।

"भगवान कोई नहीं।" जब भी मुझे सुरेन्द्र बहन की जीवन कहानी का ख़्याल आता मेरे मुंह से आप ही आप निकल जाता।

फिर एक दिन उसका मुझे पत्र आया। मेरा कोई नहीं। संसार में मेरा कोई नहीं। मैं उस अमुक साधु-आश्रम में जा रही हूं। सन्तों की सेवा किया करूंगी और जीवन व्यतीत कर दूंगी। और अब मेरा है भी कौन भगवान के सिवा।

इन्टरव्यू

(इस कहानी के, ज्ञानी गुरुमुख सिंह मुसाफ़िर को छोड़कर सभी पात्र काल्पनिक हैं।)

सुवीरा मुसाफ़िर का जिस दिन नतीजा निकला, उसी दिन समाचार पत्र में एक विज्ञापन छपा कि शहर के पब्लिक स्कूल में अध्यापिकाओं के तीन स्थान ख़ाली हैं। शिक्षाशास्त्र में एम.एड. करके उसने फैसला किया था कि किसी स्कूल में वह नौकरी कर लेगी। नौकरी करके, विवाह कराने की अधिकारी हो जाएगी। स्कूल की मामूली नौकरी। इस से बड़ा सपना उसने कभी नहीं पाला था। एम. एड. में उसके अंक अच्छ-ख़ासे थे। और फिर स्कूल की छोटी-मोटी नौकरी कोई बड़ी ईश्वरीय देन नहीं होती। उसे मिल जानी चाहिए थी। बस, एक कमी थी। उसे पढ़ाने का कोई अनुभव नहीं था। विज्ञापन में माँग की गई थी कि जिस उम्मीदवार को पढ़ाने का तजुरबा होगा, उसे तरजीह दी जायेगी। लेकिन नौकरी के बग़ैर पढ़ाने का तजुरबा कैसे हो सकता है, यह बात सुवीरा की समझ में नहीं आ रही थी।

नौकरी से ज़्यादा जल्दी सुवीरा को विवाह की थी। जिस लड़के को वह चाहती थी, वह बेकार था और न ही आजकल के हालात में उसे नौकरी मिलने की कोई संभावना थी। या तो कोई सरकार के विरूद्ध नारेबाजी कर ले या सरकारी नौकरी। उसे तो पढ़ाई के ज़माने से ही लीडरी का चस्का पड़ गया था। तभी से सुवीरा से उसकी जान-पहचान थी।

सुवीरा ने जल्दी-जल्दी एक आवेदन-पत्र तैयार किया, अपने कालेज के प्रिंसिपल से चरित्र का प्रमाण-पत्र लिया, और इससे पूर्व कि उसे डाक में डाले, कर्ण की प्रतीक्षा करने लगी (कर्ण उसके प्रेमी का नाम था)।

कर्ण को दिखा कर अर्ज़ी भेजेगी, उसके भीतर की जवान-जहान प्रेयसी भावुक हो रही थी। उसका मन कहता, कर्ण का हाथ लगते ही उसका चुना जाना निश्चित हो जायेगा। उसके होने वाले बच्चे का बाप। उसका सजीला साजन।

शाम को उनकी मुलाकात हुई। कर्ण ने अर्ज़ी पढ़ी और इस बात पर ज़िद करने लगा कि वह अपने नाम के साथ 'मुसाफ़िर' ज़रूर लिखे। सुवीरा ने तो जानबूझ कर यह नहीं किया था। हमेशा वह कहा करती थी — मुझे बैसाखियों पर चलना क़तई पसन्द नहीं। मैं अपने पाँव पर ख़ुद खड़ी होऊंगी। उसकी नज़र में यह 'भ्रष्टाचार' था, उसका किसी की उँगली पकड़ कर जीवन के उड़न खटोले में प्रवेश करना।

"तो फिर बीबी, तुम्हें नौकरी नहीं मिलेगी," कर्ण ने सिर हिलाते हुए कहा।

लेकिन क्यों? सिवाय पढ़ाने के अनुभव के बाकी सब शर्तें वह पूरी करती थी। अपने कालेज में प्रथम आई थी। इस से पहले वह हमेशा प्रथम डिवीज़न में पास होती रही थी। सुन्दर क़द-बुत! खेलों में दिलचस्पी रखती थी। टैनिस की खिलाड़ी थी। किसी को और क्या चाहिए? यदि नौकरी मिल गई तो मन लगाकर बच्चों को पढ़ायेगी। उसने जीवन में कोई लम्बा-चौड़ा लक्ष्य नहीं बाँधा था। उसे तो अपने शहर में नौकरी चाहिए थी ताकि वह विवाह करके अपना घर बसा सके और फिर उनके आँगन में एक बच्चा खेलने लगे। और बस। इतना ही उसका सपना था।

"तो फिर बीबी, तुम्हें नौकरी नहीं मिलेगी," सिर हिलाते हुए कर्ण ने फिर कहा। इस बार उसके मुँह से यह सुनकर सुवीरा झुंझला उठी। यूँ वह अपशगुन क्यों कर रहा था। कितने चाव के साथ उस दिन वह उसकी प्रतीक्षा करती रही थी। कर्ण का हाथ लगा और उसे नौकरी मिल जायेगी।

ज़िंदगी से कौन-सी बड़ी नेमत वह माँग रही थी। एम.एड. करके स्कूल के बच्चों की अध्यापिका ही तो बनने की उसकी आकांक्षा थी। कर्ण का यूँ सोचना बदतमीज़ी थी।

"तो फिर बीबी, तुम्हें नौकरी नहीं मिलेगी।" इस बार कर्ण ने अपनी सनक को, सिर हिलाते हुए प्रकट ही नहीं किया, सामने तिपाई पर रखी अर्ज़ी को उठा कर फाड़ भी दिया।

सुवीरा ने देखा और उसे चारों कपड़े आग लग गई। अंगारों की तरह दहकती हुई आंखों से उसने कर्ण को घूरा और उसके मुंह से निकला — बदतमीज़! बेहूदा आदमी! जैसे कोई दरिन्दा हो।

इसकी बजाय कि कर्ण शर्मिन्दा होता, उसने क्रोध में आकर सुवीरा के एक थप्पड़ दायें और एक थप्पड़ बायें लगाते हुए कहा, "दरिन्दा इसे कहते हैं।" और अगले ही क्षण वह अवाक् उसे देख रही सुवीरा को वहीं छोड़ कर चल दिया।

सुवीरा भी अपने दादा की पोती थी, अगली सुबह उसने फिर अर्ज़ी तैयार की और खुद जाकर स्कूल के दफ्तर में दे आई। और जैसे सुवीरा का विश्वास था, उसे इन्टरव्यू के लिए बुला लिया गया। इतने दिन न ही इसने कर्ण को मुँह लगाया, न उसने ही इससे मिलने की कोशिश की। दो, चार, दस दिन इंतज़ार करके सुवीरा जैसे अपनी ज़िंदगी के उस अध्याय को भूल-बिसर गई। सलेट पर कोई सुहाना चित्र बना था, उसे मिटा दिया गया। अब सलेट ख़ाली थी। लेकिन इससे इंकार नहीं कि कभी-कभी उसके दिल में एक टीस-सी उठती, एक गहरा साँस और उसकी पलकें भीग-भीग जातीं। पहले प्रेम की पीड़ा न भुलाई जा सकने वाली होती है।

इन्टरव्यू वाली सुबह स्कूल के प्रिंसिपल के दफ्तर के बाहर दूसरे प्रत्याशियों के साथ बातें करते हुए सुवीरा सोचती, शायद कर्ण ठीक था और वह ग़लत। जिस

तरह की बातें उसके साथ की लड़कियाँ कर रही थीं, उसका सफल होना असंभव-सा लग रहा था।

यूँ ही इतनी मेहनत की। यूँ ही इतनी उम्मीद बाँधी। यूँ ही इतने बरसों से पाल रखी मुहब्बत को इस बेरहमी से गँवा लिया।

वास्तव में स्कूल में तीन स्थान रिक्त थे। एक पर तो पिछले छह महीनों से कोई काम कर रही थी। इस इंटरव्यू द्वारा उसे पक्का करना था। वह बीबी तो सब से पहले इन्टरव्यू करवा कर अपनी कक्षा को पढ़ाने भी चली गई थी।

जो उम्मींदवार अब इन्टरव्यू के लिए अन्दर गई थी, वह शिक्षा मंत्री की भाँजी थी। मंत्री महोदय की बहन विधवा हो गई थी, उसकी मदद ज़रूरी थी। और फिर लड़की बी.एड. थी। स्कूल के बच्चों को पढ़ाने के लिए इससे ऊंची शिक्षा की ज़रूरत भी क्या थी? जितनी देर भीतर इन्टरव्यू के लिए वे लोग उसे बिठाये हुए थे, इसमें कोई सन्देह नहीं था कि उसका किसी न किसी तरह चुनाव होना ही था। बाकी एक स्थान रह गया था। इन्टरव्यू के लिए बुलाई गई तेरह लड़कियों में से कोई भी अपनी किस्मत आज़मा सकती थी। वह भी अगर किसी ने अन्दर ही अन्दर किसी एम.पी. या एम.एल.ए. से सिफारिश नहीं भिड़ा रखी थी।

आगे-पीछे बैठीं तेरह की तेरह लड़कियाँ एक दूसरे के मुँह की ओर देखने लगीं। हर किसी की नज़रें सुवीरा की ओर जातीं। इतने बड़े राजनेता की पोती थी। फिर सुवीरा ने उठकर छाती पर हाथ रखा। बोली — "मैं ईश्वर को हाज़िर-नाज़िर जानकर कहती हूँ कि मैंने किसी की सिफ़ारिश नहीं डलवाई। मेरी सिफ़ारिश मेरी डिग्री है।"

"मेरे नजर में नौकरी के लिए सिफ़ारिश करवाना पाप है।" दूसरी उम्मीदवार उठकर कहने लगी।

"मैं बेकार रह लूँगी, ज़रूरत पड़ी तो भूखी मर जाऊंगी, लेकिन 'सिफारिशी टट्टू, नहीं कहलवाऊँगी।" तीसरी ने उठकर घोषित किया।

"सिफ़ारिश करवा कर नौकरी पाना गू खाना है।" चौथी उम्मीदवार बोली।

"मेरा भाई सिफ़ारिश ढूँढ़ रहा था, मैंने कहा, अगर तुम सिफ़ारिश करवाओगे तो मैं इन्टरव्यू के लिए नहीं जाऊँगी। वह चुप करके घर बैठ गया।" पाँचवी ने बयान दिया।

"यदि अध्यापक वर्ग भी इस तरह करेगा, तो अगली पीढ़ी को ख़ाक शिक्षा मिलेगी। मैं सौगन्ध खा कर कहती हूँ — मेरे हाथ पाक हैं।" यह छठी उम्मीदवार थी।

इस तरह हर एक बाकी उम्मीदवार ने अपनी दयानतदारी पर मुहर लगाई।

इतने में सुवीरा को इन्टरव्यू के लिए अन्दर बुला लिया गया।

आत्मविश्वास और संजीदगी की प्रतीक, सुवीरा इन्टरव्यू बोर्ड के सामने कुर्सी पर बैठी थी।

"आप सुवीरा आनन्द हैं? लेकिन आपके पिता का नाम तो एम.एस. 'मुसाफ़िर' है। यह कैसे हुआ?" इन्टरव्यू बोर्ड के अध्यक्ष ने सुवीरा की अर्ज़ी देखते हुए कहा।

"जी हमारे खानदान में हम कुछ लोग — मेरे दादा के नाम से जाने जाते हैं।"

"क्या मतलब, आप ज्ञानी गुरमुख सिंह 'मुसाफ़िर' की पोती हैं?" इन्टरव्यू बोर्ड के एक सदस्य ने प्रश्न किया। वह अध्यक्ष के बायीं ओर बैठा हुआ था।

सुवीरा का मुँह लाल-सुर्ख़ हो गया। यही तो उसके भीतर की आदर्शवादी लड़की नहीं चाहती थी। लेकिन उसका भांडा शुरू में ही फूट गया।

"जी, जी!" थरथराती हुई आवाज़ सुवीरा के कंठ से निकली।

"मुसाफ़िर जी जैसा लाजवाब इंसान फिर कभी पैदा नहीं होगा।" दायीं ओर बैठा एक मैम्बर बोला। वह स्कूल का प्रिंसिपल प्रतीत होता था। ढेर-सारे काग़ज़ उसके सामने रखे थे।

"मैं तो उनकी शायरी का कायल हूँ।" यह इन्टरव्यू बोर्ड का अध्यक्ष था। "तब मैं छोटा-सा लड़का था, जब पहली बार मैंने उन्हें सुना था। अपनी मशहूर कविता 'बचपन' सुना रहे थे। जैसे श्रोताओं के समूह को बांध लिया हो। चिड़िया का पंख नहीं फड़फड़ा रहा था।"

"इधर उन्होंने कहानियाँ भी लिखनी शुरू कर दी थीं।" अब अध्यक्ष के बायीं ओर बैठा सदस्य बोल रहा था, "साहित्य अकादमी पुरस्कार तो उनके कहानी संग्रह पर मिला था। उनकी हर कहानी में उनके विशाल अनुभव की छाप दिखाई देती।"

"बेशक, वे कहते थे कि पहले मैं साहित्यकार हूं। फिर राजनीतिज्ञ हूं," स्कूल का प्रिंसिपल कहने लगा, "लेकिन जिस तरह का मार्गदर्शन उन्होंने पंजाब कांग्रेस के प्रधान के रूप में किया, या फिर संसद के सदस्य के तौर पर, वे अपनी मिसाल आप हैं। जो काई भी सवाली उनके यहाँ गया, कभी ख़ाली हाथ नहीं लौटा। सच तो यह है कियह नौकरी मुझे उन्होंने ही दिलाई थी। बस मुसाफ़िर ज़ी ने टेलीफ़ोन किया और मेरा काम हो गया। किसी की मजाल नहीं थी कि उनका कहा टाल सके।"

"राजनेता भी बहुत देखे और साहित्यकार भी, लेकिन उन जैसा इंसान नहीं कोई देखा।" अब इन्टरव्यू बोर्ड का अध्यक्ष फिर बोल रहा था, "जब मेहरचन्द खन्ना केन्द्र में मंत्री था तो उसने मुसाफ़िर जी को भगत सिंह मार्केट में एक फ्लैट अलॉट किया। अगले रोज़ कोई शरणार्थी मुसाफ़िर जी के पास सिफ़ारिश के लिए आया ताकि उसे भगत सिंह मार्केट में एक फ्लैट आवंटित कर दिया जाये। मुसाफिर जी ने उसकी ज़रूरत देखी और मेहरचन्द खन्ना को चिट्ठी लिखी — मेरे लिए रखा फ्लैट इनको अलॉट कर दिया जाये। इनकी ज़रूरत मुझ से ज़्यादा है। कोई पैदा हुआ है, इस तरह की कुर्बानी करने वाला?

"मन बहलाने के लिए इधर उन्होंने रमी खेलना शुरू कर दिया," स्कूल का

प्रिंसिपल फिर बोला, "ख़ास तौर पर जब से सरदारनी मुसाफ़िर ईश्वर को प्यारी हो गई थी। देर-रात गये तक ताश खेलते रहते।"

"और क्या मजाल जो संसद में अपनी हाज़िरी से कभी कोताही करें," बायें हाथ बैठा बोर्ड का मैम्बर बोला, "आपको मालूम है कि हिन्दी की राष्ट्रभाषा के तौर पर परवानगी मुसाफ़िर जी के वोट के सहारे हुई। इस संबंध में मत गिरने वाला था जब वे हाऊस में जा पहुँचे और उनकी वोट के सहारे बिल पास हो गया।

"सारी उम्र राजनीति में रहे, लेकिन राजनीतिक दाँव-पेंचों से दूर। पंजाब के मुख्यमंत्री बने, उनकी अपनी पार्टी के ही/यार लोगों ने पहला अवसर जो उन्हें मिला, उनकी टाँग खींच दी।"

"मुख्यमंत्री भी वे कौन-सा अपनी मर्ज़ी से बने थे। उन्हें मजबूर करके गद्दी पर बिठा दिया गया।"

"मुख्यमंत्री बन कर पहली बात उन्होंने चंडीगढ़ में पी.ई.एन. की अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस करवाई। यदि पंजाब की बागडोर कुछ देर और उनके हाथ में रहती तो वे इस राज्य का नक्शा ही बदल देते।

"मंख्यमंत्री के तौर पर, मेरी नज़र में उनका सब से महत्वपूर्ण कारनामा यह था कि संत फतह सिंह ने अग्निकुंड में भस्म होने के फ़ैसले को तज दिया था।"

"इसमें सरदार हुकम सिंह ने भी मदद की थी।"

"क्या जवाहर लाल और क्या इंदिरा गांधी, मुसाफिर जी के मशवरे के बग़ैर पंजाब के बारे में कोई फ़ैसला नहीं करते थे। एक बार की बात हैं ..."

अचानक बोर्ड के अध्यक्ष को ध्यान आया कि अभी उन्हें बारह और उम्मीदवारों का साक्षात्कार लेना है। उसने आगे-पीछे अपने साथियों की ओर देखा, और जैसे उन्होंने नज़रों-नज़रों में फ़ैसला कर लिया हो। उसने सुवीरा की ओर निहारते हुए कहा, "अच्छा बेटी, शुक्रिया।"

"तुम नौकरी पर कब हाज़िर हो सकोगी?" अब प्रिंसिपल उससे पूछ रहा था।

इन्टरव्यू के लिए आई सुवीरा बिट-बिट आँखें, देख रही थी। मुँह से कुछ नहीं बोल रही थी।

"हमारी ज़रूरत तुरन्त है। अगर तुम चाहो तो कल ही अपनी नौकरी पर हाज़िर हो सकती हो।" प्रिंसिपल फिर बोला।

जैसे स्तब्ध-सी रह गई हो, सुवीरा ने सिर हिलाया, और बिना एक शब्द मुँह से बोले उठकर बाहर आ गई।

बाहर आई तो बाकी लड़कियाँ घेर कर उसे पूछने लगीं कि अंदर बोर्ड ने उससे क्या सवाल पूछे थे।

सुवीरा की समझ में नहीं आ रहा था कि उन्हें क्या जवाब दे।

और अचानक उसके दोनों गाल कँपकँपाने लगे, जहाँ उसके महबूब ने कभी उसे थप्पड़ जड़े थे।

किस्सा एक जननी का

मुझे तेरहवाँ लगा था। वह उम्र जब पलकों में फुलवारियाँ खिलती हैं, हर चीज़ हसीन लगती है। जब आठों पहर होठों पर शहद जैसा रस घुलता रहता है। ऊँचा बोल मुँह से नहीं निकलता। जब अंग-अंग अलसाया-अलसाया, टूट-टूट-सा रहा प्रतीत होता है। आधी सोई, आधी जगी ज़िंदगी एक सपना सा लगने लगती है। जैसे कोई चमत्कारी जादुई-नगरी की दहलीज़ पर आ खड़ा हो। इधर खोज, उधर ढूँढ़। यह क्यों? वह काहे को? कोई जैसे तलाश का प्रतीक बन जाये।

मेरी आदत है, दोस्ती मैं हमेशा अपने से बड़े से रखता हूँ। चाहे उम्र में बड़ा हो, चाहे मुझ से ज़्यादा पढ़ा हो, मुझसे ज़्यादा योग्य हो। अपने से छोटे, जान-पहचान वालों से मैं प्यार करता हूँ, किसी से ज़्यादा, किसी से कम।

जागीर, इस तरह का मेरा एक मित्र था। मुझ से दो दर्जे ऊपर। मुझ से कहीं ज़्यादा स्वस्थ, उसके गाल जैसे माँस से भरे-भरे हों। हम से कहीं अधिक खाते-पीते माँ-बाप का बेटा। ठेकेदार बाप की औलाद। उनका घर जैसे महल हो, कमरों में से कमरे निकलते जाते, छतों पर छतें चढ़ी हुई। यह तो उनके गाँव का घर था। और उस वर्ष उसके ठेकेदार बाप ने शहर में एक और आलीशान मकान खड़ा कर लिया था। उसका बाप कहता, शहरवाला मकान तो उसने बेचने के लिए बनवाया था। बना-बनाया मकान बेचने में रकम चोखी हाथ लग जाती है। लेकिन फिलहाल जागीर के माँ-बाप शहर के मकान में खुद रहने के लिए चले गये। जागीर और उसकी विधवा ताई नहीं गये थे। जागीर गाँव के स्कूल में पढ़ता था, और उसकी ताई उसके लिए खाने-वाने का जुगाड़ करने के लिए पीछे रह गई थी।

जागीर के साथ मेरी बड़ी गहरी दोस्ती थी। सारा दिन मैं उनके घर घुसा रहता। उसकी ताई मेरी ख़ातिरें भी तो ढेर-सारी करती थी। क्या मजाल जो उनके यहाँ मैं दिन में एकाध बार न जाऊँ, वह जागीर को ख़ास तौर पर भेज कर मुझे बुलवा लेती। कभी भुने हुए चने कभी मूँगफली, कभी कुछ और कभी कुछ मुझे खिला-खिला कर निहाल होती। पिछले कुछ दिनों से, जागीर के घर मेरा आना-जाना कुछ ज्यादा हो गया था। अपनी हवेली के एक ओर उन्होंने दो कमरे ख़ाली करके स्कूल के हैडमास्टर को रहने के लिए दे दिए । उस ओर जिधर उनका शिवालय था।

जागीर के घर उन दिनों मेरी अधिक आवाजाही का कारण हैडमास्टर की शहरी बीवी थी। पाउडर, काजल, लिपस्टिक, ऊँची ऐड़ी वाली सैंडल, काला धूप वाला चश्मा,

बाहर निकलती तो गली-मुहल्ला खुशबू-खुशबू हो जाता। जवान नहीं, लेकिन जवानी के बाद की ख़तरनाक उम्र, ढलती जवानी का लसूड़े जैसा पका हुआ चेहरा-मुहरा। मैं जागीर के यहाँ जाता, लेकिन मास्टरनी से मेरी कभी मुलाकात नहीं हुई थी। उनके अलग अपने कमरे थे। हाँ, जागीर प्रायः उसकी कहानियाँ कहता रहता था : मास्टरनी ने आज साड़ी बाँधी है। आज मास्टरनी ने घाघरा पहना है। आज मास्टरनी ने बालों में फूल-चिड़ियाँ बनाई हैं। गली-मुहल्ले में आते-जाते कभी दिख जाती तो मेरा मुँह स्वाद-स्वाद हो जाता। फिर उसका नाम कितना सुन्दर था — गुजरी! गुजरी नाम मुझे हमेशा अच्छा लगता रहा है। गुजरी हमारी पड़ोसन हुआ करती थी, ग्वालिन। दूध-से छलक रही, भरी-भरी। फिर सुनने में आया, वह किसी के साथ निकल गई थी।

जब से आई, मास्टरनी गुजरी बृहस्पतिवार को नियम पूर्वक शहर जाती। कभी एक दिन, कभी दो दिन के बाद लौटती। कभी मास्टर जी उसके साथ जाते, कभी न जाते। यूँ सज-धज कर निकलती, जैसे मेले में जा रही हो। गहनों से लदी-फँदी।

जागीर हमेशा उसके बारे में कुतर-कुतर कर बातें करता था। एक दिन आप ही आप मुझ से कहने लगा — तुझे पता है यह गुजरी हर बृहस्पतिवार को शहर क्यों जाती है? शाह चन्न-चिराग़ के चादर चढ़ाती है और जुम्मे-रात का दिया जलाती है। अगले दिन सैदपुर के कुँड में नहाती है। इसके बच्चा जो नहीं हुआ, इसे बेटे की लालसा लगी हुई है। कहती है, मास्टर इसके मर्द से कुछ नहीं ... यह कहते हुए जागीर रुक गया। उसकी ओर देखते हुए मेरा चेहरा लाल-सुर्ख़ हो गया। मेरी आँखें जैसे उस से पूछ रही हों — तुझ से किस तरह वह ऐसी बातें कर लेती है?

जागीर मुझे बताता रहता : बेचारी ने बेटे की ख़ातिर कई पापड़ बेले हैं। स्यालकोट में पूरण की कुइयाँ पर नहाने गई थी। वहाँ जाकर उसे पता चला कि इस तरह का स्नान तो मंगलवार को होता है। पूरे पाँच दिन वहाँ परेशान होती रही। शुक्र है कि अपने संग मास्टरजी को लेकर गई थी। ढेरों रुपये बरबाद कर के जैसे गई थी, वैसी की वैसी ख़ाली लौट आई।

पिछले दिनों जब सुनारों का पाँच बरस का बेटा चल बसा था, इधर घर वाले बच्चे को लम्बू लगा कर लौटे, उधर यह श्मशान में जा पहुँची। जाड़े के दिन, घुप-अंधेरी अमावस्या की रात, इसे डर नहीं लगा। सामने नदी से पानी की बटलोही भर कर लाई और मढ़ी पर इसने स्नान किया। फिर बच्चे की खोपड़ी पर चावल उबाले और वहीं बैठकर खाये। अगले रोज़ शंभु के चौराहे पर सतनाजे का टोना किया। फिर भी वैसी की वैसी है। जैसे सूखी सुराही हो।

इस तरह की कहानियाँ सुनते हुए मुझे मास्टरनी पर बड़ा तरस आने लगा। तरस भी, और प्रशंसा भी उसकी दिलेरी पर। जागीर ने मुझे बताया था कि श्मशान में उसका घर वाला उसके साथ थोड़े ही गया था। उसके तो मारे डर के पसीने छूटने लगे थे।

गुजरी मास्टरनी के साथ मेरा पहला वास्ता तब पड़ा जब एक दिन मैं जागीर के घर गया और उसने जागीर के हाथों मेरे लिए पान बनाकर भेजा था। एक पान वह खुद खा रहा था, दूसरा मेरे लिए लाया था। मुझे जागीर का पान खाना अच्छा लगता था। इस तरह उसके होंठ लाल हो जाते थे। मुझे लाल होंठ अच्छे लगते थे।

पान खाने से मेरी माँ मुझे हमेशा मना किया करती थी। लेकिन उस दिन गुजरी मास्टरनी का भेजा पान मैंने झट मुँह में रख लिया और जैसे मैं भूल ही गया कि मेरी माँ ने मुझे पान खाने से मना किया हुआ था।

और फिर जैसे गुजरी मास्टरनी के पानों का चस्का ही लग गया। जब भी मैं जागीर के घर जाता, मन ही मन मुझे पान की ललक लगी रहती और गुजरी भी क्या मजाल जो कभी भूल जाये। जागीर प्रायः उसके कमरे में घुसा रहता। जब लौटता, खुद भी पान चबा रहा होता, और मेरे लिए भी गिलौरी बनवा कर ले आता।

एक दिन हमारे आँगन में, अड़ोस-पड़ोस की औरतें जादू-टोने की बातें ले बैठीं। चिक के पीछे दुबका मैं बड़ी दिलचस्पी से सुन रहा था। एक औरत बोली : फलाँ ने फलाँ को पान में डालकर कुछ दिया और वह मेमना बन कर उसके पीछे-पीछे फिरने लगा, हाथ-बँधा गुलाम। मैंने सुना, और मुझे गुजरी के पहले पान की याद आई। मुझे कितना अच्छा-अच्छा लगा था। एक झुरझुरी से आई, उंगलियों के पोर जैसे झनझना रहे हों। उस दिन के बाद से मैं जागीर के घर जैसे पान खाने के लिए ही जाता हूँ। जब तक पान न चबा लेता, मुझे एक तलब-सी लगी रहती। एक अजीब-सा संबंध मेरा गुजरी मास्टरनी के साथ कायम हो गया।

उन दिनों जागीर की ताई शहरवाले घर गई हुई थी। पीछे, जागीर अकेला था। उसे खाने-पिलाने की ज़िम्मेदारी गुजरी की थी! ईश्वर की करनी कुछ ऐसी हुई कि मास्टरजी को भी दो-चार दिन के लिए बाहर दौरे पर जाना पड़ गया।

उस दिन स्कूल से छुट्टी हुई और जागीर मुझे अपने घर ले गया। प्रायः हम यूँ किया करते थे। कभी जागीर हमारे यहां आ जाता, कभी मैं उसके यहाँ चला जाता। हमारी दोस्ती कुछ इस तरह की ही थी। हमारे घरवाले ज़्यादा पूछ-पड़ताल नहीं किया करते थे।

वास्तव में उस दिन जागीर मुझे गुजरी के कहने पर अपने घर ले आया था। कुछ देर के बाद कहने लगा, "भई, मास्टरनी तेरी आरती उतारना चाहती है।"

"वह काहे के लिए?" मैंने सुना और मेरे पसीने छूटने लगे।

"इसमें घबराने की क्या बात है? मंदिर में आरती नहीं उतारते क्या?"

"अगर यह बात है तो तेरी आरती क्यों नहीं उतारी जा सकती?"

"उसे आरती उतारनी है किसी कुँवारे की।" जागीर बोला।

"कुँवारा तो तू भी है।" मैं बोला।

"यह आरती अछूते कुँवारे की उतारी जाती है।"

"जैसे कुँवार-गंदल होती है। जैसे तू है।" यह कहते हुए जागीर ने मेरे दायें गाल की चुटकी ली। जब कभी उसे मुझ पर लाड़ आता, प्रायः वह यूँ किया करता था। कई बार तो मेरा गाल लाल-सुर्ख़ हो जाता। घर पर मेरी माँ मुझ से पूछती और मैं टाल जाता।

इस तरह की हरकत के लिए मैं बिल्कुल तैयार नहीं था। और मैं बस्ता उठाकर घर के लिए चल दिया। यह देख जागीर ने मुझे अपने बाहु-पाश में भर लिया और सामने पलंग पर बिठा कर मुझे समझाने लगा — "बेचारी मास्टरनी के बच्चा नहीं होता। उसे किसी ने कहा है कि मासूम, कुँवारे, अछूते लड़के की अगर वह आरती उतारे तो उसकी कोख हरी हो जायेगी।"

"बेशक, तुम्हारी आरती क्यों नहीं उतारी जा सकती? तुम कौन से बड़े गबरू हो।"

"मेरी आरती उतार चुकी है, लेकिन बात नहीं बनी। असल में ... और फिर जागीर अपना वाक्य पूरा नहीं कर पाया। उसके चेहरे पर एक अजीब तरह की शर्मिंदगी थी।

इतने में बैठक का परदा हटाते हुए गुजरी मास्टरनी अन्दर आ गई। यूँ लगता, जैसे उसने बाहर खड़े होकर हमारी सारी बात सुन ली थीं। एक खुशबू की जैसे गठरी हो। इतनी हसीन औरत, आज पहली बार मैंने उसे नज़दीक से देखा था। एक नज़र उसके आकांक्षाओं से भरपूर जुस्तजू भरे गोरे-चिट्टे चेहरे की ओर देख कर मेरे तो हाथ-पाँव फूल गये। फूल-पत्तियों जैसे उसके होंठ काँप रहे थे। अभी-अभी धुले उसके रेशम के लच्छे-बाल, उसके आगे-पीछे नाच रहे थे। एक नज़र मैंने उसकी ओर देखा और उसका दुपट्टा सिर से खिसक कर उसके कंधों पर जा गिरा। नहाने से पहले जैसे उसने दंदासा मला हो। उसके होंठों पर सुर्ख़-जामुनी रंग की परत झिलमिला रही थी। एक जादू था उसकी आँखों में, जैसे कोई रस उमड़-उमड़ कर किसी को विभोर कर रहा हो। एक नज़र, और मेरे मुँह में जैसे ज़बान न हो, मैं बिट-बिट उसकी ओर देखे जा रहा था। एक मिनट, दो मिनट, चार मिनट, पांच मिनट। फिर गुजरी उठी और मुझे बाँह से पकड़ कर भीतर ले गई। एक ओर कोने में दो कमरे थे जहाँ मास्टरजी रहते थे। अपने कमरे में पहुँच कर उसने मुझे एक मोढ़े पर बिठा दिया। मोढ़ा पहले से ही वहाँ रखा हुआ था। अब वह नीचे फ़र्श पर बैठ कर मेरे बूटों के फीते खोलने लगी।

"यह काहे को?" हैरान हो कर मैंने पूछा।

सामने से जवाब न पाकर मैंने कहा, "आप क्यों? मैं खुद ही खोल देता हूँ।" पिछले कुछ क्षणों में यह मेरे पहले बोल थे। और उसने अपने हाथ से मेरे गाल को लाड़ में पुचकारते हुए कहा, "बल्ली! जो काम मेरा है, मैं ही करूँगी।"

एक बूट, दूसरा बूट, एक मोज़ा, दूसरा मोज़ा। मेरे बूट और मोज़े उतार कर उसने पलंग के नीचे रख दिए। पलंग पर कोरी दसूती की दो-तही बिछी हुई हुई थी। एक ओर दो तकिए रखे थे, जिन पर करोशिया से कढ़ी रेशमी फूल-पत्तियों के ग़िलाफ चढ़े थे।

और फिर गुजरी एक परात और पानी का लोटा उठा कर ले आई। यूँ लगता था जैसे इस सब की पहले से ही तैयारी कर रखी हो। अब परात में मेरे पाँव टिका कर वह उन्हें धो रही थी। पहले दायाँ पाँव, फिर बायाँ पाँव। एक बार, दो बार, तीन बार मल-मल कर।

इतने में जागीर ने बाहर से आंगन में से आवाज़ दी, "मैं तुम्हारे घर चाची से कहने जा रहा हूं, रात का खाना तुम हमारे यहां ही खाओगे। कमरे के बाहर मैं कुंडी लगाये जा रहा हूँ।" और हमारे जवाब की प्रतीक्षा किए बिना जागीर दरवाज़े को बाहर से कुंडी लगाकर चलता बना।

यह सुनकर गुजरी मेरी ओर देखकर मुस्कराई, फिर गुजरी ने मेरे हाथ धुलाये, मुँह धुलाया। तौलिया से मेरा मुँह पोंछती रही, फिर हाथ, फिर पाँव।

अब उसने मुझे मोढ़े से उठा कर पलँग पर बिठा दिया।

फिर साथ के कमरे में गई और गेंदे के फूलों का पिरोया हुआ हार मेरे गले में ला डाला। हार मेरे गले में डालकर उसने मेरे दायें गाल की चुटकी ली और फिर उन्हीं क़दमों वह साथ के कमरें में चली गई। मैने देखा, कॉर्निस पर रखे शीशे के सामने खड़ी अब वह सज रही थी। पहले उसने बाल बनाये; फूल-चिड़ियाँ; जिन्हें देखकर मेरा अंग-अंग पुलकित होने लगता। इतनी भारी चोटी, लटकी हुई, उसकी कमर से नीचे कहीं-की-कहीं पहुँच रही थी। अब वह अपना नख-शिख सँवार रही थी। काजल, बिंदिया, पाउडर, लिपस्टिक। अब वह अपने बालों में मोतिया की वेणी सजा रही थी। अब वह चमेली के दो गजरे अपनी कलाइयों में चढ़ा रही थी। फिर उसने आगे बढ़कर अपने कमरे का दरवाजा भिड़ा दिया, जैसे उसे अचानक अहसास हुआ हो कि पलंग पर बैठा मैं उसे देख रहा था।

कुछ देर के बाद दरवाज़ा खुला। उसने लाल रेशमी साड़ी पहनी हुई थी। लेकिन मेरी ओर देखे बिना वह सामने दायीं ओर के दरवाज़े की ओर बढ़ी। यह कमरा उनका शिवालय था। इसमें भगवान की मूर्तियाँ सजाई हुई थीं। गुजरी अपनी चप्पल शिवालय के बाहर उतार कर अन्दर गई और अगरबत्तियाँ और माचिस ले कर फिर अपने कमरे में लौट आई। उसकी चप्पल वैसी की वैसी शिवालय के बाहर पड़ी हुई थी। गुजरी शायद चप्पल पहनना भूल गई थी या फिर जल्दी में थी।

अब उसने अगरबत्तियाँ जलाईं। एक मदमाती-सी सुगंध फैल गई। अगरबत्तियों का धुआँ गोल-गोल चक्कर बनाता मेरी ओर बढ़ रहा था। अब नाक में नथ, कानों में झुमके, माथे पर टीका, पांव में झाँझर, दायें कंधे पर आरती की

थाली उठाये, गुजरी ठुमुक-ठुमुक चलती हुई मेरी ओर बढ़ी। मुँह में कुछ मंत्र गुनगुना रही थी और फूलों आदि सामग्री से भरे थाल को मेरे सिर के गिर्द घुमाने लगी। फिर उसने मेरे माथे पर तिलक लगाया।

मुझे बड़ा अच्छा लग रहा था। ज़रा नहीं घबराहट हो रही थी। मैं बार-बार गुजरी मास्टरनी के मुँह की ओर देख रहा था। हे ईश्वर इसके बच्चा हो जाये! जैसे मेरा राम-रोम पुकार रहा हो। सात बार आरती के थाल को मेरे सिर के गिर्द घुमा कर वह साथ के कमरे में गई और अब एक और थाल उठा कर ले आई। इस थाल में भांति-भांति की मिठाइयां थीं। मेरे पास पलंग पर बैठकर, अपने हाथों से मुझे मिठाई खिलाने लगी, कभी बरफी, कभी लड्डू, कभी कुछ, कभी कुछ। यूँ मिठाई खाते हुए मेरी झिझक जैसे जाती रही हो, और मैंने गुजरी से पूछा, "इस काम के लिए आपने जागीर की आरती क्यों नहीं उतारी?"

"उतारी थी, उतारी थी।" गुजरी एकदम भावुक हो गई, "उतारी थी। सब कुछ कर-कराकर पता लगा कि वह तो पहले ही खाक चाट चुका था। मिरासियों की लड़की जन्नत के साथ। कहने लगा, उसने ज़बरदस्ती मुझे मक्का के खेत में गिरा लिया। बहानेबाज़।"

मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि सारा खेल क्या था। मिरासियों की लड़की जन्नत कौन थी? "खाक चाटना" क्या होता है? मैं घर जाने के लिए पलंग से उठ खड़ा हुआ। मेरे चेहरे पर मेरे भीतर की घबराहट चित्रित थी।

"लो, तुम कहाँ चल दिए?" गुजरी ने मुझे बाँह पकड़ कर अपनी ओर खींचा। अब वह भी पलंग से उठ खड़ी हुई थी।

"आरती तो हो गई।" मैं झुक कर पलंग के नीचे से अपने मोज़े और बूट उठाने लगा।

"नहीं बल्ली, यह आरती यूं थोड़े ही खत्म होती है।" गुजरी मुझे लाड़ से पुचकार कर अपनी छातियों की ओर खींच रही थी कि मैं झुँझला कर पीछे हट गया।

"मुझे घर जाना है। साँझ होने लगी है।" मेरा चेहरा लाल-सुर्ख़ हो गया था। मैं पसीना-पसीना हो रहा था।

"जाओगे कैसे? जागीर तो बाहर से कुण्डी लगा गया है।" शरारत भरी हँसी हँसते हुए उसने कहा।

"क्या मतलब?" मैं हैरान होकर बोला।

"मतलब साफ़ है। जागीर ने तुम्हें कुछ नहीं बताया?"

"नहीं तो!" मैं जल्दी-जल्दी बोला।

"तो फिर मैं बताती हूँ।" यह कहते हुए गुजरी मिठाई का थाल संभाल कर साथ के कमरे में गई। इतने में मैंने अपने बूट और मोज़े उठाये और बग़ल में शिवालय को लाँघता हुआ बाहर गली में जा पहुँचा। बस मूर्तियों के सामने से गुज़रते

हुए मैंने जूतों को पीठ के पीछे छिपा लिया था। बड़ी बेअदबी हुई थी शिवालय में से मैं जूते उठाये फलांग आया था।

घर पहुँचने से पहले मैं गाँव के मंदिर की दहलीज़ पर माथा रगड़-रगड़ कर क्षमा-याचना करता रहा।

कई बरस बाद, मैंने इस क़िस्से का ज़िक्र अपने होने वाले बच्चों की माँ से किया। मेरे उसी गाल की चुटकी लेते हुए, जिसे गुजरी ने कभी नोचा था, उसके भीतर की जननी लाड़ में कहने लगी — "बल्ली, कौन-सा कहर टूट पड़ता जो तुम्हें किसी का काम कर दिया होता।"

और फिर फ़र्रुख़ ने टेलीफोन बन्द कर दिया

इसमें चाहे उसे रत्ती भर भी विश्वास नहीं था, फिर भी जो कोई हाथ देखने वाला उसे मिलता, या कोई नजूमी उसे नज़र आ जाता, वह उसे लेकर बैठ जाती। एक चस्का सा उसे पड़ गया था अपने भविष्य के बारे में जानने का।

एक तरह से कामिनी थी भी सच्ची। शादी-शुदा, दो बच्चों की माँ; एक बेटी, एक बेटा, और वह एक अंधे इश्क में फँस गई। उसे लगता जैसे सामने क्षितिज पर एक तूफान उमड़ रहा हो। कुहराम तो मचेगा ही जब इस उम्र में आ कर कोई यूँ गुल खिलाये। और फिर एक मुसलमान के साथ। कुहराम तो मचेगा। कोई बात भी हुई। आजकल हालात भी कैसे चल रहे थे। हिन्दू, मुसलमान एक दूसरे को एक आँख देख नहीं सकते थे। मुसलमान अपने पाकिस्तान के लिए बेकरार हो रहे थे, शोर मचा रहे थे। तौबा, तौबा, कैसा ज़हर उगला जा रहा था। मुहम्मद अली जिन्ना को उन्होंने अपना मसीहा मान लिया था। और इधर हिन्दुस्तानी थे, यदि आज पाकिस्तान के लिए राज़ी हो जायें तो कल सिक्खों को क्या जवाब देंगे। उधर मद्रासी तो पहले ही बज़िद थे कि हमारे प्रान्त का नाम तमिलनाडु है। कोई बात भी हुई।

लेकिन दिल दरिया, कोई इस तरह के मामले में शातिर राजनीतिज्ञों के बयानों पर ध्यान थोड़े ही देता है।

कामिनी का हाथ जो कोई भी देखता, जो कोई भी उसकी जन्म पत्री बाँचता, यही कहता—तुम्हारे जीवन में सुख-शान्ति लिखी है, लेकिन एक झटका लगेगा, कुछ दिन संकट के आयेंगे। यह होनी टलने वाली नहीं।

कामिनी सोचती झटका तो लगेगा ही। लेकिन कोई इतना बड़ा कहर भी ढहने वाला नहीं था। उसके पति अकलीश ने कदम-कदम पर उसके साथ बेवफाई की थी। जीवन के हर मोड़ पर उसका हक़ मारा था। कैसे-कैसे क्लेश इसने नहीं सहे थे। कैसी-कैसी माफ़ियाँ वह माँगा करता था। कैसे-कैसे हाथ जोड़ा करता था। लेकिन फिर उसकी किसी करतूत का भाँडा सरे-आम फूट जाता। एक बुर्के वाली मरीज़ ने अपनी चप्पल से उसकी मरम्मत की थी। डाक्टर हो कर इसने उसे छेड़ा था। शहर के सब अख़बारों ने इस हरकत की लानत-मलामत की थी! गली-गली चर्चा हुई थी। इस तरह के डाक्टर के क्लिनिक में कौन कदम रखेगा? एक औरत ने तो कचहरी में मुकदमा कर रखा था। उससे विवाह का वायदा करके यह उसे लूटता

रहा। बेचारी विधवा औरत, हर शाम उसके घर जाकर शराब पीता और गुलछर्रे उड़ाता। इसने उसे बता रखा था कि यह कुँवारा है।

कामिनी सोचती—मुझे तो बस मन पक्का करना है। एक दिन उसे अपने पास बिठा कर कह दूंगी—मियाँ, जितनी निभ सकती थी, उतनी मैंने निभा ली। यह गाड़ी और चलने की नहीं। मैंने अपना इंतज़ाम कर लिया है। तुम अपना घर संभालो, हम तो नया घर बसायेंगे। अब यह जोखिम मुझ से और नहीं उठेगा। जो कुछ तुम सारी उम्र करते रहे हो, वह कुछ करने का किसी और को भी तो हक होना चाहिए। हम पढ़े-लिखे, समझदार मियाँ-बीवी की तरह कचहरी में पेश होकर तलाक ले लेंगे। जितनी निभ गई उतनी ही काफी है।

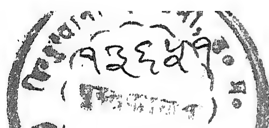
बेशक जो कुछ कामिनी सोचती थी, ठीक था। लेकिन इस तरह के फैसले इतनी आसानी से तय नहीं हो पाते। जो बात ज्योतिषी कहते थे, और जो डर उसके महबूब फर्रुख़ को परेशान कर रहा था, उसमें भी शायद कोई सच्चाई थी कभी-कभी कामिनी का यह सोचकर दिल बैठने लगता। उसे चक्कर आने लगते।

एक कुहराम मचेगा। मर्दज़ात, वह कभी अपना दोष नहीं मानेगा। इसे बदनाम करेगा। बेवफ़ाई का दोष लगाकर इसके सगे संबंधियों, दोस्त-अहवाबों, अड़ोस-पड़ोस में नश्र करेगा। मर्द के गुनाह झट माफ़ हो जाते हैं, लेकिन औरत को कभी बख्शा नहीं जाता। उसके बच्चे उससे गैर हो जायेंगे। इस तरह की चालू औरत को, अपनी सन्तान वह कभी हवाले नहीं करेगा। माँ को परेशान करने के लिए, बच्चों को पब्लिक स्कूल से निकाल कर किसी घटिया स्कूल में डाल देगा। यूँ पहले कई बार हुआ था। फिर इसके सारे गहनें छीन लेगा। हाथ-कान-गले के सब ज़ेवर नोचकर इसे लात मारेगा। जो मर्द अपने बच्चों की माँ के साथ बेवफ़ाई कर सकता है, वह कुछ भी करे, कम है।

उधर फर्रुख़ जल्दी मचाये हुए था। वह भी सच्चा था। जवान-जहान, पक्की नौकरी वाला कुँवारा लड़का। लड़कियों वाले इसके माँ-बाप को साँस नहीं लेने दे रहे थे। फिर अगर मुसलमानों का पाकिस्तान बनता है तो फिर शायद वह इधर रह भी सकेगा या नहीं? उसे पाकिस्तान जाना होगा।

यह सुनती और कामिनी कहती—मियाँ, मैं तेरे साथ चलूँगी। मैं तेरे साथ निकाह करूँगी। ब्याह ज़िंदगी-मौत का संयोग होता है। बेशक मैने एक मुसलमान को दिल दिया है, लेकिन जन्मी तो मैं हिन्दू-घर में हूँ। हिन्दू भी उच्च-कालीन, गोस्वामी ब्राह्मण। हिन्दू औरत पतिव्रता होती है।

उधर जो ज्योतिषी भी इसे मिलता, जो कोई भी इसका हाथ देखता, यही कहता — तुम्हारे जीवन में सुख-शान्ति लिखी है, लेकिन एक झटका लगेगा, कुछ दिन संकट के आयेंगे। यह होनी टलनेवाली नहीं। हर सुख से पहले दुख आता है, कामिनी अपने मन को समझाती। वह सोचती, फर्रुख़ उसका कितना प्यारा शौहर बनेगा।



शराफ़त का पुतला। ऊँचा-लम्बा, वे तो जैसे बने ही एक दूसरे के लिए थे। फर्रुख़ तो उस पर जान देता था। उसके मुँह में जैसे ज़बान न हो। एक नज़र और उनकी आशनाई हो गई थी। एक पहचान। पाक मुहब्बत। न कभी खुद शर्मिंदा हुआ था, न इसे कभी उसने शार्मिंदा किया था।जब बोलता यही कहता — हम बेशक प्रेम-विवाह करेंगे, मिश्रित धर्मों का विवाह, दो अलग तहज़ीबों का विवाह। लेकिन हम अपना सिर नीचा नहीं होने देंगे। दुनिया की आँखों में आँखें डालकर देख सकेंगे। अल्लाह की निगाह में गुनहगार नहीं होंगे।

और कामिनी उस दिन की प्रतीक्षा करती रहती, जब वह सब कुछ कर सकेगी जो वह करना चाहती थी। वो क्षण जब यह उस सड़ रहे फोड़े को नोच कर परे फेंक देगी। इस घिसी-पिटी, जर्जर गाँठ को झटक कर खोल देगी।

यदि कामिनी यह कुछ नहीं कर पा रही थी तो इसका बड़ा कारण वातावरण में व्याप्त सांप्रदायिक बदमज़गी थी। गली-गली "ज़िंदाबाद", "मुर्दाबाद" होती रहती। शहर-शहर रैलियाँ हुआ करतीं। समाचार पत्र ज़हर से भरे होते। फिर इधर-उधर छुरेबाज़ी शुरू हो गई। हर शहर में आतंक छाने लगा। कहीं नोआखली में हिन्दुओं का वध किया गया था। उनके घरों को जलाया गया था। इसका बदला बिहार से गये मुसलमानों से लिया गया। उनके गाँव के गाँव जलाकर भस्म कर दिए। यह ख़बर जब उधर पंजाब में पहुँची तो पोठोहार जैसे आग की भट्टी बन कर रह गया। हिन्दू-सिक्खों के लहू की होली खेली गई। चुन-चुन कर उनके घरों को लूटा गया, जलाया गया। हिन्दू-सिक्ख औरतों की बेहुर्मती की गई।

दिल्ली शहर में बेशक अमन-चैन था, लेकिन भीतर ही भीतर आग सुलग रही थी। नेज़े और बर्छियां, कुल्हाड़ों और कृपाणों को सान पर चढ़ाया जा रहा था। हिन्दू-मुसलमानों में दूरी बढ़ती जा रही थी। खाई दिन-प्रतिदिन गहरी होती जा रही थी।

फिर पाकिस्तान के बनाये जाने का एलान कर दिया गया। इधर यह एलान हुआ, उधर शहर-शहर मार-काट शुरू हो गई। सरकारी मुलाज़िम फर्रुख़ को फैसला करना था कि वह हिन्दुस्तान में नौकरी करेगा या पाकिस्तान में। जिस तरह उन दिनों माहौल था, उसमें तो कुछ भी हो सकता था। आखिर सोच-सोचकर कामिनी के मशवरे से उसने तीन महीनों के लिए अस्थायी तौर पर पाकिस्तान में नौकरी के लिए कागज़ भर दिए।

इधर फर्रुख़ दिल्ली से निकला, क्या लाहौर और क्या दिल्ली सांप्रदायिक दंगों की चपेट मे आ गये। हिन्दू, मुसलमान एक दूसरे के लहू के प्यासे हो गये। लाशों से भरी हुई गाड़ियां इधर से उधर जातीं, उधर से इधर आतीं। न कोई डाक, न कोई तार। न कोई पैग़ाम, न कोई सन्देश। चार कदमों की दूरी पर लाहौर ऐसा लगता, जैसे किसी और नक्षत्र पर बसा हो। तीन महीनों के लिए जो हिन्दू-सिख

इधर आये थे, उधर नहीं लौट सके। तीन महीनों के लिए जो मुसलमान इधर से उधर गये थे, वापस आने की सोच नहीं सके।

कामिनी और फर्रुख़ के सारे कौल-इकरार इस वहशीपन में भटकते रहते। इस बार दिल्ली में जब यह क़हर टूटा, कामिनी के घर वाले अकलीश का क्लिनिक भी इस अलाव की लपेट में आ गया। फसादियों ने उसके क्लिनिक को घेर कर उसे आग लगा दी। अकलीश की समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि अगले क्षण उसका क्या हश्र होने जा रहा था। फसादियों ने चारों ओर से घेरा डाल रखा था, उनके विषैले खौफनाक नारे, उनकी आँखों में वहशत, उनके हाथों में लहू से लथ-पथ छुरे, नेज़े, बरछे, भाले और कुल्हाड़ियाँ। उनके उछल-उछल पड़ते बाज़ू, अकड़-अकड़ रहे पुट्ठे। फिर किस तरह उन्होंने साथ की दुकानों के हिन्दू मालिकों का वध किया था। कोई उनकी फरियाद नहीं सुनी थी। उनकी किसी मिन्नत पर कान नहीं धरा था। यह तो उसके पड़ोस के बोहरों ने अपनी दीवार के एक हिस्से को ढहाकर उसके जल रहे क्लिनिक में से उसे निकाल लिया था।

इस तरह का सब कुछ अगर किसी के ऊपर बीते, तो फिर उसमें क्या रह जाता है? अकलीश मानसिक तौर पर पूरी तरह से क्षत-विक्षत हो गया था। होश-हवास बिल्कुल खो बैठा। बैठे-बैठे, "आ गये", "आ गये", कहता और भागने लगता। दर-दीवारों के साथ टकराता रहता। सिवाय कामिनी के किसी को न पहचानता। बच्चों तक को काटने को दौड़ता। बार-बार कहता — इनके हाथ लहू से लथ-पथ हैं, ये लहू की होली खेलते रहे हैं। कभी कपड़ों को फाड़ने लगता। बाल नोचता। अपने अंगों को दाँतों से काट-काट कर लहू-लुहान कर लेता। आख़िर उसे हस्पताल में दाख़िल करवाना पड़ा।

अस्पताल में कामिनी ने न दिन देखा न रात,: आठों पहर उसकी तीमारदारी में कोई कसर नहीं छोड़ी। न खाने की सुध, न पीने का होश। उसे अपने बच्चे भूल गये। उसका घर वीरान-सुनसान सा रहने लगा।

दिन, सप्ताह, महीने, कामिनी ने अपनी मेहनत के साथ, अपनी लगन के साथ, अपने बच्चों के बाप को फिर भला-चँगा कर लिया। अकलीश को अस्पताल से छुट्टी मिल गई।

इस अर्से में बेशक कभी-कभी फर्रुख़ की उसे याद आती, लेकिन कामिनी जैसे बुहार कर उसे परे कर देती। अकलीश की सेवा में : उसे स्पँज-बाथ दे रही, उसके कपड़े बदल रही, उसे चम्मच-चम्मच दलिया खिला रही, घूँट-घूँट सूप पिला रही, छील-छीलकर फल पेश कर रही, उसका पसीना पोंछ रही, ए.सी. तेज़ कर रही, ए. सी. धीमा कर रही, ए.सी. बन्द कर रही, फिर चला रही, हर आधे घंटे में दवाई दे रही, नर्स को बुला रही, डाक्टर को फ़ोन कर रही, कभी एक बार भी तो कामिनी

ने नहीं सोचा कि वह क्यों उस मर्द के लिए बेहाल हो रही थी जिसे वह कल छोड़ कर चली जायेगी।

अस्पताल से तो उसकी छुट्टी हो गई, लेकिन घर लौटकर कई सप्ताह अकलीश की तीमारदारी करनी थी। जब वह स्वस्थ होकर बाहर आने-जाने लगा, उसने अपना काम फिर शुरू कर दिया, क्या मजाल जो कभी शाम को देर से घर लौटा हो। क्या मजाल जो उसने किसी पराई औरत की तरफ आँख उठाकर देखा हो। अपनी पत्नी का वफादार पति। अपने बच्चों को प्यार करने वाला पिता। घर की छोटी-छोटी बातों का वह ध्यान रखता। खुश रहता, खुशियां बिखेरता रहता।

जैसे उसका कायाकल्प हो गया हो, अकलीश अब कामिनी के लिए अपनी मुहब्बत, अपनी वफा, अपनी लगन से सब पुरानी कसर दूर कर रहा था।

फिर यह समय भी आया जब कामिनी को फ़रूख की याद ताज़ा करने के लिए कोशिश करनी पड़ती। अपना घर, अपने बच्चे, अपने बच्चों को प्यार करने वाला पिता, उसका जीवन जैसे एक शान्त, शीतल झील हो, जिसकी लहरों में जीवन की आकर्षक घटनायें आ-आकर कलोल करती रहतीं।

कामिनी खुश थी, बहुत खुश। उसे किसी से कोई गिला नहीं था। कोई और चाह नहीं थी। उसके दिन लज़्ज़तों से भरे, एक अकथनीय माधुर्य में गुज़र रहे थे।

फिर एक दिन सुबह-सुबह उनका टेलीफोन बजा। कामिनी की बेटी ने सुना। लाइन पर फरुख़ था। "अम्मी तो पूजा के कमरे में हैं," बच्ची ने उसे बताया।

कुछ देर के बाद फरुख़ का टेलीफोन फिर आया। जितनी देर वह टेलीफोन पर उससे बातें करता रहा, कामिनी ने एक से अधिक बार उसे जतलाया -- अकलीश अब बिल्कुल बदल गया है। और का और हो गया है। मेरा बहुत ख्याल रखता है। फिर उसने बताया, "आज हमारे यहां हवन है। ढेर-सारे लोग आयेंगे। ग़रीब-गुरबा में हम कपड़े बाँटेंगे। सारा दिन हमारे यहां लंगर लगेगा। अकलीश, इसी दिन पिछले साल लम्बी बीमारी काट कर घर लौटा था।"

कामिनी कितनी देर इस तरह की बातें करती रही। अपने शौहर का बार-बार ज़िक्र ले बैठती। और फिर फरुख़ ने टेलीफोन बन्द कर दिया।

कामिनी की आजकल भी कई बार नजूमियों के साथ मुलाकात हो जाती है। कई बार हाथ देखने वाले उसे मिल जाते हैं। वह मन ही मन कहती है — यूँ ही लोग इन्हें बदनाम करते हैं। तूफान तो आया था। कुहराम तो मचा था।

कोई बहाना चाहिए

जैसे जाड़े की बरसात हो। रिस रही, चू रही। भीगी-भीगी, गीली-गीली। यह नहीं कि एक बार खुल कर बरस जाये। कीचड़-कीचड़, फिसलन-फिसलन। एक दिन, दो दिन, चार दिन; हफ्ता-हफ्ता, कुछ इस तरह उसकेआँसू बह रहे थे। आठों पहर उसकी आँखें बहती रहतीं। पलकेंभीगी-भीगी, दुखी-दुखी। कोई बहाना चाहिए और वह फूट पड़े।

आज तीसरा दिन था। अच्छा ही हुआ कि उसकी पत्नी मायके गई हुई थी।

सुबह चाय का पहला प्याला, उसकी बीवी उसे लाकर दिया करती थी। चाय का प्याला और दो बिस्कुट। क्रीम-क्रेकर। एकबिस्कुट वह चाय केसाथ लेता, दूसरा सूज़ी के लिये होता था। इधर उसकी चाय आती, उधर सूज़ी आ कर उसके पलंग के पास खड़ी हो जाती, पूँछ हिलाते हुए।

"वह तो टस-से-मस नहीं हो रही," नौकर कह रहा था, "दायीं करवट लेटी अपने बच्चों को मज़े से दूध पिला रही है। पलकें मुँदी हुई। एकबार आवाज़ सुन कर उसने आँखें खोलीं, फिर बंद कर लीं।"

इतने में उसने चाय का प्याला खत्म कर लिया था। उसने खाली प्याले के साथ बचा हुआ बिस्कुट भी नौकर को थमाया और वह चल दिया।

उधर नौकर ने पीठ की, इधर उसकी आँखें फिर सजल हो उठीं। उसकी नाक की चोंच लाल-सुर्ख़ हो गई। उसके नथुनों में जैसे कांटे चुभ रहे हों।

अकेले अपने कमरे में बैठा वह सोच रहा था। अभी कल की बात थी जब सूज़ी उनके यहाँ आई थी। दूध-सी सफ़ेद, जैसे रूई कर फाहा हो।

जिस दिन इसने आँखें खोलीं उसी दिन वे इसे ले आये थे। पॉमरेनियन नस्ल की, खिलौने का खिलौना।

उसकी पत्नी कहती, हमें कुतिया नहीं पालनी है। कुतिया का बड़ा झंझट होता है। हर छह महीने, साल के बाद वह पिल्लों का झोल ला जनती है। कौन उन्हें संभालता फिरे। चाहे लेने वाले आकर ले जाते हैं, लेकिन कुछ सप्ताह तो देख-रेख करनी ही पड़ती है।

वह नहीं माना। शायद इसलिए कि उनके यहाँ बेटी नहीं थी। एक बेटे के बाद उन्होने सोचा, बेटी होगी, लेकिन फिर बेटा आ गया। और उन्होनें सब्र-शुक्र कर लिया।

जिस दिन सूज़ी आई, उसकी पत्नी खफ़ा होने लगी — "आप ही इसका गंद संभालना। मुझ से नहीं इनके बच्चों-कच्चों की ख़ातिर हो सकेगी।" उसकी पत्नी उठते-बैठते कहती रहती। लेकिन चार दिन, और जैसे वह यह सब भूल गई। सूज़ी की इस तरह ख़ातिर होने लगी, जैसे इसमें उसकी जान हो। हर समय "सूज़ी" "सूज़ी" की पुकार मची रहती। कभी उसे खिलाया जा रहा है, कभी उससे खेल-कूद हो रही है। कभी कुछ, कभी कुछ। सूज़ी भी परछाईं की तरह मालकिन के पीछे, अन्दर-बाहर चक्कर काटती रहती।

और फैसला हुआ कि वह सूज़ी को माँ नहीं बनने देंगे।

"इतनी छोटी है।"

"इतनी प्यारी है।"

"माँ बनकर बेहूदा लगने लगेगी।"

"इसका पेट तो ज़मीन के साथ लग जायेगा।"

और वे अपने फैसले पर दृढ़ थे। जब सूज़ी के मस्ती के दिन आते, उसे पिछले आँगन में बंद कर दिया जाता। या फिर आँगन में ज़ंजीर के साथ बाँध देते। कोठी का गेट आठों पहर बंद रहता। हर किसी को हिदायत थी कि गेट हमेशा बंद रखा जाये। कोई कुत्ता अंदर नहीं घुस सकता था।

बड़ा कुहराम मचता। उन दिनों हर नस्ल के कुत्ते, "एलसेशियन" से लेकर "पउल" तक उनके घर के आगे आकर छावनी डाल लेते। लाख वे सूज़ी को छिपा-छिपा रखते, पता नहीं कैसे कालोनी में यह खबर पहुंच जाती। सूज़ी पिछले आँगन में बंद होती, उसके चाहने वाले बाहर सड़क पर डेरा जमाये बैठे रहते।

नौकर कुत्तों को दुतकारते रहते। डाँटते रहते, मार-मार कर भगाते रहते। बड़ी मुश्किल से हफ्ता-दस दिन गुज़रते। कई बार इस से अधिक दिनों के लिए भी कर्फ्यू जारी रहता।

इस तरह की कई बारियाँ वे बिता चुके थे। लेकिन इस बार, बहार के दिनों में, सामने की गली में शेखों का कुत्ता मुशकीं बुरी तरह से पीछे पड़ा हुआ था.

सूज़ी की जात का "पॉमरेनियन" था। सूज़ी जैसा कद-बुत। बस एक रंग उसका शराबी था। क्या मजाल जो इनके गेट से क्षण भर के लिये इधर-उधर हो जाए। जब भी कोई गेट खोलकर बाहर जाता या अन्दर आता, वो आँख बचा कर कोठी के भीतर आ घुसता। डाँट खाता, लाठियों की मार सहता, खदेड़ा जाता, फिर वैसे का वैसा, धरना दिये गेट के बाहर जम जाता। जब दाव लगता, अंदर आ कर सूज़ी को चूमना-चाटना शुरू कर देता।

इतना सुन्दर, इतना प्यारा था, इस तरह सब से आगे कोठी के गेट पर सट कर बैठता, जैसे उसका सूज़ी पर एकाधिकार हो। दिन में कई और कुत्ते इकट्ठा होते, हर रंग, हर नस्ल, हर कद-बुत के। एक दूसरे से उलझते फिरते। मुशकीं एक ओर

मस्त बैठा रहता। यूँ उसे निश्चिंत बैठा हुआ देखकर, कई बार क्रोध में बेकाबू हो रहे कुत्ते उसे भी अपनी लपेट में ले लेते। पिटा हुआ, हारा हुआ, घायल मुशकीं फिर अपने स्थान पर आकर जम जाता। एक-टक गेट के अन्दर झाँकने लगता।

शेखों के नौकर आते, बड़ी मुश्किल से उसे पकड़ कर ले जाते। क्षण भर, और वह फिर अपनी तयशुदा जगह पर पसर कर बैठ जाता। साँझ होते ही एक-एक करके कुत्ते जाने लगते, लेकिन मुशकीं वैसे का वैसा अपनी जगह पर जमा रहता। अंधेरा हो जाता। रात हो जाती, तब भी इंतजार में खोया एकटक गेट के अन्दर निहारता रहता, जहाँ से सूज़ी आ सकती थी।

उधर सूज़ी भी आँगन में बंधी हुई च्यायुँ-च्यायुँ करती रहती। साँकल को खींचती, खूँटी को उखाड़ने की कोशिश में बावेला मचाये रहती और जब भी उसका दाँव लगता, आँख बचाकर गेट के बाहर, अपने प्रशंसकों से जा मिलती। बाहर इंतज़ार कर रहे कुत्ते उसे देखते ही जैसे सूज़ी पर टूट पड़ते। एक कुहराम मच जाता। हर कोई उस पर हक जमाता। वे आपस में गुत्थम-गुत्था होने लगते। एक दूसरे को काट-काट खाते। लहू-लुहान कर देते। इतने में घर वालों को सूज़ी की करतूत का पता चल जाता और वे उसे पकड़ कर अन्दर बन्द कर देते।

दिन-रात, रात-दिन कोठी के बाहर प्रतीक्षा करते, हफ्ता-दस दिनों के बाद गली-मुहल्ले के कुत्ते पीछा करना छोड़ देते, जैसे वे हमेशा करते थे। लेकिन मुशकीं था कि वैसे का वैसा अपनी जगह पर जमा रहता था। जैसे हिलने का नाम न ले रहा हो। शेखों की आया आई और कहने लगी कि इसने तो पिछले तीन दिनों से रात तक खाना छोड़ा हुआ है।

उसे मुशकीं पर बड़ा तरस आया। इसी तरह वह खुद कभी किसी के लिए व्याकुल हुआ था। इसी तरह ही उसने खुद किसी का पीछा किया था। इसी तरह वह खुद भी किसी की बाट देखा करता था। और फिर उस दिन खाना खाकर बाहर जाते हुए उसने चुपके से कोठी का गेट खुला रहने दिया।

तभी फिर बाद दोपहर को, जब घर वाले आराम कर रहे थे, सूज़ी की च्यायुँ-च्यायुँ करने की आवाज आई। यह आवाज कुछ और तरह की थी। दर्द-दर्द, स्वाद-स्वाद। और घर वालों ने बाहर आँगन में जाकर देखा, मुशकीं और सूज़ी, सूज़ी और मुशकीं एक-दूसरे के साथ ख़लत-मलत हो रहे थे। हर कोई हैरान था, कोठी का गेट कैसे खुला रह गया? वे सोचते , रसोई में काम करने के बाद बावर्ची ठीक तरह से गेट बंद करना भूल गया होगा। बाहर गेट खोलकर जब वह बीड़ी के लिए निकला होगा, मुशकीं चोरों की तरह अन्दर घुस आया होगा। और फिर सूने घर में उसकी इतने दिनों की प्रतीक्षा रंग ले आई।

घर वाले बावर्ची को काट-काट खाते। बावर्ची बेचारा शर्मिंदा था। मुशकीं

ने जैसे उनसे छल किया हो। हर कोई इस इंतज़ार में था कि वह उनके हाथ लगे और उसकी मरम्मत की जाये।

लेकिन मुशकीं फिर कभी उनकी कोठी पर दिखाई नहीं दिया। एक बार भी नहीं। दो हफ्ते, चार हफ्ते, और फिर सूज़ी के पाँव भारी होने लगे।

घर वालों ने सब्र-शुक्र कर लिया। जो होना था सो हो चुका था। सूज़ी माँ बनने जा रही थी। सूज़ी की लाख ख़ातिरें होतीं। ढेरों उसकेलाड़ होते। उसकी खुराक का ख़ास ख़्याल रखा जाता। अड़ोस-पड़ोस वालों ने सूज़ी के पिल्लों का आरक्षण भी शुरू कर दिया।

और चार हफ्ते, कि सूज़ी माँ बन गई। उसने दो पिल्ले जने। दोनों नर थे। दोनों मुशकीं के रंग के थे। उसकी शक्ल, हू-ब-हू वैसे।

लेकिन मुशकीं कहाँ था? वह दिन और आज का दिन, उसने कभी इधर पलट कर नहीं देखा। कभी दिखाई नहीं दिया! मर्दज़ात!

यह सोचते हुए, कोई चिर-पुरानी याद उसकी आँखों के सामने घूमने लगती और उसकी पलकें सजल हो जातीं।

आज तीसरा दिन था। कुछ इस तरह उसके आँसू बह रहे थे। आठों पहर उसकी आँखें चूती रहतीं। पलकें भीगी-भीगी, दुखी-दुखी! कोई बहाना चाहिए और वह फूट पड़े।

शाही

जैसे किसी ज़मीन पर ताज़ा हल चला दिया गया हो। शाही का चेहरा बिल्कुल उसी तरह बाकायदा झुर्रियों से भरा हुआ था। गोरी-गोरी खाल, पीली-पीली झुर्रियां, उनमें मैल और मिट्टी। शाही के बाल कहीं बालिश्त भर और कहीं मुट्ठी-भर भिड़ों की तरह बिखरे रहते। उनमें आधे बाल सफेद हो गये थे और आधे अभी काले ही थे। गाँव की औरतों की आँखों को दूर से ही उन बालों में जूँएं भरी दिखाई देतीं। जूँएं चल कर कभी-कभी उसकी गरदन तकआ जाती थीं और इससे पहले कि कोई शाही को बताये "जूँ, ओ जूँ है नसीब-जली शाही," जूँ फिसलती हुई उसके कपड़ों में ग़ायब हो जाती। शाही की आँखें उदास-उदास सी थीं। हर समय उनमें से पानी रिसता रहता था। उसकी थकी माँदी भवें पुराने पर्दों की तरह उसकी पलकों पर ढलकआई थीं। शाही की गरदन और हाथों पर मैल की मोटी तह थी। उसके नाखून आप ही आप बढ़ते, आप ही आप मुड़ते, आप ही आप टूटते, और आप ही आप घिस जाते। उसने उन्हें कभी कटवाया नहीं था। उसकेहाथों की रगें एक-एक साफ दिखाई देती थीं। शाही केपैरों पर तो जैसे किसी ने मैल का लेप कर दिया था। उसकी एड़ियां नंगे पाँव चलते-चलते जैसे पिचकसी गयी थीं। उसकेपैरों की उंगलियाँ विचित्र बेढंगेपन से इधर-उधर फैली हुई थीं। गरमी हो या सरदी, शाही ने पैर में कभी कुछ नहीं पहना था।

शाही के चिथड़ों में से जब कभी उसका नंगापन झलकता था तो उसकी सूखी हुई थैलियों की तरह लटकती हुई छातियां, तिनकों की तरह पतली टाँगें देख कर कई औरतों को अपनी आबरू का विचार कँपकँपा-सा देता और वे तरस खा कर कोई पुरानी उतरी हुई कमीज, या शलवार उसको दे देती थीं। शाही इन कपड़ों को इकट्ठा करके ले जाती। लेकिन फिर दो चार दिन केबाद जब गली में से गुजरती उसकेकपड़ों की हालत वैसी की वैसी होती। उसकी यह हालत देखकर कई स्त्रियां अपने सामने उससे कपड़े बदलवाती। लेकिन जब फिर कभी उससे मिलतीं तो उसके तन पर वही चिथड़े होते, जिनमें से उसका शरीर झाँक रहा होता।

शाही किसी के घर बैठ कर रोटी न खाती। जब कभी उसे खाने केलिए कुछ मिलता वह उसे पल्लू में बांध लेती। और इस प्रकार सारा दिन कुछ-न-कुछ इकट्ठा करती और शाम को थैला उठाये अपनी "ढोक" की ओर चल देती।

"ए शाही नासपीटी, इन बालों को कभी धो तो लिया कर," कभी कभी कोई स्त्री उसे झिड़क देती।

शाही सामने से नाक सिकोड़ कर कहती, "सच कहती हो चौधरानी। इस पेट के लिए तो कुछ मिलता नहीं---" और शेष वाक्य अपने इने-गिने आठ दस दाँतों और जबड़े के ख़ाली स्थान में बुड़बुड़ा देती।

अपनी "ढोक" में शाही की किसी के साथ बनती नहीं थी। किसी के साथ इसका लेन-देन नहीं था। उसने अपने दूर के रिश्तेदारों को, आज कई वर्ष होने को आये, मुँह नहीं लगाया था। उसे शिकायत थी कि उनके कुत्ते उस पर भौंकते थे। "उनके दिल में अगर चाह हो तो उनके कुत्तों और पिल्लों की क्या मजाल है जो मेरी तरफ आँख उठाकर भी देख जायें।" यह शिकायत किया करती थी।

गाँव की कई बूढ़ी स्त्रियों ने शाही की जवानी देखी थी। प्रत्येक गाँव में सुन्दर लड़की कभी कभी पैदा हुआ करती है। और लोगों की नज़र में शाही की सी सुन्दर लड़की वहाँ अभी तक पैदा नहीं हुई थी। उसके लिये कत्ल और ख़ून हुए। उसके माता-पिता ने उसका ब्याह बलात् एक फफरे से कर दिया। लोग कहते हैं उसने अपने पति को चार दिन के अन्दर-अन्दर जादू से भस्म कर दिया। उसके पास एक दिन के लिए भी न रही। गरीब माता-पिता जिनकी वह इकलौती लड़की थी, कुढ़ते हुए मर गये। शाही ने अपने दिल की बात किसी से नहीं कही। न उसका भेद कोई पा सका। उसने कई ज़मींदारों के मुँह पर थूका था, कई साहूकारों की दाढ़ियां नोचीं और इस तरह अपने ऊपर उठी हर ललचाई नज़र से भिड़ती, अपने होश-हवास खो बैठी थी।

कपड़ों पर कपड़े पहनती और जो कोई उसके नज़दीक आता, उसे पत्थर उठाकर मारती। अन्त में लोग उसे पकड़ कर पागलख़ाने छोड़ आये।

पागलख़ाने में ही वह बूढ़ी हो गई।

अच्छी होकर जब वह वापस आई तो उसकी जवानी ढल चुकी थी। लोग उसे भूल चुके थे। एक शाम को शाही ने अपने "ढारे" का दरवाज़ा खटखटाया और अपने रिश्तेदारों के ढोर-डंगर निकाल कर बाहर कर दिए।

पागलख़ाने की तीस वर्ष की नज़रबन्दी ने शाही जैसी जंगली शेरनी को एक ग़रीब बुढ़िया बना दिया था। लेकिन रिश्तेदारों के लिए उसके दिल में घृणा वैसी की वैसी ही थी।

फफरों की आठ दस घरों की ढोक में; शाही का किसी के साथ कोई वास्ता नहीं था। सारा दिन "कस्सी" के पार वह गाँव में गुज़ारती और रात को अपनी झोंपड़ी में पड़ी रहती। बेशक वह एक खूसट बुढ़िया थी, लेकिन माँगने और हाथ फैलाने पर ही वह संतोष न करती। किसी खत्रानी को वह चूल्हा बनाने के लिए चिकनी मिट्टी ला देती। किसी के कपड़े धो लाती; किसी के दालान में झाड़ू दे देती। जवान जहान लड़कियों को बाहर से चोरी-छुपे कई चीज़ों की पूर्ति करती। और इस तरह पैसा-पैसा करके कुछ न कुछ कमा लेती।

जब प्रातः काल ढोक से आ रही होती तो रास्ते के खेत में से साग तोड़ लेती। "सरसों के साग" के दिनों में वह गठरियों की गठरियां ला कर बेचती और एक एक घर से कितने-कितने पैसे बटोर लेती। खत्रियों की औरतें लड़-झगड़ कर ऊपर की चुटकियां हथिया-हथिया कर उसे लूटने की कोशिश करतीं, लेकिन वह किसी के हत्थे न चढ़ती। शाही के तरीके बड़े कारगर होते। जब कोई स्त्री उसे बहुत तंग करती तो वह अपने आपको गालियां देने लगती, "क्यों किसी अबला यतीम को सताती है चौधरानी। क्यों गरीबमार करती है। हाय, मुझ नसीबों-जली का सुनने वाला कोई नहीं।"

कई जवान लड़कियां केवल हँसी-मज़ाक में जो कोई उससे साग मोल ले रही होतीं, उनसे कहतीं, "क्यों जन्म भ्रष्ट कर रही हो, यह साग तो शाही सुबह सवेरे उस खेत में से तोड़ रही थी जहां बनियों का सारा मुहल्ला शौच के लिए जाता है।

शाही सुनते ही गुस्से में लाल हो जाती। जी भर के बातें सुनाती। सूअर और गधे की हड्डियां उनके मुंह में देती। दोहत्तड़ मार-मारकर पीटने लगती। बाल नोच डालती, साग का पत्ता-पत्ता गली में बिखेर देती और फिर साग के पैसे उन लड़कियों से पूरे करके दम लेती।

दूसरे दिन ग़रीब सूरत बनाए भूखी और बिलबिलाती पूर्ववत् उसी हवेली में फिर आ जाती।

और सब को उस पर तरस आने लगता।

बहुत समय तक लोगों को शक रहा कि शाही चोरी है। जिस ड्योढ़ी में से वह गुज़र जाती तो कभी कोई चम्मच न मिलता, कभी कोई कटोरी न दिखती, कभी किसी बच्चे का कोई कपड़ा ग़ायब हो जाता। लेकिन उसकी ग़रीबी को देख कर किसी को विश्वास न आता कि वह इतना साहस कर सकती है। एक बार उसे किसी ने अपने साग वाले झोले में एक कटोरा छुपाते हुए पकड़ लिया। एक और मुहल्ले में एक चाकू और बच्चे का एक खिलौना जब वह उठाने लगी, उसके नेफे में से नीचे गिर पड़ा। गाँव की स्त्रियां दो चार दिन उसे गालियां बक लेतीं और फिर शाही उनकी ज़िन्दगी में इस तरह घुल-मिल जाती जैसे उसके बिना उनका गुज़ारा नहीं हो सकता था। अगर शाही भिखमंगी न होती तो वे अपने पुराने उतरे हुए कपड़े किस को दे कर अपनी आत्मा को शान्त करतीं, अपना परलोक कैसे सँवारतीं? शाही चाहे चोर थी लेकिन उसके बिना शरीफ़ ज़ादियों के संदेशे कौन पीपल के पीछे इंतज़ार करते हुए कानों तक पहुंचाता?

एक शाम को मैं धुंधलके में ज़रा देर से सैर के बाद घर लौट रहा था कि गाँव के बाहर "थारियों" के पड़ाव पर गधों के जमघट से ज़रा परे शाही के झगड़े की आवाज़ आ रही थी। रोटियों के ढेर का वह उसे एक रुपया दे रहे थे और वह दो रूपये माँग रही थी।

थोरी बोले, "आखिर दस ऊपर चार रोटियां ही तो हैं। शाही, क्या एक रुपया तुझे थोड़ा नज़र आता है।"

शाही सामने से रोनी सी सूरत बना कर ऊंची आवाज में बोल रही थी, "ए चौधरी कुछ तो इंसाफ करो, छह कम बीस रोटियां हैं। क्या इनकी कीमत दो भी नहीं हो सकती?

जब यह सौदा समाप्त हुआ तो शाही ने बग़ल में छुपाई हुई एक सलवार निकाली, "इसका क्या दोगे?" वह दयनीय आवाज़ में बोली जैसे पहले सौदे में वह लुट चुकी हो।

मैं यह देख, धीरे-धीरे कदम उठाता घर चला आया। मैंने शाही के इस व्यापार की बात किसी से नहीं की।

मुझे यों लगने लगा जैसे शाही अपने इलाके की सबसे अमीर औरत है। मैंने महसूस किया कि पैसे जमा करने की उसे लत सी है। तमाम रात वह पैसों को गिनती और संभालती रहती होगी। शायद उसकी इच्छा होगी कि कभी नोटों के पुलिंदों की सेज पर सो जाए या उसकी कब्र में नीचे ऊपर पैसे डाले जाएं। पैसों की छनाछन में उसे कोई संगीत सुनाई देता होगा, और वह अपनी कड़ी मेहनत भूल जाती होगी।

अगले दिन शाही उसी तरह बाल बिखरे, हड्डियों की एक मुट्ठी, चीथड़ों में दाँत कटकटाती हमारे आँगन में आ गयी, "चौधरानी! यह उस खपरी बेरी के बेर तुम्हारे बेटे को बहुत पसंद हैं।" अपने दुपट्टे की गाँठ खोल कर उसने बेर मेरी माँ की झोली में डाल दिए। उसे पता नहीं था कि मैं पीठ किये कुरसी पर बैठा पढ़ रहा था। मेरी माँ के बताने पर उसने नज़दीक आ कर मुझे पहचाना, "ए बेटा, बोलता क्यों नहीं? शायद बहुत पढ़ गया है, इसलिए? उसने ज़मीन पर बैठते हुए कहा। शाही को किसी ने बता दिया था कि मैं वह शिक्षा ग्रहण कर रहा था जो आज तक उस गाँव में किसी ने ग्रहण नहीं की थी। वह मेरी चापलूसी इसलिए भी करती कि मुझ लाडले बेटे की माँ प्रसन्न होकर उसे न जाने क्या कुछ दे दिया करती थी।

अब जब वह मेरे सामने आ कर बैठ गई तो मुझे मौका मिला कि मैं अपने अनुमान की पड़ताल कर सकूँ। मैंने बातचीत प्रारंभ करने के लिए उससे पूछा, "ए शाही तुझे नहाये हुए कितने साल हो चुके हैं? यह कमीज़ जो तूने पहनी हुई है तुझे किसने दी थी? इन फटे कपड़ों में तुझे सर्दी नहीं लगती? रात को तू चारपाई पर सोती है कि ज़मीन पर? अपने घर में तू तेल का दिया जलाती है कि घासलेट का लैंप?

और इस प्रकार छोटे-छोटे प्रश्न करता, पूरे विश्वास के साथ आगे हो कर दबी ज़बान में उससे मैंने पूछा, "ए शाही मैंने आज सुबह सपना देखा कि तूने पैसों का 'डोला' दबा रखा है।"

शाही आश्चर्यचकित हो गयी। उसका रंग उड़ गया। उसकी आँखें फट कर

बाहर आ गयीं। मैंने अपने बातचीत के ढंग को जारी रखते हुए कहा, "सुबह का सपना झूठा नहीं होता शाही। चाहे तू मान या न मान।"

मेरी माँ मुझे बेकार की बातें करते देख कर वहाँ से उठ कर चली गयी थी। "शाही छुपाती क्यों है? दो नहीं, चार नहीं, मैंने जो ये सोलह जमातें पढ़ी हैं, उससे मैं लोगों के दिल की बात जान लेता हूँ।"

मैंने शाही को अपने जाल में जकड़ा हुआ देख कर अपनी बात पर और रंग चढ़ाया। शाही की समझ में नहीं आ रहा था कि क्या उत्तर दे। वह बिल्कुल मजबूर हो गयी, पूरी तरह बेबस। अचानक इस बात पर फँस गयी थी कि सुबह का सपना कभी झूठा नहीं होता।

शाही की आँखों से छल-छल आँसू बहने लगे। वह मेरे कदमों पर गिर गयी। "चौधरी मेरी रुसवाई न करना, चौधरी मेरे सफेद बालों को देख।" वह रोते हुए कहने लगी।

आखिर मेरे तसल्ली देने पर उसने मुझे बताया, "जब वह जवान थी उसकी मुहब्बत माधो झीवर से हो गयी थी। लेकिन माधो कमीन ज़ात फफरों से डरता हुआ उसकी तरफ आँख उठा कर नहीं देखता था। फिर माधों ने काशमा से निकाह कर लिया और शाही इस चोट से पागल हो गयी। जब वह तीस साल की नज़रबन्दी के बाद बाहर आयी तो उसे पता चला कि माधो की बीवी काशमा मर चुकी है। उसके बाद माधो ने दो और ब्याह किये लेकिन उसकी कोई बीवी न बची। नज़रबन्दी के बाद शाही सीधी माधो के घर गयी। माधो नज़र से कमज़ोर, चिड़चिड़ा, बूढ़ा, चारपाई पर पड़ा था। शाही ने उससे कहा, "माधो हमारा प्यार अमर है। मैंने पहली नज़र में तुझे अपना जीवन-साथी चुन लिया था। अगर मैं किसी के अंग के साथ लगी हूं तो वह तू ही था। माधो तूने मेरी जवानी को बर्बाद कर दिया है। अब यह बुढ़ापा ख़राब न कर। एक ही तमन्ना दिल में है कि मेरी कब्र तेरी कब्र के साथ बने।" और माधो ने उकता कर कहा था, "ए ससुरी, तुझे अब खिलाने के लिए बिठा रखूँ। पहली बीवियों से जो बड़ा आराम पाया है मैंने? "

और शाही ने जब बार-बार उसकी मिन्नत समाजत की तो उसने कहा: "जा, अपने रिश्तेदारों से छह बीसी रूपया ले आ, मैं निकाह कर लूँगा! मुझे कोई एतराज़ नहीं।"

उस दिन को आज पूरे दो साल हो चुके थे। शाही ने मेहनत करके, चुरा कर, छीन कर; एक सौ ऊपर पन्द्रह रुपये जमा कर लिये थे! अब जो मैं उसे बाकी रकम दे दूं, तो शाही के जीवन की अकेली मुराद पूरी हो सकती थी।

शाही को पांच रूपये दे कर मैं उसका हमराज़ बन गया।

उस रात घर जा कर शाही ने रेशम का रखा हुआ जोड़ा निकाल कर पहना। अपने बेतरह बढ़े हुए पैरों में जूती टिकाई और चक्की के नीचे से दबा हुआ "डोला" निकाल कर माधो के घर की ओर चल दी।

वह और यह

अपने बंगले के बाहर सिंबल वृक्ष के तने से सट कर यह खड़ा होता, जब वह पढ़कर वहां से गुज़रती। हर रोज़, चिलचिलाती धूप हो, पानी पड़ रहा हो, आँधी-तूफ़ान हो। अपनी भूखी-भूखी नज़रों से जैसे कोई पैग़ाम लेकर इंतज़ार कर रहा हो। एक दिन, दो दिन, चार दिन, दस दिन, कई दिन।

उस दिन वह कालेज की बस से उतरी, सीधी इसके पास आकर खड़ी हो गई, और इसकी आँखों में आँखें डालकर उसने कहा, "मेरी पढ़ाई आज खत्म हो गई है। अब मैं विवाह कर सकती हूँ।"

जहाज़ जैसी अपनी कोठी के बाहर खड़े इसने सुना और इसके हाथ-पाँव फूल गये, पाँव तले से जैसे ज़मीन खिसक गई हो। मुँह पीला-ज़र्द हो गया। इससे कोई जवाब नहीं बन पा रहा था। धरती, जगह नहीं दे रही थी कि उसमें समा जाये।

मैकू

मैकू आ गया है! मैकू आ गया है!! गाँव में वह पाँव ही रखता और यह ख़बर गली-गली; घर-घर फैल जाती।

उधर से गेहूँ की बालियां सिर उठातीं, उधर सरसों में फूल आते, उधर दूर, बहुत दूर, पहाड़ों में बर्फ चमकने लगती, इधर मैकू अपने गाँव लौट आता।

और हर वर्ष गाँव की हर औरत, हर बच्चे की माँ दिल ही दिल में कितनी-कितनी देर उसकी प्रतीक्षा करती रहती।

"मैकू आ गया", सुनतीं और आटा राँध रही औरतें, हाथ भरे के भरे उठ खड़ी होतीं। "मैकू आ गया!" सुनतीं और तन्दूर तपे के तपे रह जाते। "मैकू आ गया", सुनतीं तो दूध दुही जा रहीं भैंसें रंभाने लगतीं। गलियों के आवारा कुत्ते उसके पाँव सूँघते, उसकी टाँगों के साथ बार-बार अपने आप को रगड़ते, कभी उसके आगे-आगे होते कभी उसके पीछे-पीछे चलते।

साल में एक बार मैकू गाँव आता था। कुछ सप्ताह रहता फिर अचानक गायब हो जाता। न किसी को उसके आने का कभी पता चला, न किसी को कभी उसके जाने की ख़बर हुई।

कोई बारह वर्ष का मैकू था कि वह अपने घर से एक सुबह निकल गया। पहले मैकू की माँ मरी, फिर उसका बाप मर गया और पीछे रह गई चाचा की घरवाली जो उसे बहुत तंग करती थी। सारा-सारा दिन उससे काम कराती और फिर ऊपर से कुबोल बोलती। गली, मुहल्ले की औरतें मैकू की चाची के मुंह की ओर देखती रहतीं। मैकू के धैर्य पर हैरान होती रहतीं। और फिर जब मैकू कहीं निकल गया, गली-कूचे में खड़ी हाथ मलतीं उसे याद करती रहतीं और मैकू की चाची को बुरा-बुरा कहती रहतीं।

एक बार गाँव से निकला मैकू, लौट कर न आया। दो वर्ष गुज़र गए, चार वर्ष गुज़र गये, आठ वर्ष गुज़र गए, दस वर्ष गुज़र गए।

और फिर अचानक मैकू गाँव में आ निकला। सारे के सारे गाँव में शोर मच गया। जैसे मैकू गया था और जैसे मैकू लौट कर आया, गली-गली, घर-घर में लोग उससे मिल कर खुश होते। बैठ-बैठ कर उससे बातें करते। वह कोई अपने चाचा-चाची के घर लौट कर थोड़े आया था! वह तो अपने गाँव लौटा था। जहाँ

बैठता वहीं बैठा बातें करता रहता। जहाँ कोई कहता वहीं खा लेता। जहां रात पड़ती वहीं सो जाता।

गाँव की अनपढ़ औरतों को अपने दूर-दूर के सफर की कहानियाँ सुनाता। मैकू रेल में बैठा था। मोटरों की उसने सवारी की थी। लॉरियों में उसने सफ़र किया था। बम्बई की दो-मंज़िली बसों में वह चढ़ा था। हवाई जहाज़ को उसने अपने हाथों से छुआ था और गाँव की औरतें जिन्होंने अभी तक रेल तक को नहीं देखा था, मैकू की बातें सुन-सुनकर चकित होती रहतीं। मैकू उन्हें ऐसा लगता जैसे कोई जादूगर हो।

जलियाँ वाले बाग की दीवारों में अँग्रेज़ की गोलियों से हुए छेद, मैकू ने अपनी आँखों से देखे थे। उसने फिरंगिनें देखी थीं, नंगी टांगें, कंधों पर नाच रहे कटे हुए बाल, शराब में बदमस्त-सिगरेट के धुएं छोड़ती, गोरों की बांहों में बांहें डाले ठंडी सड़क पर टहल रहीं। उसने देसी राजे देखे थे, गोरी चमड़ियों वाले विदेशी जिन्हें झुक-झुक कर सलाम करते। उसने हाथी देखे थे, शेर देखे थे, चीते देखे थे, मगरमच्छ देखे थे और कलकत्ता के चिड़िया घर में कितने सारे पशु और पक्षी देखे थे जिनके नाम तक किसी ने कभी नहीं सुने थे। उसने आगरा में ताजमहल देखा था, जैसे किसी के स्वप्न को साकार कर दिया गया हो। मुमताज़ और शाहजहाँ की मुहब्बत को मैकू हीर-राँझे का रंग दे-देकर सुनाता और कसमें खाता कि शीशे की तरह चमकते संगमरमर में उसे बेगम के अथाह हुस्न की झलक दिखाई दी थी, उसे मक़बरे की नुक्कड़ों में से हिचकियां सुनाई दी थीं। मैकू बंगालिनों की कहानियाँ सुनाता जिनके गज़-गज़ लम्बे बाल होते हैं। मैकू मद्रासिनों की बातें करता जिनके काले रंग, दूध से सफेद दाँत, जिन्होंने कभी पांव में जूता नहीं पहना। मैकू बम्बई ओर दिल्ली के स्कूलों - कालेजों में पढ़ने वाली लड़कियों की कहानियाँ कहता-लड़कों की तरह जो चलती थीं, लड़कों की तरह हँसती थीं, लड़कों की तरह खाती-पीती थीं। मैकू ने गांधी-महात्मा के दर्शन किए थे - खद्दर की एक ही लंगोटी में, बकरी का दूध पीता, और कहता मैं देश को आज़ाद कराके साँस लूँगा।

और गाँव की अनपढ़ औरतें मैकू के मुँह की ओर देखती रहतीं। उसकी नित-नई कहानियां सुनतीं, हैरान होती रहतीं। मैकू उन्हें ऐसे लगता जैसे कोई बहुत बड़ा दैत्य हो और उसके सामने उन्हें अपने बाप, अपने भाई, अपने आदमी बौने से लगते।

मैकू गाँव की औंरतों को कहानियाँ सुनाता और उनके हर तरह के काम करता रहता। किसी का कोई बरतन चूने लगता तो उसको टाँका लगा देता। किसी के ताले की ताली खो जाती, वह नई चाभी बना देता। बरतनों को कलई करना उसे आता था। बच्चे मैकू का नाम सुनकर खिल-से जाते। किसी को सिर पर बैठा लेता, किसी को कन्धों पर उठा लेता, किसी को गोद में ले लेता, कोई उसकी टांगों के साथ चिपट

जाता। किसी को वह उछालंता, न्सिी को नचाता, फिरकनी की तरह घूम-घूम बच्चों को झूले देता रहता। गली-गली बच्चे "मैकू चाचा, मैकू चाचा" करते उसके पीछे पड़े रहते। और गाँव की औरतें अपने बच्चे मैकू के हवाले कर; खुद कपड़े धोने चली जातीं, ढोर-डंगरों को पानी पिला लातीं, अड़ोस-पड़ोस हो आतीं।

जितने दिन मैकू गाँव में रहता, एक गहमा-गहमा मची रहती, एक रौनक सी लगी रहती। कहीं वह खेल रहा होता, कहीं वह हँस रहा होता। थियेटर-सिनेमा के गाने मैकू के साथ ही गाँव में आते थे। गाने की शौकीन लड़कियाँ कितनी-कितनी देर उसकी राह देखती रहतीं।

मैकू ने कई टोटके ज़बानी याद कर रखे थे। तपेदिक से लेकर ज़ुकाम तक, हर बीमारी का इलाज उसे आता था, और ढ़ेर सी छोटी-छोटी शीशियां हर वक्त वह अपने बास्कट की जेब में डाले रखता। जहाँ किसी को कोई तकलीफ हुई, चाहे वह ठीक न हो, इलाज मैकू का ही करता। एक पुड़िया चूरन की वह हमेशा अपने पास रखता और छोटे-बड़े उसके चूरन की चुटकियां खा-खाकर चटाख़े लगाते।

बेरियों के बेर तोड़-तोड़ कर मैकू बच्चों में बाँटता रहता। बच्चों की माँओं के लिए उनकी गायें-'ंसें दुह देता। एक गाँव के सन्देश दूसरे गाँव ले जाता। एक गुट का दूसरे गुट के साथ मेल करा देता।

मैकू मुँह से बैंड-बाजा बजा लेता था। भैंस, गाय, घोड़े, गधे, शेर, बकरी, हर पशु; हर पक्षी की आवाज़ अपने मुंह से निकाल लेता था और कितनी-कितनी देर यूँ करता छोटे-बड़ों को लोट-पोट करता रहता। उसको मदारियों के करतब भी कई आते थे। किसी की जेब में से इकन्नी निकाल अपनी मुट्ठी में बंद कर लेता। अपनी मुट्ठी की चीज़ किसी की जेब में भेज देता। काँच के गिलास के नीचे कोई चीज़ रखता, आँखें बंद करके कुछ पढ़ता और नीचे से वह चीज़ ग़ायब हो जाती। फिर वैसे का वैसा गिलास को रखे एक और मंत्र पढ़ता और वह चीज़ लौटकर आ जाती। लोग चकित उसके मुंह कीओर देखते रहते और मैकू कहता, यह कोई जादू नहीं था, यह तो हाथ की सफाई थी। गाँव वाले और हैरान होते।

यूँ हँसता-खेलता मैकू एक दिन ग़ायब हो जाता। फिर गाँव में ख़ामोशी छा जाती। फिर लोग मन ही मन मैकू का इन्तज़ार करने लगते। फिर औरतें हर-रोज़ के धन्धों में मैकू की ज़रूरत को महसूस करतीं। फिर बच्चे मैकू का नाम ले लेकर अपने साथियों को झिकाते रहते। और यूँ दस-बारह मास बाहर रहकर मैकू फिर लौट आता।

किसी को नहीं पता था, मैकू कहाँ जाता है, कहाँ रहता है, क्या काम करता है। जितनी देर वह गाँव में रहता, लोग हँसते-खेलते यह भूल ही जाते कि महीना डेढ़ रह कर, मैकू हर साल की तरह चुपके से फिर गुम हो जायेगा।

हमेशा जब वह चला जाता, औरतें हाथ-मलतीं, काश कि उससे उसका पता ही ले लिया होता। फिर छोटे-छोटे काम वह मैकू के लिए इकट्ठे करती रहतीं। किसी की साँकल टूट जाती और वह मैकू के लिए संभाल कर रख छोड़ती। किसी के घर की लिपाई-पुताई करनी होती – तो वह सोचती मैकू आयेगा तो उसकी मदद हो जायेगी। कुएँ में किसी का डोल गिर जाता, एक दो बार कोशिश करके लोग छोड़ देते, मैकू आयेगा और कुण्डा घुमाकर निकाल लेगा। यूँ हर घर में कोई न कोई काम मैकू का इन्तज़ार कर रहा होता।

जब मैकू आता, फ़रमाईशों की बौछार उस पर होने लगती। वह हँस-हँसकर सबके काम करता रहता। ज्यूँ-ज्यूँ वह काम खत्म करता और काम उसके लिये निकलते आते।

जिस गली में से मैकू गुज़रता; हर आँगन में उसे रुकना पड़ता। घर के हर व्यक्ति से उसे बात करनी होती। बाज़ार में हर दुकानदार उसे गप्पों में लगा लेता। किस समय मैकू कहाँ बैठा है-सबके सब गाँव को यह पता होता। कभी उसे एक मोहल्ले से दूसरे मोहल्ले जाना होता तो रास्ते में पग-पग पर खड़ा होता, उसे आधा दिन इसी में लग जाता। चौपाल में इकट्ठे हुए मर्दों में, खेतों पर काम कर रहे किसानों में, स्कूल में आधी-छुट्टी के समय बच्चों में, किसी न किसी तरह मैकू की चर्चा शुरू हो जाती और कितनी-कितनी देर बस उसी का ही ज़िक्र होता रहता।

यूँ कई वर्ष गुज़र गए। मैकू एक मेहमान की तरह गाँव में आता, खुशी-खुशी एक मेहमान की तरह रहता, और फिर चुपके से चला जाता।

एक बार जब मैकू गाँव में आया हुआ था, लड़कियों के स्कूल की अध्यापिका के पति का देहान्त हो गया। राम देई गाँव के बाहर, स्कूल के पास ही रहती थी। पन्द्रह वर्ष रामदेई को ब्याहे हो गये थे, किन्तु उसका कोई बच्चा नहीं था, और कोई सम्बन्धी भी गाँव में नहीं था। पति को जब श्मशान में जला कर लौटी, रामदेई को घर जैसे खाने को दौड़ता। मैकू, जो सारा दिन श्मशान के लिए लकड़ियाँ इकट्ठी करता रहा था – अभी भी उसके आँगन में दरियाँ समेट रहा था। बाकी लोग सब एक-एक करके चले गए थे।

मैकू कितनी देर दरियों को झाड़ता रहा, संभालता रहा। घड़ों में पानी खत्म था, वह कुएँ से पानी लाने के लिए चला गया। लौट कर उसने गाय को चारा डाला। बकरी को पीपल के पत्ते तोड़ कर खिलाए, मुर्गियों को दाना डाला। इतने में कुछ हल्का-हल्का अंधेरा हो गया था। लालटेन की चिमनी साफ करके उसने लालटेन को दालान में जा रखा। रामदेई श्मशान से लौटी, थकी-हारी खाट पर औंधी पड़ी हुई थी। सामने अपने पति की चारपाई को देखती और बार-बार उसकी हिचकियाँ बंध जातीं। घर की छोटी-मोटी चीज़े संभालते-सँवारते मैकू को कितनी देर हो गई! फिर उसने गाय को दुहा, बकरी को दुहा, दूध गरम किया और बाज़ार से एक पाव जलेबियां

लाकर बेचारी रामदेयी केलिए खीर बनाई। कुछ रामदेई ने खाई, कुछ मैकू के लिए बच गईं। बाकी दूध को उसने जामन लगा कर जमाने के लिए संभाल दिया।

रात बहुत हो गई थी। बाहर गाँव में पहरा शुरू हो चुका था। जब घर का सारा काम कर चुका, मैकू बहुत थक गया था। फिर इतना बड़ा आँगन, इतना बड़ा घर-गाँव से बाहर, मैकू ने सोचा, रामदेई कैसे इस घर में अकेली रहेगी। दालान में, सामने पड़ी एक खाट पर वह भी लेट गया।

यूँ ही फिर अगले रोज़।

यूँ रामदेई का साथ देते-देते, मैकू रामदेई के इतना निकट आ गया कि बहुत दिन नहीं गुज़रे थे कि अध्यापिका ने गाँव के पंचों को बुला कर मैकू के साथ नातरा कर लिया।

मैकू के कुछ समझ में नहीं आ रहा था। एक आध दिन गाँव के लोगों ने चर्चा की, फिर सब भूल-भाल गए।

रामदेई का पति, मैकू सारा-सारा दिन अपने घर के कामों में लगा रहता। यदि वह बाहर किसी का काम करता तो रामदेई को बुरा लगता। गली-मुहल्ले के बच्चों के साथ एक से दूसरी बात वह नहीं कर सकता था। सब के सब उसके मुँह की ओर देखते रहते, मैकू चाचा पुकारते रहते और वह अपने घर भाग जाता। यदि कोई मैकू के साथ मज़ाक करता, यदि कभी कोई औरत मैकू को अपना जादू का तमाशा दिखाने के लिए कहती तो रामदेई लोगों को लाख-लाख गालियाँ सुनाती।

मैकू सारा दिन रामदेई के घर की चारदीवारी में बंद रहता। रामदेई - पढ़ाने जाती, पढ़ा कर लौटती, मैकू को घर देखकर बहुत प्रसन्न होती।

कितने दिन यूँ गुज़र गए।

फिर एक दिन, दीवार को फलाँग कर मैकू अपने घर से निकल आया। रामदेई की साँकल वैसी की वैसी बाहर लगी रही। कितनी देर गली-मुहल्ले के बच्चों के साथ वह खेलता रहा। किसी की चारपाई की रस्सी ढीली थी उसने कस दी। किसी की चर्खी की तकली टेढ़ी थी - मैकू ने उसे सीधा कर दिया। किसी का सरौता कुन्द हो गया था, मैकू ने उसे तेज़ कर दिया। कुएँ में काँटा फेर कर कितने दिनों की पड़ी हुई बाल्टियाँ निकाल दीं। बाज़ार में बैठ कर बातें करता रहा। गली-मुहल्ले में औरतों को कहानियां सुना-सुना कर खुश करता रहा। मुँह से बाजे बजा बजा कर बच्चों को हँसाता रहा।

यूँ शाम हो गई। उसकी पत्नी के घर लौटने का समय हो गया। मैकू तब भी कहीं बैठा अपनी मजलिस जमाये हुए था। दिन का खाना भी मैकू ने जहां कहीं बैठा था, वहीं खा लिया। शाम का खाना भी उसने बाहर ही खाया। देर रात गए तक किसी आँगन में बैठा मैकू अपनी हाथ की सफाई के करतब दिखाता रहा।

रात बहुत हो गई। लोग जाने लगे। घर वाले भी एक-एक कर सोने लगे। मैकू को सहसा महसूस हुआ, आज उसे वहीं रुक जाने के लिए किसी ने नहीं कहा था। लौटकर घर की ओर आते हुए मैकू सोचने लगा रामदेई से वह क्या कहेगा? उसे कौन-सा मुँह दिखायेगा? सारा दिन कहाँ रहा था? खाना खाने के लिए क्यों नहीं आया था? क्यों उसने लोगों के साथ बैठकर बेकार बातें की थीं? और उसकी नज़र सामने सड़क पर पड़ी - सड़क जो गाँव से बाहर जाती थी - दूर बहुत दूर। दूर बहुत दूर - तेल की काली चमक-चमक पड़ती सड़कों की ओर। दूर बहुत दूर दूध-सी सफेद बरफ और आकाश से बातें कर रहे पहाड़ों की ओर। दूर बहुत दूर-तेज़ बहुत तेज़ चलने वाली मोटरों की ओर, हवा में उड़ रहे जहाज़ों की ओर, पानी को चीरते हुए निकलते अगन बोटों की ओर। दूर बहुत दूर-कुतुब साहब की लाट, अजन्ता-एलोरा की गुफाएँ, मुग़ल बादशाहों के महल, किले, बाग़, मस्जिदों और सरायों की ओर। कितनी ही देर मैकू सड़क की ओर देखता रहा-देखता रहा, एक नशे में, एक सरूर में।

और फिर आँखें बन्द कर मैकू उस सड़क पर हो लिया। कान लपेटकर गाँव से निकल आया, जैसे कई वर्षों से वह कर रहा था। जैसे कई साल हुए उसने पहली बार किया था, जब उसने अभी होश संभाला था। मैकू चलता गया, चलता गया। जब उसे रामदेई का ख़्याल आता, उसके कदम एक क्षण भर के लिए लड़खड़ा जाते, फिर वह संभल जाता, फिर वह तेज़ चलने लगता।

अगली सुबह रेल में बैठा मैकू कहीं का कहीं निकल आया था-दूर बहुत दूर।

छोटी लाइन : छोटे स्टेशन

छोटी लाइन के इस एक बहुत छोटे स्टेशन पर गाड़ी रुक गई। पाँच मिनट गुज़र गए, दस मिनट गुज़र गए, पन्द्रह मिनट गुज़र गए, गाड़ी चलने का नाम नहीं ले रही थी। मैं सोच ही रहा था कि गार्ड से जाकर कहूँ-इस गाड़ी के एक ही एक फ़र्स्ट क्लास केडिब्बे में आज एक सवारी सफ़र कर रही है, जिसे आगे जाकर एक और गाड़ी पकड़नी है, और कल दिल्ली पहुँचकर एक ज़रूरी मीटिंग में शामिल होना है, कि सामने की ओर से एक गाड़ी आकर हमारी गाड़ी के साथ खड़ी हो गई। छोटी लाइन के इस छोटे स्टेशन पर,

एक छोटी गाड़ी के साथ एक और छोटी गाड़ी आकर रुक गई।

मैंने सोचा इसी गाड़ी का इन्तज़ार होगा और मैं इतमीनान से अख़बार पढ़ने लगा।

अख़बार में कुछ दिनों से एक अजीब मुक़दमें की कारर्वाइ छप रही थी। एक नौजवान हिन्दुस्तानी अफ़सर किसी कारण विलायत गया और वहाँ से परियों जैसी एक लड़की को ब्याह कर लाया। पति-पत्नी खुश-खुश रहने लगे। एक बच्चा , दूसरा बच्चा, एक के बाद एक उनके दो बच्चे हुए! लालों जैसे दो बच्चे! हिन्दुस्तानी माताओं की तरह अँग्रेज लड़की उन पर जान देती। पति कई-कई महीने बाहर ड्यूटी पर चला जाता। पीछे उसके बच्चों की माँ और उसके बच्चे, उसकी प्रतीक्षा किया करते। यूँ ज़िन्दगी गुज़र रही थी किशहर के किसी व्यापारी ने, जिसे कभी बाहर नहीं जाना होता था फिरंगिन लड़की पर डोरे डालने शरू कर दिए। एक बार, दो बार, बार-बार, उसका पति, जब भी आता, छह-छह महीने बाहर लगा आता और पीछे अँग्रेज़ लड़की को अकेलापन खाने को दौड़ता था। शहर के व्यापारी की जान-पहचान ज़िन्दगी के सफ़र को सुहाना बनाने लगी। फिर एक बार जब हिन्दुस्तानी अफ़सर घर लौटा, उसकी अपनी पत्नी यख़ -ठंडी महसूस हुई। दिल तो एक ही था, और उसका वह व्यापार कर बैठी थी। फिरंगिन बड़ी शशोपंज में थी। उसने सारी बात सच-सच अपने बच्चों के पिता को बता दी। एक पाप करे, उसको छुपाने के लिए झूठ बोलकर एक और पाप करे, फ़िरंगिन से यह नहीं हो सकता था। हिन्दुस्तानी अफ़सर को लगा जैसे धरती उसके पाँव के नीचे से निकल गई हो। उसके बच्चे की माँ, जिसकी याद सैंकड़ों मील दूर उसकी ज़िन्दगी को हसीन बनाए रहती थी-उससे बेवफ़ाई कर गई थी! और उसने अपनी पत्नी केउस चाहने वाले को गोलियों से बींध दिया। जिस

आदमी ने उससे उसकी दुनिया छीन ली थी, उस आदमी को उसने ख़तम कर दिया।

गाड़ी अभी भी नहीं चल रही थी। अख़बार से हटकर मेरी नज़र घबराहट में किसी को आगे पीछे ढूँढ़ने लगी कि सामने खिड़की से बाहर; कुछ देर पहले आकर खड़ी गाड़ी में, एक चेहरे पर जाकर रुक गई। पक्केबेर की तरह लाल-लाल मुखड़ा, मन्द-मन्द मुस्कानें बिखेर रहा था। कोई ग्रामीण औरत शहर जा रही है – मैंने अपने मन ही मन सोचा। पूरी खिड़की संभाले इकलौती बैठी थी, जैसे किसी सुन्दर चित्र को फ्रेम में मढ़कर रखा हो। एक पल के लिए हमारी नज़रें मिलीं और वह खिल-खिलाकर हँस दी। जैसे कह रही हो-मुझे पता था तुम ज़रूर देखोगे। एक ग्रामीण औरत की बेलौस हँसी! देखो तो गद्दों वाले डिब्बे में कैसे अकेला बैठा है! और हम इधर ढोरों की तरह लदे हुए हैं-एक के ऊपर एक चढ़ा हुआ है। शीशेवाली खिड़कियों में से छन-छन कर धूप पड़ रही है। कुछ बैठा, कुछ लेटा हुआ कैसे अख़बार पढ़ रहा है! तुम बाबू लोग धन्य हो बाबा! खिलखिलाकर हँस रही, जैसे किसी के दुपट्टे के पल्ले में बँधी चमेली की कलियाँ झर रही हों।

मैं फिर अखबार पढ़ने लगा। हिन्दुस्तानी अफ़सर की कहानी अभी ख़तम नहीं हुई थी। जज के सामने बयान देते हुए अँग्रेज लड़की ने कहा-मेरे मन में इस व्यापारी के लिए कमज़ोरी आ गई थी। मुझे यह आदमी अपनी मोटरकारों में कहीं का कहीं ले जाया करता था। बढ़िया से बढ़िया होटलों में ठहराता था। मेरा पति छह-छह महीने बाहर ड्यूटी पर रहता था। सरदियों की रातें कितनी लम्बी होती थीं! काश, यदि मेरे खाविन्द को कभी ड्यूटी पर न जाना होता। मेरा पति देवता है, उसने तो कभी किसी से ऊँचा बोल तक नहीं बोला। जो आदमी मर चुका है, वह तो बेईमान था, हर बार मुझसे शादी का इक़रार करके बाहर ले जाता। हर बार मुझे झुठलाकर मेरे बच्चों के पास लौटा जाता, इक़रार पूरा कभी न करता।

एक क्षण के लिए पलक उठा कर मैंने देखा-सामने खिड़की में बैठी औरत वैसी की वैसी इधर देख रही थी। एक पलक मैंने देखा और उसका दुपट्टा सिर से खिसक कर उतर गया। घने काले बाल, खुशबूदार तेल से चमकाये हुए। कानों के पीछे एक जालीदार क्लिप, पता नहीं सोने का था, पता नहीं पीतल का था। क्लिप को खोलकर वह फिर लगा रही थी और एक लट खिसक कर उसके चेहरे पर आ पड़ी। "यह तो कोई ग्रामीण औरत नहीं- मन ही मन मैंने सोचा – यह तो कोई ग्रामीण औरत नहीं, इसको अपने सौन्दर्य की पहचान कुछ अधिक ही है।" घुँघराली लट एक सर्प की तरह उसके गालों पर खेल रही थी। लाल-लाल गालों पर काँप रही काली जुल्फ, उसका चेहरा सहसा खिल-सा गया और वह अपनी मोटी-भारी चोटी को कन्धे से घुमाकर आगे ले आई। कितने लम्बे, कितने मुलायम, कितने सुन्दर उसके बाल थे! और वह अपनी चोटी के साथ खेलने लगी। कभी कुछ बल खोल देती, कभी उन्हें गूथने लगती।

मैं फिर अख़बार पढ़ रहा था। लोग इस मुक़दमें पर दीवाने हो रहे थे। हुजूम के हुजूम कचहरी के बाहर जाकर खड़े हो जाते। लोग मोटर पर फूल बरसाते जिस मोटर में बैठकर हिन्दुस्तानी पति जाता था। कचहरी के सामने पार्क में कॉलेजों के लड़के बाइबिल और गीता का पाठ करते, हाथ जोड़-जोड़ कर दुआएँ माँगते —- भगवान किसी तरह यह बरी हो जाये! जवान लड़कियाँ उसको चिट्ठियाँ लिखतीं, चिट्ठियों में अपनी तसवीरें भेजतीं, हर कोई उससे विवाह करने के लिए तैयार थी। जब उसे सड़क से गुज़रना होता, घण्टों इन्तज़ार में खड़ी औरतें उस पर चुम्बन बरसाती। जिन अख़बारों में उसकी तसवीर छपती उन अख़बरों को फिर छापना पड़ता। देश भर के समाचार-पत्रों में आजकल सबसे अधिक स्थान इस मुक़दमें की कारर्वाइ को दिया जा रहा था। समाचार-पत्र पढ़ने वालों ने हज़ारों रुपयों की शर्तें लगा ली थीं। कोई कहता छूट जायगा, कोई कहता नहीं छूटेगा। कोई कहता फाँसी पर चढ़ेगा, कोई कहता केवल कैद ही होगी।

गाड़ी अभी तक नहीं चल रही थी। मेरी नज़र परेशानी में अखबार से हटी ही थी कि फिर सामने खिड़की में वैसी-की-वैसी मुसकानें बिखेर रहे उस मुखड़े पर जा पड़ी। इस बार उस औरत की बाँहों में एक बच्चा था- गोरा-चिट्टा जैसे मक्खन का पेड़ा हो। माँ गन्दुमी रंग की और बेटा दूध-सा सफेद! हमारी नज़रें मिली ही थीं कि उस औरत ने अपने सवारी डिब्बे की ओर पीठ करके अपनी कमीज़ के बटन खोलना शुरू कर दिए। अगले क्षण उसकी थलक-थलक पड़ती छाती अनढकी थी। अपने थन को बच्चे के मुँह में देकर वह दूध पिलाने की कोशिश कर रही थी। बच्चा कोई ख़ास भूखा नहीं था। हुमक-हुमक पड़ता, थन को सिर के साथ टक्करें मार रहा था। बार-बार थन को मुँह में लेता, बार-बार थन उसके मुँह से निकल जाता और वह आगे-पीछे मुँह मारने लगता। औरत लाड़ में हँस रही थी। अटूट प्यार पलकों में लिए बच्चे की ओर देख रही थी। कभी थन को बच्चे के मुँह की ओर ले जाती, कभी बच्चे को ऊँचा-नीचा करके थन के पास ले जाती। पर बच्चा दूध कम पी रहा था, खेल ज्यादा कर रहा था। औरत ने एक नज़र मेरी ओर फिर देखा- "कितना नटखट है!" जैसे वह कह रही हो — "कितना नटखट है! पहलौंठी के सारे बच्चे इसी तरह के होते हैं। मेरा दूध चढ़ा हुआ है, और यह दूध नहीं पी रहा। अब मैं गाड़ी में बैठी धारें थोड़े ही बहा सकती हूँ! इसका बाप यदि......!"

ये क्या मैं पराई औरत की नग्नता देख रहा हूँ। अभी बात उसने जैसे पूरी नहीं की थी कि मैं फिर अख़बार देखने लगा। मुक़दमें की कारर्वाइ की रिपोर्ट अभी ख़तम नहीं हुई थी। हिन्दुस्तानी पति के अफ़सर ने बयान दिया था- यह आदमी जिसने किसी पराये मर्द को गोली मार दी, हमारे सबसे भले, सबसे सुघड़, सबसे सयाने कर्मचारियों में से है। कभी इसकी कोई शिकायत नहीं आई। इसका ज़िक्र हमेशा शराफ़त के लिए, मेहनत के लिए, अच्छे चाल-चलन के लिए होता है। डॉक्टर ने

कहा था- ये गोलियाँ, यहाँ तक मेरा अनुमान है, सब की सब ऐसे नहीं मारी गईं कि कोई पीछे से कायरों की तरह आया हो, और अनजान खड़े; की किसी पीठ को किसी ने बेध दिया हो।

गाड़ी की सीटी हो रही थी। गाड़ी चल रही थी। लेकिन कौन-सी? हमारे वाली या सामने वाली? और मैंने नज़र उठा कर देखा। मेरी नज़र फिर सामने खिड़की पर जा पड़ी। सामने ही तो थी। जब नज़र उठती, वहीं जा टिकती। औरत वैसी-की-वैसी खिलखिलाकर हँस रही, बच्चे को खिड़की से बाहर निकाले, उसकी टाँगों को पकड़ पेशाब करवा रही थी। उसकी धार हमारी गाड़ी के डिब्बे तक पहुँच रही थी।

"तनिक और ज़ोर लगाये तो खिड़की पार करके धार तेरे गद्दोंवाले डिब्बे में पहुँच जाये," औरत की शोख़ नज़रें कह रही थीं। "अगर कहो तो पहुँचाऊँ अपने बेटे के पेशाब की धार तुम्हारे गद्दोंवाले डिब्बे में? पूरे का पूरा डिब्बा अकेला सँभाले कैसे बैठा है, सफर भी कर रहा है, धूप भी खा रहा है, अख़बार भी पढ़ रहा है..!"

और फिर सामने वाली गाड़ी चल दी। बच्चा वैसा-का-वैसा पेशाब कर रहा था कि गाड़ी निकल गई।

गाड़ी चली गई और मैंने खिड़की के बाहर झाँक कर देखा। उस शैतान के पेशाब की धार सचमुच हमारी गाड़ी के बाहर डिब्बे पर पड़ती रही थी और जब उनकी गाड़ी चली, उसकी धार हमारी गाड़ी पर एक लकीर-सी बनाती चली गई।

अब हमारी गाड़ी के चलने की बारी थी। बाहर एक छोकरा शोर मचाता अख़बार बेच रहा था- ताज़ा अख़बार पढ़ो, क़त्ल के मुक़दमे का फैसला हो गया।

अब अख़बार में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं रही थी। कितनी देर खिलखिलाकर हँस रही एक औरत के दो नैयन. गज़-गज़ लम्बे रेशमी काले बाल, थलक-थलक पड़ती छातियों से खेल रहा एक गोरा-चिट्टा बच्चा, और फिर एक पेशाब की धार, उड़ती हुई जैसे हमारी गाड़ी तक पहुँच रही—मेरी नज़रों के सामने यह सब कुछ घूमता रहा, घूमता रहा, घूमता रहा..........!

चमेली पर चिड़िया

बूढ़ा गंगासिंह उदास-उदास था।

पहली बार जीवन में उस को महसूस हो रहा था कि उस की हार हो रही है। पहली बार जीवन में उस ने कोई चीज़ माँगी थी और ईश्वर ने जैसे उसे इनकार कर दिया हो। पहली बार जीवन में उस ने कहीं हाथ डाला था और उसकी मुट्ठी खाली की खाली लौट आयी थी।

साँझ को जब वह घर लौटा, बूढ़े गंगासिंह से आँगन में खड़ा न हुआ गया और वह बाहर निकल गया।

अकेला खेतों में घूमता, क्यारी-क्यारी फिरता, बूढ़ा गंगासिंह सोचता अब वह बाज़ार में खड़े हो कर झूठ-सच का निर्णय नहीं किया किया करेगा, झूंठे को झूठा नहीं कहा करेगा, सच्चे को सच्चा नहीं जतलाया करेगा। इस वर्ष मेले में अपने बैल नुमायश के लिए नहीं भेजेगा। "बैल जीते क्या और हारे क्या?" वह सोचता। फिर वह एक पत्थर पर अपनी लट्ठे की दूध-सी सफ़ेद चादर समेत बैठ गया। बूढ़े गंगासिंह को ख्याल आया, मक्खन हलवाई ने अभी तक उस की रक़म नहीं लौटायी थी। तीन बीसी तो सूद हो जाता, यदि उसने काग़ज़ लिखवाया होता। वह सोचता अब वह लिहाज़ नहीं करेगा। अपनी रक़म खरी कर लेगा। गाँव की हर बाल-विधवा का बूढ़े गंगासिंह ने स्वयं बीच में बैठ कर विवाह करवाया था। बस दो बाक़ी रह गयी थीं। "हों ससुरी, मैंने कोई ठेका थोड़ा ही लिया है!" उन का ख़्याल आते ही उस के मुँह से निकल गया। फिर बूढ़े गंगासिंह को लगा जैसे वह मैला-मैला हो, मिट्टी-धूल से जैसे उसका अंग-अंग लिपटा हुआ हो। उस को अपने आप में से बू आने लगी, मैल और पसीने की दुर्गन्ध।

बूढ़ा गंगासिंह रहट पर नहाने के लिए चल दिया। चलते-चलते रास्ते में एक पत्थर से उस को ठोकर लगी। बूढ़े गंगासिंह ने पत्थर की ओर एक नज़र देखा और आगे निकल गया। आज पहली बार उस ने पथ पर पड़े पत्थर को उठा कर किनारे नहीं किया था- वह तो ठीकरों को; रोड़ों को रास्ते से चुन-चुन कर सँभालता रहता था कहीं अँधेरे-सवेरे किसी को ठोकर न लग जाये। पंचायती कुएँ की माला टूटने व ली थी। जब भी बूढ़ा गंगासिंह कुएँ पर आता उस को हमेशा गाँठता रहता। किन्तु आज उस ने ढलक रही मटकियों, ढीली हो रही माला की ओर आँख उठा कर न

देखा। गाँव की औरतें खड़ी की खड़ी रहीं और वह अपनी चादर उतार कर नहाने बैठ गया। पहले उस ने यूँ कभी नहीं किया था। न नहाते समय, न नहा कर कपड़े पहनते हुए, न कपड़े पहन कर घर की ओर चलते हुए बूढ़े गंगासिंह की ज़बान पर आज भगवान का नाम आया।

अँधेरा हो रहा था जब बूढ़ा गंगासिंह घर पहुँचा । उस को आँगन में जल रही लालटेन की रोशनी मद्धिम प्रतीत हुई। चूल्हे में आग जैसे धुआँ छोड़ रही हो। बूढ़े गंगासिंह को चूल्हे में धुआँ ज़हर लगता था। उस को लगा जैसे सामने बरामदे में पड़ी खटिया फिर टेढ़ी रक्खी है। इस तरह टेढ़ी पड़ी चारपाई को देख कर उस को बड़ी उलझन महसूस होती थी। बूढ़े गंगासिंह का दिल चाहा अपने मुँह की सारी बदमज़गी अपनी पत्नी पर उगल दे। पर फिर एकदम उस ने अपने आप पर ज़ब्त कर लिया।

"नहीं, नहीं, नहीं," बूढ़ा गंगासिंह सिर हिलाने लगा। निहाल की माँ बेचारी का कोई क़सूर नहीं था। यूँ पहले भी कई बार हुआ था। ख़फ़ा वह किसी पर होता था, और क्रोध अपनी घर वाली पर आ निकालता था। आज नहीं वह यूँ होने देगा। बूढ़ा गंगासिंह दालान में अपनी छड़ी ढूँढ़ने लगा। छड़ी थी कि मिल ही नहीं रही थी। एक स्थान पर जहाँ वह कोई चीज़ रखता था वहाँ क्यों नहीं वह चीज़ रहती थी? आखिर घर में एक बूढ़ा गंगासिंह था; एक उस की पत्नी थी। यह चीज़ों को कौन आगे-पीछे कर देता था? "इस कुत्ते-घर में कोई चीज़ अपनी जगह पर कभी नहीं रहती।" उस को क्रोध आ रहा था। बूढ़ा गंगासिंह फिर सँभल गया।

चौके में भोजन करने के लिए बैठा गंगासिंह सोचता वह क्यों वहाँ आ बैठा था। उसे तो ज़रा भूख नहीं थी। दाल में आज फिर नमक कम था। निहाल की माँ इतना मक्खन क्यों रख देती थी रोटी में? उस ने कई बार कहा था कि मक्खन निहाल के लिए जमा करना चाहिए। मक्खन का घी बना कर लड़के को भिजवाना चाहिए। शहरों में आज कल अच्छा घी नहीं मिलता। मक्खन था कि सँभाले नहीं सँभल रहा था। बह-बह कर थाली में जा रहा था। निवाला तोड़ते हुए उस की उँगलियाँ मक्खन में जैसे डूब गयी थीं। आख़िर क्यों इतना मक्खन डालती थी निहाल की माँ? बेसमझ औरत! अनपढ़! एक बार कहे का उस पर असर ही नहीं होता था। बुढ़िया का दिमाग़ खराब हो गया है। "नहीं, नहीं, नहीं," बूढ़ा गंगासिंह सिर हिलाने लगा। उस को फिर क्रोध आ रहा था। पानी हमेशा ढलान की ओर बहता है। बेचारी निहाल की माँ पर गुस्सा क्यों? "नहीं, नहीं, नहीं।"

छत पर सोने के लिए गया बूढ़ा गंगासिंह बार-बार कानों में उँगलियाँ देता। उस को नम्बरदार के घर ढोलक पर गाये जा रहे गीत की आवाज़ आ रही थी। 'साडा चिड़ियाँ दा चंबा वे, बाबल असी उड जाणां' नम्बरदार के आँगन में जल रही बत्तियों की रोशनी जैसे अँधेरे को चीरती हुई बूढ़े गंगासिंह के मकान तक पहुँच

रही थी। कितना शोर था! अभी तो बारात नहीं आयी थी। कल जब बारात आयेगी तब तो यह शायद आकाश को ही सिर पर उठा लेंगे। कोई हँस रहे थे, कोई खेल रहे थे, कोई आ रहे थे, कोई जा रहे थे। इस चीख-चिल्लाहट में से बार-बार ढोलक की आवाज़ उभरती थी, बार-बार गीत के बोल सुनाई देते थे, "साडा चिड़ियाँ दा चंबा वे बाबल असी उड जाणाँ।"

"उड़ जायेगी, कल वह उड़ जायेगी!" बार-बार बूढ़े गंगासिंह के होंठों पर यह बोल आते, बार-बार उन को वह निगल जाता।

आज कई दिन हुए उस ने सुना था कि नम्बरदार ने अपनी बेटी की मँगनी कहीं कर दी थी। बूढ़े गंगासिंह को विश्वास नहीं हुआ था।

फिर नम्बरदार की हवेली की लिपाई हुई, उस के घर सफेदी हुई। गंगासिंह को तब भी यक़ीन नहीं हुआ कि नम्बरदार अपनी बेटी का ब्याह कर रहा है। फिर नम्बरदार के घर के सामने रसद की भरी हुई बैलगाड़ियाँ आ खड़ी हुईं। फिर नम्बरदार के घर की लड़कियाँ गली-गली घूम कर "बुलावा" देने लगीं। फिर ढोलक मँगवाई गयी। ढेरों मेहमान नम्बरदार के यहाँ आने लगे। बूढ़े गंगासिंह ने उस गली में से गुज़रना छोड़ दिया। इतना सारा चक्कर काट कर खेतों में से होता हुआ घर आता, परन्तु नम्बरदार की हवेली के सामने से उससे गुज़रा न जाता।

पर इस ढोलक का कोई क्या करे? इस की आवाज़ तो सारे गाँव में गूँज रही थी। ढोलक की आवाज़ और गीत के बोल, "साडा चिड़ियां दा चंबा वे बाबल असी उड जाणाँ।"

नम्बरदार की बेटी उड़ जायेगी। शाम को बारात आयेगी और सुबह फेरे हो जायेंगे। बूढ़े गंगासिंह ने सुना था कि लड़के वाले भी नम्बरदार थे। दूल्हे का बाप नम्बरदार था। दूल्हे के बाप का बाप नम्बरदार था। दूल्हे के बाप के बाप का बाप भी नम्बरदार था और अपने समय पर यह लड़का भी नम्बरदार बनेगा। नम्बरदारी उन के घर की मिल्कियत थी। बूढ़ा गंगासिंह सोचता कि वह नम्बरदार थोड़े ही था। न उस का बेटा कभी नम्बरदार होगा। वह तो बस अपने हाथों की कमाई करता था। साफ़-सुथरा जीवन गुज़ारता। जहाँ तक सम्भव हो लोगों की सेवा करता। सच्चे को सच्चा कहता, झूठे को झूठा कहता। किसी से न डरता था न किसी को डराता था। बूढ़े गंगासिंह का एक ही एक बेटा शहर में सोलहवीं जमात में पढ़ता था। सारे के सारे गाँव में इतना और कोई नहीं पढ़ा था। अगले साल निहाल पास हो जायेगा। पूरी सोलह जमातें वह पास कर लेगा।

अपने बेटे निहाल में जैसे बूढ़े गंगासिंह की जान हो। किस तरह उस ने उसे पाला था। उस की ख़ातिरें कर-करके, उसे लाड कर-करके। उस घर में वही होता जो निहाल चाहता था। माता-पिता का एक ही एक बेटा, आठों पहर उस आँगन मे निहाले-निहाले होता रहता। अब निहाल सो रहा है। अब निहाल सो के उठ गया

है। अब निहाल नदी पर नहाने गया है। निहाल ने देर क्यों कर दी है? निहाल पीपल के नीचे अपने मित्रों के साथ बातें कर रहा है। निहाल पढ़ रहा है। अब निहाल लिख रहा है। निहाल भोजन कर रहा है। निहाल को करेले पसन्द हैं, कचालू पसन्द हैं, कद्दू पसन्द नहीं। निहाल को खट्टा साग पसन्द था। और गली मुहल्ले में जिस के घर भी खट्टा साग पकता, निहाल के लिए अवश्य एक कटोरा भेज दिया जाता।

निहाल को अच्छे से अच्छे स्कूल में भेजा गया। जब वह स्कूल पास कर चुका तो जिस कालेज में उस ने कहा उसी कालेज में वह दाखिल हुआ। उस की चिट्ठी बाद में आती थी और बूढ़ा गंगासिंह पैसे उसे पहले भेज देता था।

निहाल जवान भी कैसा निकला था! उसे देख-देख कर भूख न मिटती। तेज़ बोल उस के मुँह में से कभी किसी ने सुना न था। बूढ़ा गंगासिंह सोचता लड़कों को कुछ-कुछ चंचल होना ही चाहिए। वह लड़का ही क्या जिस ने कभी आगे से जवाब न दिया हो। वह लड़का ही क्या जिस ने कभी माता-पिता का कहना न टाला हो। वह लड़का ही क्या जिस की कभी शिकायत न आयी हो, गली मोहल्ले में जिस की कभी लड़ाई न हुई हो। परन्तु निहाल तो जैसे देवता था। खेलने में सब से आगे, पढ़ने में सबसे ऊपर, मेल-मिलाप में हर मन प्यारा।

'साडा चिड़ियाँ दा चंबा वे बाबल असी उड जाणाँ' गीत के बोल अब भी सुनाई दे रहे थे। गीत के बोल और ढोलक की आवाज़। बूढ़ें गंगासिंह को नींद नहीं आ रही थी। रात कितनी बीत चुकी थी! अभी तक वह लोग गीत गा रहे थे और बूढ़ा गंगासिंह रह-रहकर करवट बदलता। उस के अन्दर जैसे कोई ज्वाला सुलग रही थी।

रात आधी से अधिक बीत चुकी थी कि बूढ़े गंगासिंह ने महसूस किया कि सामने खटिया पर लेटी निहाल की माँ भी करवटें बदल रही है। "इसे क्या हो गया? यह अभी तक क्यों नहीं सोयी?"

बूढ़ा गंगासिंह चुपचाप देखने लगा। निहाल की माँ जैसे भट्टी में पड़ा कोई दाना भुन रहा हो, मछली की तरह तड़प रही थी। बार-बार सिर हिलाती, बार-बार हथेलियों को मलती, कभी उठ कर बैठ जाती, कभी छत पर टहलने लगती।

"इस को हो क्या गया है?" बूढ़ा गंगासिंह अपने-आप से कहने लगा।

अभी वह फ़ैसला नहीं कर पाया था कि वह क्या करे कि उसकी पत्नी धीरे से बूढ़े गंगासिंह की चारपाई के पास आयी।

"मैं ने कहा आप सो गये हैं?"

"क्यों; क्या है निहाल की माँ?" बूढ़े गंगासिंह को नींद कहाँ, वह उठ कर बैठ गया।

"मैं कहती हूँ आप शहर चले जायें?"

"वह क्यों?"

"मैं कहती हूँ आप शहर निहाल के पास चले जाओ, अब चलोगे तो कहीं सुबह पहुँच सकोगे।"

"क्यों? तुझे हो क्या रहा है निहाल की माँ?"

नम्बरादार के घर ढोलक की आवाज़ तेज़ हो गयी थी। गीत के बोल और ऊँचे हो गये थे-"साडा चिड़ियां दा चंबा वे बाबल असी उड जाणाँ।"

रात कितनी काली थी। बूढ़े गंगासिंह को अपने पास चारपाई पर बैठी अपनी पत्नी का मुँह नहीं दिखाई दे रहा था।

"कल का दिन निहाल को अकेले नहीं छोड़ना चाहिए।" बुढ़िया खुद-बखुद फिर बोलने लगी। "कल का दिन मेरे बेटे के लिए बहुत कठिन होगा।"

"तुम क्या बातें कर रही हो?" बूढ़े गंगसिंह की सब समझ में आ रहा था तो भी उस ने पूछा।

"कल नम्बरदार की बेटी की बारात आयेगी। आज कल के लड़कों का कुछ नहीं पता। निहाल मेरा कुछ कर न बैठे।"

"तुम्हारा मतलब क्या है?" बूढ़ा गंगासिंह जान-बूझकर अनजान बन रहा था।

"निहाल का नम्बरदार की लड़की के साथ जोड़ था।"

"तुम्हें कैसे पता?" बूढ़ा गंगासिंह सहसा झुँझला उठा। मर्द ज़ात का यह राज़ एक औरत को कैसे पता चल गया था?

"माँ को कौन-सी बात नहीं पता होती? निहाल का नम्बरदार की बेटी से बड़ा प्रेम था। उन्होंने तो लाख इक़रार किए हुए थे।"

"तुम क्या वाही-तबाही बोले जा रही हो?" बूढ़ा गंगासिंह अब भी बन रहा था।

"मेरे बेटे की माँग उस से छिन रही हैं।" बुढ़िया तड़प उठी। "पिछली बार जब वह घर आया था तो सैकड़ों बहाने कर के यह लड़की हमारे यहाँ आया करती थी। समय-कुसमय चक्कर लगाती रहती।"

"बस-बस निहाल की माँ!" बूढ़े गंगासिंह का धैर्य छूट चुका था। उस की आँखों से झर-झर अश्रु बह रहे थे।

बुढ़िया तो बहाना ढूँढ़ रही थी। एक बार उस के अश्रु फूटते तो फिर रोके न रुक सकते।

नम्बरदार के घर ढोलक की आवाज़ थी कि खत्म होने में नहीं आ रही थी। कब से गीत गाया जा रहा था "साडा चिड़ियां दा चंबा वे बाबल असी उड जाणाँ।"

फिर पति-पत्नी नीचे आँगन में उतर आए। जितनी देर में बूढ़े गंगासिंह ने अन्दर दालान में जूता बदला, गले में दूध-सा सफ़ेद मलमल का दुपट्टा लिया, अपनी

छड़ी ढूँढी, उस की पत्नी पानी की भरी एक गागर उठा कर ड्योढ़ी के दरवाज़े पर जा खड़ी हुई। उधर से बूढ़ा गंगासिंह आँगन से निकला, इधर निहाल की माँ जैसे पानी भर कर आ रही हो, उस को रास्ते में मिली।

हमेशा निहाल की माँ इस तरह करती थी। जब बूढ़े गंगासिंह को किसी काम से बाहर जाना होता, सामने से वह पानी लेकर गुज़रती थी। जितनी गम्भीर समस्या हो उतना ही बड़ा पानी का बरतन वह लिए होती थी। इस से पहले तो लोटों से ही गुज़ारा चल जाता था, परन्तु आज निहाल की माँ पानी की भरी हुई गागर उठाये हुए थी। इतनी बड़ी गागर के बोझ तले उस की कमर लचक-लचक जा रही थी।

हवलदार की पत्नी

"हट जाओ, हट जाओ! मैं जो कहती हूँ हट जाओ। मुझे क्यों नहीं अकेली रहने देते। मैं हवलदारनी हूँ, तुम सबको हथकड़ी लगवा दूँगी।

रस्से तोड़कर, जिन के साथ वह पलंग से बंधी होती, फ़ज़ल नूर पिछवाड़े वाले कुएँ की ओर दौड़ पड़ती। वास्तव में वह खुले मैदानों की ओर भाग जाना चाहती थी, लेकिन घर वाले समझते, पगली शायद कुएँ में कूदकर मरना चाहती है।

कोई महीना भर पहले फ़ज़ल नूर को पागलपन जैसी शिकायत हो गई थी। पहले तो वह हर समय धोबी के धुले हुए कपड़े पहने रहती। घर के किसी काम को हाथ न लगाती। चुपचाप पलंग पर बैठी कुछ सोचती रहती। उसके कपड़ों पर यदि तनिक भी कुछ दाग़ लग जाता, तो झट से वह बदल लेती। इसी तरह दो हफ़्ते बीत गये। अब अगर वह धूप में बैठी होती तो सारा दिन धूप में ही बैठी रहती। लाख मिन्नते करने पर भी न उठती। अगर छाया में बैठती तो छाया में बैठी सोचती रहती। कभी रोने लगती, कभी खिलखिला कर हँसना शुरू कर देती। जो भी आता उसकी नकलें उतारती। सात-सात, आठ-आठ दिन कभी कपड़े न बदलती। आँगन में एक पतला सा ध्रेक का पौधा था। उसे आलिंगन में ले लेती, ज़ोर-ज़ोर से झँझोड़ती, जैसे उखाड़ कर रख देगी। कई बार रंगीले पीढ़े में जड़े हुए शीशे के सामने बैठ जाती। घंटों उसमें आँखें फाड़फाड़ कर देखती रहती। एक दिन उसने सिर से पाँव तक सारे कपड़े उतार कर अपने आप को दालान में बंद कर लिया। सारा दिन बंद रही—न उसने कुछ खाया न पिया। आख़िर शाम को एक पड़ोसन ने बड़ी मिन्नतें करके दरवाज़ा खुलवाया। द्वार खुलते ही चुड़ैल की तरह वह पड़ोसन के गले से चिपट गई। बड़ी मुश्किल से उसने आलिंगन खोला और बेचारी उस पड़ोसन की जान में जान आई।

एक दिन एक औरत तालाब पर नहा रही थी। फ़ज़ल नूर का दाँव चला। इसने उसका बच्चा उठा लिया। फिर लगी उसे लोरियाँ दे-दे कर लाड़ करने। कभी उसके पाँव चूमती और कभी उसके हाथों को मुँह में लेती। आख़िर चुपके से बच्चा उठा कर भाग निकली। कहती- यह हवालदार का लड़का है। बच्चा चीखने लग पड़ा, लेकिन फ़ज़ल नूर उसे उठाये-उठाये गलियों में भागती गई। आख़िर बहुत से लोग इकट्ठे हो गए, उन्होने मिल कर मुश्किल से बच्चा वापस लेकर दिया।

"भाग के न जाना। हवलदार होगे, तो अपनी लाइन में, ज़िन्दगी रही तो अब न जाने दूँगी।" बाएं हाथ का अंगूठा पकड़े वह एक रात आप से आप बक रही थी।

"क्या हुआ है फज़लां। क्यों री फज़लां।" उसकी सास ने उसे आकर झँझोड़ा।

"कोई रोको रे इसे! आता है और चला जाता है, कोई तो इसे रोके।" लम्बे-लम्बे हाथ उठाकर वह फिर बोली।

"कौन है फज़लां, यहाँ तो कोई नहीं।" सास ने उसे बाज़ू से दबा कर जगाने की कोशिश की।

"निकल ही गया न आख़िर। हाय अफसोस।" हाथ मलते हुए उसने कहा और फिर खाट पर सिर फ़ेंके सो गई।

फज़ल नूर अभी "गुड्डे-गुड़िया" के खेल खेला करती थी, जब उसका ब्याह हो गया। जिस दिन से होश संभाली, अपने पति का उसने मुँह तक न देखा था। सात साल से फौज में गये सैदाखान को एक बार छुट्टी न मिली कि घर मिलने-मिलाने आ सके। पहले चार पाँच साल तो वह सागर पार रहा, न ही उसकी खोज-ख़बर और न ही सुख संदेश-आया। अब साल डेढ़ से कभी-कभी चिट्ठी आ जाती, लेकिन आने-जाने का वह कभी ज़िक्र नहीं करता। हमेशा इस तरह कुछ लिखता- अफसर मुझ पर बहुत खुश है, अब मैं हवलदार बनने वाला हूँ, हमारी पलटन आजकल अमुक जगह पर है, अगले महीने अमुक जगह पर बदल जायेगी, यहाँ की छावनी कुछ नहीं, वहां की छावनी अच्छी है, किस्मत वाले हो जो तुम अपने वतनों की ठंडी हवाएँ खाते हो, मैं तो सचमुच तरस रहा हूँ अपने कुएँ का पानी पीने को,अपनी धेंक की छाया के लिए- इत्यादि। बड़ी बड़ी लम्बी चौड़ी बातें वह लिखता लेकिन फज़ल नूर के बारे में उसकी शरम उसे कभी कुछ कहने की इज़ाज़त न देती।

गौना बांधे, सीप के सफेद बटनों जड़ी लाल सी रेशमी वास्कट वाले सैदा की धुंधली तस्वीर, फज़ल नूर के दिल के किसी कोने मे खिंची हुई थी। अब से उसने उसके जमादार बनने के बारे में सुना, लम्बे से तुर्रे वाले, लोगों से सलाम पर सलाम लेते हुए एक अफसर की तसवीर उसकी आँखों के आगे आती और उसका दिल बेकरार हो उठता। कितनी कितनी देर वह बाट जोहती रहती। छत पर खड़े कभी कभी वह पहरों देखती रहती, उस पार की सड़क पर से बड़े-बड़े लोग गुज़र जाते, लेकिन सैदाखान न आता। उसके संगी-साथी अब तो बच्चों वाले हो गये थे।

जब उसे पागलपन की शिकायत बढ़ गई, उसने घर की चीज़ों का नुक़सान करना शुरू कर दिया। आने-जाने वालों को लाख-लाख गालियाँ देती। तंग आकर वे लोग उसे साथ वाले शहर में ले गये। बड़े डाक्टर ने अच्छी तरह निरीक्षण करके, उसकी सारी व्यथा घर वालों से सुनी। आख़िर पाँच का नोट उसने लिया और यह

कहते हुए कि दो हफ्ते के बाद फिर दिखाने के लिये लाना, बिना दवाई दिये नूर को वापस लौटा दिया।

बेला चाहे साँझ की थी, लेकिन सूर्य की रोशनी लौट-लौटकर धरती से चिपट रही थी। पंछी हर तरफ अपना कलरव मचाए हुए थे, जैसे उनके चुप हो जाने से कहीं रात ही न आ जाये। परिवार का कोई भी व्यक्ति अभी खेतों से नहीं लौटा था। फज़ल नूर की सास उसे चुप देखकर पिछवाड़े तंदूर पर रोटियाँ लगवाने चली गई। थोड़ा-थोड़ा अंधेरा हो गया, लेकिन फिर भी कोई न आया। आख़िर फज़लां उठी और आँगन में इधर-उधर कुछ ढूंढ़ने लग गई। इसी तरह वह घूम रही थी कि एक हाथ में संदूक और दूसरे में टोकरी उठाए सैदाखान डयोढ़ी में आ निकला। फज़लां देखकर हक्की-बक्की रह गई। फिर झट ही उसने लंबा सा घूँघट काढ़ लिया और दौड़कर दालान में चली गई। सैदाखान ने सूटकेस और टोकरी बाहर ही रख, इधर-उधर देखा, उसे घर में कोई नज़र न आया। कुल्ले पर बांधी पगड़ी को उसने उतार कर तुर्रा ठीक किया।

"क्या बात है फज़लां। डाक्टरनी ने तो तार भेजी थी कि फज़लां सख्त बीमार है।" कहते हुए सैदाखान अंदर चला गया।

काफ़ी अंधेरा हो चुका था। लगभग आध घंटे बाद बूढ़ी रोटियाँ लगा कर लौटी। आँगन में संदूकऔर टोकरी देख कर हैरान ही हो रही थी कि सैदाखान पगड़ी का तुर्रा सँवारता अंदर से निकला। 'बिसमिल्लाह' करते हुए माँ, बेटे के गले लगकर बहुत रोई- "हाय मेरे बच्चे! इतना दिल पत्थर कर लिया तूने। माँ का ही ख्याल किया होता, राह देखते-देखते आँखे पक गईं मेरी।" वह कितनी देर शिकायतें करती रही।

"महीने भर की छुट्टी लेकर आया हूँ इस बार, जी भरके रहूँगा।" सैदाखान ने ऊँची आवाज़ से कहा। दरवाज़े के पीछे खड़ी सुन रही फज़लां नूर के पाँव उसे नीचे से दिखाई दे रहे थे। फिर धीरे से साँकल हिली और पाँव छिप गये।

"अंदर रख आऊँ यह" कहते हुए सैदाखान सन्दूक उठाए दालान में चला गया। उसकी माँ मिठाई और सब्ज़ी वाली टोकरी को खोलने लगी।

बैलों की टन-टन सुन कर सैदाखान फिर बाहर आया और खेतों से लौटे सम्बन्धियों को बड़े प्यार से मिला। सब ने मिलकर खाना खाया और फिर काफी रात गए वे सब उसकी पत्नी की बीमारी और दूसरी घर की बातें करते रहे। सैदाखान हैरान था- उसने तो फज़लां नूर को बिल्कुल राज़ी-खुशी देखा था!

ज्यों-ज्यों दिन गुज़रते गये, फ़ज़लां निखरती गई। फिर वह सयानी और सुघड़ बहू बन गई। सब लोग शहर वाली डाक्टर की प्रशंसा करते ओर कहते- ऐसा कोई दारू पिलाया है उसने बस देखते ही देखते नीरोग कर दिया है लड़की को।

जित्थे तेरे हल वगदे
ओथे लै चल चरखा मेरा!
(जहाँ तेरे हल चलते हें, वहीं मेरा चरखा ले चल)

एक दिन फज़ल नूर अकेली बैठी चरखे की घूँ-घूँ के साथ अपना मधुर स्वर मिलाये गा रही थी। अन्दर लेटा हुआ सैदाखान उसके दर्द भरे बोल सुनता रहा। हुक्के के धुएँ से तरह-तरह के चित्र बनकर उसकी आँखों के आगे आते। उसने देखा - गाढ़ा नीला बुरका पहने फज़ल नूर उसके साथ जबलपुर की छावनी में सैर कर रही है। फिर उसने देखा - एक बच्चा दौड़ता हुआ उसके गले से चिपट गया है, पास खड़ी उसकी माँ हँस रही है। सबसे बड़े साहब की मेम ने फज़ल नूर को मिलने के लिए बुलाया है, उसकी- सेहत और सुन्दरता देख-देख कर हैरान हो रही है। इस तरह के कई स्वप्न आँखों के आगे आते ओर गुम हो जाते। आख़िर फज़ल नूर ने गीत का एक और बोल गाया।

सैदाखान से रहा न गया, आवाज़ देकर उसने उसे अंदर बुला लिया। फज़ल नूर को अपने आप से बड़ी शरम आ रही थी।

"देखो फ़ज़लाँ! सिपाहियों को अपने साथ परिवार रखने का हुक्म नहीं होता।" हुक्के की नली मुँह से निकालते हुए उसने कहा।

फज़ल नूर का रंग बदलते देखकर उसने उसे खाट पर बिठा लिया और दालान के धुंधले अंधेरे में बहुत कोशिश की कि किसी तरह वह मान जाए, लेकिन फज़ल नूर को कभी यह बात स्वप्न में भी न आई थी कि इस बार भी सैदाखान उसे अपने साथ नहीं ले जायेगा। आज जब वह अपने अरमानों के खिलौनों से खेल रही थी कि उन को किसी ने अचानक तोड़ दिया। वह हैरान थी और बेबस। आख़िर उसने सैदाखान की ओर देखा। उसकी आँखें डबडबा आईं।

"हथेली पर तुझे उठाये फिरूं फ़ज़लां या डिबिया में तुझे छिपाये फिरूं।" फजल नूर अपने आँचल से आँसू पोंछ रही थी।

"फ़ज़ला अगर तुम्हारी मरज़ी हो तो नौकरी ही छोड़ दूं।" भावों के प्रवाह में बह रहे सैदाखान ने धीमें से कहा। फज़ल नूर ने झुँझला कर उसकी ओर देखा और फिर उठकर बाहर चली गई।

सैदा खान के जाने से एक दिन पहले घर में हर तरह की तैयारियां हो रही थीं। उसकी बूढ़ी माँ बेटे के लिए "मन्न" पका रही थी। बाकी घर के व्यक्ति कपड़े संभालते और बिस्तरा आदि ठीक कर रहे थे। सैदाखान ने नज़र दौड़ाई, फज़ल नूर कहीं दिखाई न दे रही थी। इधर-उधर ढूँढकर वह छत पर चढ़ गया। देखता है कि पिछवाड़े वाली दीवार के एक छेद में अंगुली डाले फज़ल नूर कह रही थी- "सांप डसे बिच्छु काटे, मर जाऊँ, मर जाऊँ!"- यह सुनकर सैदे के दिल को

बड़ा धक्का लगा। आहिस्ता से वह नीचे आया और पिछवाड़े जाकर फ़ज़ल नूर को जा पकड़ा।

"तुम मुझे ले जाओगे!" फज़ला ने सैदा को देखते ही कहा।

"फ़ ज् ला ।"

"तू मुझे ले जायेगा, ज़रूर ले जायेगा!"

"पगली फजलां।"

"अच्छा न सही। तेरा रास्ता वह और मेरा रास्ता यह।" तेज़-तेज़ डग भरती फज़ल नूर दूसरी ओर से घर चली गई। सैदाखान हक्का-बक्का वहीं खड़ा रहा।

सारी रात गुजर गई। कोठरी में बैठी फज़ल नूर रोती रही, निरन्तर रोती रही। कई बार सैदाखान ने उठकर देखा। घर के सभी लोग सो चुके थे, लेकिन वह रोए जा रही थी। आखिर सुबह मुर्ग़ की कुकड़ू-कूँ सुनाई दी। सैदाखान की मायूसी गुस्से में बदल गई। वह उठा और दूसरों को भी जगाकर स्वयं अड़ोस-पड़ोस में मिलने चला गया। लगभग दो घंटे बाद जब थोड़ी रोशनी हुई तो वह लौटा। सब चीजें तैयार थीं। जाते हुए वह सबसे गले लग लगकर मिला लेकिन फज़ल नूर उनमें न थी। चलते-चलते उसने दालान में झाँका, आप से आप टोकरी उससे धरती पर रक्खी गई- लेकिन फिर उसके दिल में कोई विचार आया, सामान उठाकर सैदाखान आँगन से बाहर निकल गया।

"घड़े घड़वंजियाँ ते!
टुर गिआ माहिया,
हत्थ पई माराँ मंजियाँ ते!"
(घड़े घड़ोचियों पर हैं!"
मेरा साजन चला गया है,
और मैं चारपाई पर खाली हाथ मार रही हूं!)

सिरहाने के ग़िलाफ़ पर कढ़ाई सीखने के बहाने फ़ज़ल नूर सारा दिन अपनी पड़ोसन सहेली के साथ बैठी-बैठी गाया करती। सैदाखान की छोटी-छोटी बातें उसे बताती - एक दिन उसने कहा - पानी का कटोरा लाओ फिर बार-बार कहे, पहले तुम पीयो, तुम्हे मेरी कसम।"-

एक शाम खूब अच्छी तरह उसने दालान की सफाई की। दीवार पर लटकी हुई सैदाखान की तसवीर को अपने पल्ले से झाड़ा। फिर उसे देखने लग गई। वह देखती रही, देखती रही। पता नहीं, कितना समय बीत गया।

"अरे कोई भीतर है।" उसे अपने देवर की आवाज़ सुनाई दी, झट ही वह बाहर आ गई।

"क्या है शेरे? तू इस समय कहाँ।"

"थक-टूट गया हूँ भाभी आज काम करते-करते।"

शेरे का तना हुआ शरीर और उसका तमतमाता चेहरा थका हुआ नहीं था।

टोकरी में सें रोटी निकाल कर फज़ला ने उसे दी और आप घड़ों की जोड़ी सिर पर टिका के पानी भरने चल पड़ी। "यह भी बांका है, लेकिन इसके बड़े भाई की कुछ और ही बात है।" रास्ते में उसका दिल कह रहा था।

इस तरह कितने ही महीने बीत गये। आखिर एक दिन सैदाखान की चिट्ठी आई कि उसे चीन की लड़ाई में जाने का हुक्म हुआ है, लेकिन जहाज पर सवार होने से पहले एक दिन के लिए वह घर वालों से मिलने ज़रूर आयेगा। झांसी से पंजाब। केवल एक दिन के लिए। भावना और जाट की, उसके लिए यह कोई बड़ी ज़्यादती नहीं थी। सात दिन की केवल उसे छुट्टी मिल रही थी। तीन दिन आने में और फिर तीन दिन जाने में। एक ही दिन में वह अपनी रूठी फज़लाँ को मनाने आयेगा और उसके पास कोई अपनी निशानी छोड़ जायेगा। गोलियों की बारिश में बढ़ने वाले सिपाही की यह एक मासूम हसरत थी।

फज़ल नूर ने जब सैदाखान के आने की बात सुनी, तो उसके दिल में एक हिलोर सी उठी, लेकिन फिर उससे बिछड़ने का ख्याल आते ही उसका उत्साह ठंडा पड़ गया। उसे याद था.. किस तरह पिछली बार वह उसे रोती छोड़ कर चला गया था।

"मर्द होते ही पत्थर-दिल हैं।"- वह अपने मन में सोचती और सैदा की ज़्यादती पर उसे बार-बार गुस्सा आता। फिर दिल ही दिल में वह महसूस करती कि केवल उसी के लिए ही तो वह इतनी दूर से आ रहा था। अपनी जवानी, अपनी सुन्दरता, और एक मर्द के दिल में उकसाये प्यार का ख्याल सैदाखान की गलती को और गम्भीर बना रहा था।- "आप ही पहले बुलायेगा, तो मानूँगी।" फज़ल नूर ने अपने दिल में तय किया हुआ था।

सैदाखान के आने से एक दिन पहले किसी बहाने वह अपनी सहेली के साथ बाहर गई। लाल-लाल बेरों की पोटली भर कर उसने अपने परदेसी प्रीतम के लिए एक जगह छिपा दी। दूसरे दिन सुबह सवेरे ही उसने सारे घर की सफाई की। आप भी उसने 'टासे' का गहरा हरा सूट पहना। सारा दिन काम करते हुए पार दिख रही संड़क की ओर देखती रही। कभी-कभी छत पर वह पड़ोसन के साथ बातें करने लग जाती, लेकिन नज़र उसकी दूर किसी के तुर्रे की झलक के लिए टिकी रहती।

शाम हुई तो सैदाखान आ गया। सारा परिवार पहले ही बाट जोह रहा था। दूर-नज़दीक के दोस्त संबंधी मिलने के लिए इकट्ठे हो चुके थे। बड़े प्यार से मिले। हरेक यही शिकायत करता - भई एक रात के लिए आना क्या आना, आये तो इन्सान दो चार दिन तो टिके। सैदाखान ने उन्हें बताया कि एक दिन के लिये भी

उसने बड़ी मुश्किल से साहब को मनाया था।

कितनी रात गये बातें होती रहीं। जंग के बारे में जाट छोटी-छोटी बातें पूछते। एक खतम करता तो दूसरा शुरू कर देता। आख़िर पगड़ी रखने के बहाने सैदाखान भीतर आया। फज़ल नूर दरवाज़े के एक पट के पीछे छिपी खड़ी थी। सैदाखान उसके पास आकर खड़ा हो गया। फज़लां नीचे ही देखती रही। आख़िर उसने धीरे से उसके चुटकी काटी। तब भी वह मौन खड़ी रही। सैदाखान को इस पर गुस्सा आ गया और वह जल्दी से बाहर चला गया।

एक एक करके सारे के सारे गाँव का हाल सैदाखान ने पूछा। फसलों के बारे में बातें छिड़ीं तो आधी रात हो गई। उकता कर फज़लाँ छत पर चली गई। अपनी चारपाई अलग खींचकर उसने लेटने की कोशिश की लेकिन सफेद दूधिया चादर; यूँ लगता जैसे उसे काट रही हो। धीरे से, दबे पाँव वह मुंडेर पर आकर सैदाखान को देखने लगी।

चाँद आज अपने पूरे योवन में आकाश पर चमक रहा था। कितनी ही देर इन्तज़ार करने पर जब सैदाखान न उठा, तो फ़ज़ल नूर बैचेन हो उठी, "नामुराद उठते ही नहीं" उसने आकाश की ओर देखते हुए कहा और फिर बिस्तर पर जा बैठी। सिरहाने तले छिपाई बेरों की पोटली को उसने खोलकर चूमा और फिर बांध कर रख दी। एक बार फिर वह उठी, मुँडेर की ओर गई। वे लोग अभी बातें कर रहे थे। फज़ल नूर के जी में आई कि अपने सैदा को एक कंकर उठाकर मारे। आख़िर बैचेनी में उसने इधर-उधर छत पर टहलना शुरू कर दिया। लगभग आधे घंटे बाद उसने झाँका, सब लोग अपने-अपने घरों को चले गये थे और सैदाखान अपनी माँ को सुबह-सवेरे उठाने की ताकीद करता सीढ़ियां चढ़ रहा था।

जल्दी-जल्दी फज़ल नूर अपनी चारपाई पर चुपके से लेट गई। जब सैदाखान अपने बिस्तर पर आकर बैठा, फज़लां का शिकायतों भरे दिल का प्याला छलकने लगा। सैदाखान एक बार पहल कर चुका था, इस तरह उसे मौन देख कर वह भी जान बूझकर चुपका-सा चारपाई पर लेट गया। चांदनी में लिपटे फज़लाँ के गोरे-गोरे चेहरे को देखने के लिए कितनी देर उसके नयन तरसते रहे। लेकिन हवलदारी की आन उसे कुछ न करने देती। फ़ज़ल नूर भी कोई कम नहीं थी। बिना मिन्नतों के वह उसकी ज्यादती कैसे माफ करती। रोती चिल्लाती को वह बिन बुलाये छोड़कर चला गया था।

फज़ल नूर ने आखिर आँखें खोलीं। लेकिन सैदा को अपनी तरफ देखते हुए, वहीं की वहीं फिर मींच लीं। सैदा का गुस्सा यह देखकर और अधिक बढ़ गया। उसने फैसला कर लिया कि कभी वह उसे नहीं बुलायेगा। फिर झट ही उसने करवट बदल ली। उसे यूँ देखकर फज़लाँ ने उसे निहारना शुरू कर दिया। उसके बालों में लगे खुशबूदार तेल की सुगंध उसे बहुत प्यारी लग रही थी। टस्सर की रेशमी

कमीज़ चाँद की चांदनी में कितनी चमक रही थी! कितने मज़बूत उसके कंधे थे!

"चलो जाने दो गुस्से को, अब एक बार इधर देखेगा तो बुला ही लूंगी।" उसने अपने दिल में सोचा। सैदाखान को भी कहाँ नींद आती। चाँद की चांदनी कितनी भली लग रही थी। फज़लाँ कितनी सुन्दर थी! सुबह उसे लड़ाई में चले जाना था। आखिर उसने करवट ली। अचानक उन दोनों की आँखें टकरा गईं। लेकिन फज़ल नूर ने झट ही फिर बंद कर लीं और इस तरह साँस लेना शुरू कर दिया, जैसे सो रही हो। सैदाखान फज़लाँ के गालों पर बिखरे हुए बालों को देखता रहा, देखता रहा, देखता रहा— ।

"फज़लाँ! ओरी फज़लाँ। अरी उठ भी अब तो दोपहर चढ़ आई।" सास की आवाज़ सुनकर फज़ल नूर घबराई हुई उठ खड़ी हुई। सोने का बहाना करती बेचारी सचमुच सो गई थी।

"और....." फज़लाँ के चेहरे पर एक मुर्दनी सी छा गई-

"सैदाखान तो कब का सुबह-सवेरे ही चला गया फज़लाँ।" सास ने उसकी बात समझते हुए जवाब दिया।

पुल

पता नहीं 'बड़ा गाँव' वालों को हमेशा यह ख्याल क्यों रहता था कि वे बड़े हैं।

और 'छोटा गाँव' वाले कहते, आख़िर किस बात में वे बड़े थे। कौन-सी वह बात थी जिसमें बड़ा गाँव वाले बड़े थे और छोटा गाँव वाले छोटे थे।

नदी के एक ओर गाँव का नाम बड़ा गाँव था और दूसरी ओर गाँव का नाम छोटा गाँव था।

पता नहीं ये नाम कब पड़े, क्यों पड़े, आजकल तो बड़ा गाँव वालों का छोटा गाँव वालों से कोई लेन-देन नहीं था। चार कदमों की दूरी पर बसते उन दो गाँवों में कोई रिश्ता नहीं था। छोटा गाँव की किसी लड़की की मंगनी बड़ा गाँव में नहीं हुई थी। बड़ा गाँव के किसी लड़के का ब्याह छोटा गाँव में नहीं हुआ था।

दो गाँवों के बीच एक नदी थी और यह नदी इनको इस तरह आपस में बाँटे हुए थी कि मजाल है कि कभी एक गाँव के जानवर उधर चर जाएं या उस गाँव का कोई आदमी इधर से गुज़र पाए। हमेशा खून-खराबा होकर रहता था। यह बैर पीढ़ियों से चला आ रहा था। बैर और मुक़दमेबाज़ी, कभी उनकी दीवानियाँ चलती रहती थीं, कभी फौजदारी चलती रहती थीं। बरबाद हो गये थे दोनों गाँव, किन्तु यह़ दुश्मनी खत्म होने में नहीं आती थी।

कभी किसी को छोटा गाँव के लोगों को भड़काना होता तो कहता, कई वर्ष हुए बड़ा गाँव वाले छोटा गाँव की एक लड़की को भगाकर ले गये थे, और इनके शिकायत करने पर उन्होंने लड़की के तीन टुकड़े किये। एक बोरी में डाल कर नदी में बहा दिया। बिल्कुल यही कहानी बड़ा गाँव वाले कहते, लड़की उनकी थी और छोटा गाँव वाले उसे निकाल कर ले गए थे। फिर जब उन्होंने पूछा, तो लड़की के इन्होंने तीन टुकड़े कर दिए।

आजकल यह बैर इतना बढ़ गया था कि गाँव वाले समझते थे कि हर मुसीबत सामने के गाँव वालों के द्वारा भेजी हुई है। बरसात में जब नदी चढ़ती, कभी इस गाँव का किनारा ढहाना शुरू कर देती, कभी उस गाँव की ज़मीन को तोड़कर ले जाती। जिसका नुकसान होता यही समझता इसमें बैरी गाँव की कोई शरारत है। छोटा गाँव में मुर्गे मुर्गियों को बीमारी फैली। जब सारा गाँव तकरीबन खाली हो

गया, तो बड़ा गाँव वालों को यह यकीन था कि बीमारी छोटा गाँव वालों ने अपने गाँव से निकाल कर उनके गाँव भेजी है और वह दिन-रात उन्हीं को कोसते रहते।

फिर बड़ा गाँव में पीलिया फैल गया। पीलिया कुछ दिन पश्चात् छोटा गाँव में भी दिखाई देने लगा। छोटा गाँव वाले बड़ा गाँव वालों को लाख-लाख गालियाँ देते और उनको यह पूरा विश्वास था कि यह बला बैरियों की भेजी हुई है। यह ख्याल किसी को न आता कि पीलिया नदी के पानी के कारण फैला था जिसके एक किनारे से वे पानी भरते थे, दूसरे किनारे से ये भरते थे।

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने दोनों गाँवों के लिए एक साझा कुआँ खुदाने के लिए एक रकम मंजूर की। किन्तु यह फैसला न हो सकने पर कि कुआँ नदी के इस किनारे पर हो या उस किनारे पर हो, कुआँ खुद ही नहीं सका।

बोर्ड के चुनाव के समय एक गाँव जिस उम्मीदवार को वोट देता, दूसरा गाँव अवश्य उसका विरोध करता। चाहे वह कोई भी हो, दूसरे उम्मीदवार को ही वह अपना वोट देते।

हर चौथे दिन किसी न किसी बात पर फ़साद हो जाता। एक बोलता और सारे का सार गाँव इकट्ठा हो जाता। उधर की हवा इधर क्यों आती है, लोगों को यह भी बुरा लगता। उनकी हवा में वे लोग धुआँ इधर भेजते हैं। कभी खाद की बदबू भेजते हैं। इस गाँव में से भीख माँगते हुए फकीर उस गाँव में नहीं जा सकते थे। उस गाँव के आवारा कुत्ते इस गाँव में आयें, बच के नहीं लौट सकते थे। उस ओर से आए बादल बुरे समझे जाते थे। इस ओर से गई अज़ान की आवाज़ पर उस गाँव के मुसलमान नमाज़ नहीं पढ़ते थे। एक गाँव में हर नये मकान के पीछे दूसरे गाँव वाले दो नये कोठे बनाते, चाहे किसी के घर की हंडिया भी बिक जाए। शहर की मंडी में सब्ज़ी लेकर गये दोनों गाँव के किसान एक दूसरे की ज़िद में अपना माल सस्ता फेंक आते और लौटते हुए रास्ते में जब उन्हें होश आता तो एक दूसरे को काट-काट खाने को दौड़ते।

इनकी हर रोज़ खटपट को देखकर अँग्रेज़ सरकार ने सोचा कि यदि एक स्कूल इनके लिए बना दिया जाए तो शायद इनको मिल-जुल कर बैठना-उठना आ जाए। स्कूल बन गया। स्कूल दोनों गाँवों से एक-एक मील दूर था। स्कूल में बच्चे दाखिल भी हुए, किन्तु तीन-तीन, चार-चार वर्ष पढ़कर वे इस योग्य हो जाते कि वे खेतों में अपने माता-पिता के काम में सहायता करें और फिर वे किसी न किसी बहाने टालना शुरू कर देते और फिर स्कूल आना बन्द कर देते।

अंग्रेज़ हर हीला करके हार गये, किन्तु इन गाँव वालों का बैर वैसे का वैसा रहा और फिर अंग्रेज़ चला गया।

अंग्रेजों के जाने के बाद पंजाब में जो दंगे हुए, उनकी कहानी किस को नहीं पता। इस प्रदेश की सारी धरती लहूलुहान हो गई। किन्तु छोटा गाँव वालों ने अपने

मुसलमानों को परों के नीचे छुपाए रखा, कहीं बड़ा गाँव वाले उन्हें कुछ न कहें। बड़ा गाँव वाले अपने मुसलमानों को बैलगाड़ियों में बिठा कर शहर कैम्प में छोड़ आए, कहीं रास्तें में सामने गाँव वाले उन्हें तँग न करें। जब दोनों गाँवों के मुसलमान कैम्प में इकट्ठे हुए, कहने वाले कहते हैं, वहाँ उनकी आपस में लड़ाई हो गई और अलग-अलग गाड़ियों में बैठा कर वे पाकिस्तान भेजे गए।

फिर देश आज़ाद हो गया।

आज़ादी के दिन दोनों गाँव वालों ने अपनी-अपनी ओर नदी के किनारे तिरँगे गाड़ कर खुशियाँ मनाईं। गाने गाये और नाच नचाये। हर गाँव की यह इच्छा थी कि सामने वाले गाँव से उनके यहाँ रौनक ज्यादा हो। गाने वाले और रासधारी बाहर से मँगवाए गए। सारा दिन खुशी-खुशी गुज़र गया। बड़ा गाँव वालों का अपना प्रोग्राम चलता रहा, छोटा गाँव वाले अपनी मर्ज़ी से गा-गा कर, खेल-खेल कर खुश होते रहे। शाम को अपने-अपने गाँव लौटते समय पहले बड़ा गाँव वालों ने झंडा उतारते हुए इंकलाब ज़िंदाबाद के नारे लगाए। उसी समय छोटा गाँव वाले भी झँडा उतार रहे थे। उन्होंने भी इंकलाब ज़िंदाबाद के नारे लगाने शुरू कर दिये। छोटा गाँव वालों के नारे सुन कर बड़ा गाँव वालों ने और ऊँचे नारे लगाए। उनको ज़ोर-ज़ोर से इंकलाब ज़िंदाबाद कहता सुन कर छोटा गाँव वालों ने और भी ज़ोर से नारे लगाने शुरू कर दिये। इस तरह एक दूसरे से बढ़ कर नारे लगाने की जैसे बाज़ी लग गई। छोटा गाँव वाले जितने ज़ोर से इंकलाब ज़िन्दाबाद कहते, बड़ा गाँव वाले उस से भी ज़ोर से पुकारते। इस तरह नारे लगाते वे नदी के किनारे एक दूसरे के आपने-सामने आ खड़े हुए। बांहें उठा-उठा कर वे एक दूसरे से बढ़-चढ़ कर नारे लगाने लगे। ज़ोर से, और ज़ोर से, उससे भी ज़ोर से। उनके गले थक गए, आवाज़ें बैठ गई थीं किंतु वे चिल्लाते गए, चिल्लाते गए। फिर पता नहीं कैसे एक ओर यूँ लगा जैसे सामने से पत्थर आकर गिरा हो। फिर एकदम इस तरफ से दो पत्थर उधर उड़ कर गए। यह देख उस तरफ से चार पत्थर इधर आए और फिर आँख झपकने में जैसे पत्थरों की बारिश होने लगी। इंकलाब ज़िन्दाबाद के नारे लगाते एक दूसरे के ऊपर पत्थर फेंकते, उनमें से कई लहू-लुहान हो गए। जब तक नदी के किनारे पत्थर बाकी थे और जब तक साँझ का अंधेरा गहरा नहीं हो गया, छोटा गाँव वाले और बड़ा गाँव वाले नारे लगाते और एक दूसरे पर पत्थर फेंकते रहे। फिर जब दोनों ओर के लोग अपने घरों को लौटे, हर नवयुवक ज़ख्मी था, शायद ही कोई बूढ़ा होगा जिसको चोट नहीं आई थी।

फिर कई वर्षों तक उनकी फौजदारी चलती रहीं।

नये भारत में नई-नई बातें होने लगीं। नई पंचायतें, नए स्कूल, नए हल, नए बीज, नए अस्पताल, नई सड़कें, सड़कों पर नए पेड़, नए पुल और एक पुल बड़ा गाँव और छोटा गाँव के बीच बहती नदी पर बनना निश्चित हुआ। पहले सरकार

ने उन दो गाँवों में से गुज़रती सड़क को पक्का किया। जब पुल बनाने की बारी आई तो यह फैसला हुआ कि कुछ रकम सरकार खर्च करेगी और कुछ रकम ये दो गाँव खर्च करें; जिनको पुल से लाभ पहुँचना था। गाँव वाले अपना हिस्सा मज़दूरी के रूप में भी दे सकते थे।

फिर जब पुल बनना शुरू हो गया, बड़ा गाँव और छोटा गाँव के नौजवान मिल कर सरकारी इंजीनियरों, मिस्त्रियों और कारीगरों के साथ काम करने लगे। उनकी सड़क पक्की बन चुकी थी और अब उस सड़क पर पुल बन रहा था ताकि बारह महीने उस पर आवाजाही हो सके। अब बरसातों के दिनों में जब नदी चढ़ जाती तो उनकी सब्जी गाँव में ही पड़ी नहीं सड़ा करेगी। अब उन का दूध जो हर रोज़ सवेरे वे छावनी पहुँचाते थे, नदी में बाढ़ के कारण खराब नहीं हुआ करेगा। दोनों गाँवों के किसान तन-मन से इस कार्य में जुट गए। एक ईंट उठाता, दूसरे को पकड़ाता, दूसरा तीसरे को पकड़ाता, तीसरा चौथे को, और ईंटें ठिकाने पर पहुँच जातीं। एक पानी का डोल भरता, डोल दूसरे के पास जाता, दूसरा तीसरे के हाथ में देता, तीसरे से लेने के लिए चौथा आगे खड़ा होता और इस के लिए आगे एक और। इस तरह पानी ऊपर पहुँच जाता। ज्यों-ज्यों पुल खड़ा होता, गाँव वालों का उत्साह बढ़ता जाता और इस नशे में कई बार बड़ा गाँव वाले भूल जाते कि वे बड़ा गाँव वाले हैं और छोटा गाँव वाले भूल जाते कि वे छोटा गाँव वाले हैं। उनको लगता जैसे वे सब एक सड़क पर रहने वाले हैं। एक कुनबे के बशर हैं, एक सपने के दीवाने हैं। काम करते समय दोनों ओर मिलकर काम करते। जब थक-टूट कर सुस्ताते, तो मिलकर बैठते, मिलकर खाते, पीते, हँसी मज़ाक करते, खेलते।

फिर जब पुल के पाये तैयार हो गए, उन पर गर्डर डालना था। मनों भारी गर्डरों को उठानें के लिए बड़ा गाँव और छोटा गाँव का एक-एक नवयुवक इकट्ठा हो गया। ऊँचे-ऊँचे सिर उठाए पुल के पायों को देखकर हर ग्रामीण का उत्साह जैसे ठाठें मारने लगता। बस उन्हें गर्डर जमाने थे और फिर दस दिनों में पुल तैयार हो जाएगा जिस पर से उनकी बैलगाड़ियाँ गुजरा करेंगी, नौजवान गाँव वालों की साइकिलें हर्ल-हर्ल करती फिरेंगी।

जब इंजीनियरों ने इशारा किया, बड़ा गाँव और छोटा गाँव के नौजवानों ने एक दूसरे के कंधा दे कर, एक दूसरे को उत्साह दे कर, एक दूसरे की हिम्मत बढा करके पहले गर्डर को उठा लिया। गर्डर बहुत भारी था। उतना ही नौजवान गाँव वालों को जोश आया। एक दूसरे के बल में बल मिलाते, एक दूसरे को उत्साह देते, बड़ा गाँव और छोटा गाँव वाले गर्डर को उठाकर नीचे से ऊपर ले गए। उन्होंने अपनी साझी मेहनत, साझी सूझ और पूरे सहयोग के साथ गर्डर को अपनी जगह टिका दिया। एक गर्डर, एक और गर्डर और फिर गर्डर पर गर्डर। जब ग्रामीण जुड़ गए, एक-तन हो गए, एक-जान हो गए तो भारी लोहे के गर्डर, मशीनें जिन्हें

बड़ी कठिनाई से हिला सकती थीं, उन्होंने तिनकों की तरह उछाल कर अपने-अपने स्थान पर जमा दिए।

दो दिन और, फिर छोटा गाँव वालों और बड़ा गाँव वालों का पुल तैयार हो गया।

फिर इस गाँव के बच्चे खेलते-खेलते उस गाँव में चले जाते, उस गाँव के मुर्गे-मुर्गियां दाना चुगते इधर आ जाते। इस गाँव की लड़कियाँ ब्याह-शादियों का बुलावा देने के लिए उधर जातीं, उस गाँव के नौजवान आधी-आधी रात तक हीर सुनते इधर बैठे रहते। नदी के किनारे खड़े होकर कोई किसी को आवाज़ देता और कोई आँख झपकने में आवाज़ देने वाले के पास पहुँच जाता। उधर कोई हँसता, इस गाँव में मुस्कानें खिल जातीं। इधर किसी को कोई तकलीफ होती, उस गाँव वाले पुल पार कर के बार-बार पूछ-पूछ जाते। इस पुल का जादू अजीब था।

मूल्यों का अन्तर

यह कहानी लाहौर की है। उस लाहौर की कहानी, जिसमें मुसलमान ही नहीं रहते थे, जहां हिन्दू मीलों तक जगह घेरे बैठे थे। उस लाहौर की कहानी, जिसमें सिक्खों की मोटरें सरसराती हुई घूमती थीं, जिस लाहौर में हिन्दू, सिक्ख और मुसलमान मिल-जुल कर बैठते, साहित्य पर विचार करते, चित्रकला पर बहस करते, सिक्ख उर्दू में कहानियाँ सुनाते, मुसलमान पंजाबी में उनकी प्रशंसा करते।

ऐसी ही एक मजलिस में हमारी मुलाकात हुई थी। मैंने एक कहानी पढ़ी और वह कितनी देर तक उसकी तारीफ़ करता रहा। फिर हमारी मुलाक़ात क्लब में हुई। क्लबवाले कोई नाटक खेलना चाहते थे। मेरा लिखा हुआ नाटक सबको पसन्द आया और उसे पेश करने की ज़िम्मेदारी उसके कंधों पर आन पड़ी। इस तरह हम एक-दूसरे के नज़दीक आ गये।

उन दिनों युद्ध छिड़ा हुआ था। मिलिटरी वालों ने मेरे 'फ्लैट' पर कब्ज़ा कर लिया और मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं कहाँ जाऊँ। मेरे नये दोस्त को मेरी मुसीबत का पता चला। वह मुझे पकड़ कर अपनी कोठी में ले गया, उसकी बीवी उन दिनों मायके गई हुई थी।

मैंने लाख जतन किए लेकिन उसने मुझे वहाँ से आने न दिया। एक महीना बीत गया, दो महीने बीत गये और अब तीसरा महीना बीत रहा था और फिर उसकी बीवी आ गई।

जब दफ़्तर से मैं उस शाम को वापस आया, बेगम साहिबा से मेरी मुलाक़ात हुई। मैं उस सुन्दरी की आंखों में खो-सा गया। परियों की तरह दूध-सा सफेद चेहरा, नाक के नीचे दाईं तरफ़ एक काला तिल, गज़-गज़ भर के बाल, होंठों पर एक मुसर्रत खेल रही थी। मुझ पर मस्ती-सी छा गई। मुझे पता भी न चला और यह तय हो गया कि वे मुझे अपने घर से जाने नहीं देंगे।

उस रात मैंने अपने कमरे में लेटे-लेटे सोचा कि इस लड़की को मैंने पहले भी कहीं देखा है, जैसे हम जन्म-जन्म से एक दूसरे को जानते हों। मुझे याद आया मालरोड पर एक शाम जब वर्षा अभी-अभी बन्द हुई थी और ठंडी-ठंडी हवा वृक्षों के पत्तों पर पड़े हुए पानी को छितरा रही थी, यही लड़की एक पुरबिया से बातें कर रही थी, उसे जैसे कुछ सिखा-समझा रही हो। साइकिल पर जाते हुए मैंने उसे देखा था और फिर मेरी आँखें उस पर से नहीं उठ सकी थीं। उसने भी मेरी साइकिल

के साथ-साथ अपनी गर्दन को घुमाते हुए आँखों ही आँखों में लाखों बातें कर ली थीं, जिस तरह लड़कियाँ अक्सर नहीं करतीं। एक दिन मैंने उसे क्लब के बाहर भी देखा था। शाम के वक्त, पेड़ के नीचे, लम्बी-लम्बी बालियां पहने अपने पति का इन्तज़ार कर रही थी, और वह मर्दों के क्लब के अन्दर बैठा जुआ खेल रहा था।

हम उस घर में इकट्ठे रहने लगे। वे मुसलमान थे और मैं मुसलमान नहीं था। एक जगह खाना पकता था और यह खाना एक ही मेज़ पर खाया-जाता था। अगर मेरी पगड़ियाँ रँगवानी होतीं तो भाभी जान को पता होता कि कौन से रंग मुझे अच्छे लगते हैं। मेरी ग़ैरहाज़िरी में धोबी को कपड़े दे दिए जाते, ले लिये जाते। मेरी पुस्तकों को हर रोज़ झाड़-पोंछ कर उनकी जगह रख दिया जाता, रात को सोते वक्त एक प्याला दूध मुझे ज़रूर पीना होता, और सुबह नाश्ते के वक्त भी एक—क्योंकि मुझे खाली दूध पसन्द नहीं था इसलिए मेरे लिए ओवल्टीन मँगा ली गई थी।

मेरा दोस्त अपनी बीवी पर जैसे जान छिड़कता था। वे कितने ख़ुश थे। बहुत रात गये तक उनके कमरे से खिलखिला कर हँसने की आवाज़ें आती रहतीं। मैं दफ़्तर कभी देर से जाता। उस वक्त भाभी जान अपने नाख़ून साफ़ कर रही होतीं, आइने के सामने खड़ी हुई अपनी भवों को सँवार रही होतीं, बालों को बिठा रही होतीं, उनके लम्बे बाल संभाले न संभलते थे।

एक दिन बातों-बातों में पता चला कि पहले वह माल रोड पर रहा करती थीं, बिल्कुल उसी कोठी में जिसके बाहर मुझे याद था कि मैंने अपनी ज़िंदगी की सबसे सुन्दर लड़की को देखा था।

सुबह जब मेरा दोस्त काम पर जाता तो हर रोज़ भाभी जान उसके साथ टहलते हुए सड़क तक जातीं। उनके साथ उनका बच्चा भी होता। वे कभी बच्चे को पुचकारते, कभी एक-दूसरे की ओर देख कर मुस्कराते, मियाँ बीवी जैसे प्रेम की मीठी ख़ुश्बू वातावरण में भर देते और फिर हर रोज़ जैसे मर्द का सड़क पर बिछुड़ने को जी न चाहता हो, जैसे औरत का अंग-अंग कह रहा हो—'हाय आज न जाओ', और कितनी देर तक वे जीवन-नाटक के इस मनोरंजक दृश्य को जैसे चित्रित करते रहते। फिर मेरा दोस्त बच्चे के कपोल पर एक प्यार-भरा मीठा चुम्बन देता, अपनी बीवी की तरफ़ जादू-भरी निगाहों से देखता, फिर दोनों हाथ उठाते और वह चला जाता। जितनी देर तक उसकी पीठ आँखों से ओझल न हो जाती भाभी जान वहीं की वहीं जैसे जमी हुई देखती रहतीं।

शाम को हर रोज़ रंग-बिरंगे कपड़े पहने और अपने गज़-गज़ भर के बालों को नित नये ढँग से सँवारे, भवों को निखारे, आँखों में काजल डाले, दालान में खड़े होकर वह मेरे दोस्त का इन्तज़ार किया करतीं।

इन्हीं गरमियों में उनके बच्चे को मियादी बुखार हो गया। भाभी जान सारे संसार को भुला कर बच्चे की सेवा में लग गईं। दिन भर रोगी के चोंचले पूरे करती

रहतीं, रात-दिन उसे गोद में लेकर बैठी रहतीं। वह खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना सब भूल गई। क्या मज़ाल जो घर से बाहर एक कदम भी रखा हो। एक शाम को बच्चे की हालत कुछ चिन्ताजनक थी। भाभी जान ने जिस तरह गिड़गिड़ा कर फरियाद की, उनकी काली और मोटी आँखों से जिस तरह आंसुओं की वर्षा हुई, जिस तरह हाथ फैला-फैला कर बच्चों की तरह उन्होंने खुदा से अपने बच्चे के लिए दुआ की, कोई खुदा इतना पत्थर दिल नहीं कि पसीज न जाता। रात भर जब बच्चा कमज़ोरी की वजह से बेहोशी की हालत में पड़ा रहा था, भाभी जान सजदे में गिरी रहीं, माथा रगड़-रगड़ कर-मिन्नत कर करके, दुआएं माँगती रहीं।

बुखार पूरे चालीस दिन रहा। इन दिनों में भाभी जान को मैंने एक माँ के रूप में देखा। अपनी ख़िदमत से, अपनी मेहनत से, अपनी दुआओं से, अपनी मिन्नतों से एक माँ ने अपने बच्चे को बचा लिया।

लाहौर में भाभी जान से बढ़ कर शायद ही कोई सुन्दर स्त्री हो; यह विचार केवल मेरा ही नहीं था, यह बात मैंने दूसरों को भी कहते हुए सुना था। मेरे अंग-अंग, रग-रग में, उनकी प्रशंसा भरी हुई थी।

दिन यों ही बीत रहे थे, मीठे-मीठे, प्यारे-प्यारे; हँसते-खिलखिलाते, कि एक खबर आई, मेरी तबदीली रावलपिंडी की हो गई। लाहौर छोड़ कर रावलपिंडी कौन जाना चाहता है? मुझ से कहीं ज़्यादा दुख मेरे दोस्त और भाभी जान को हुआ। जिस दिन मैं लाहौर से गाड़ी में सवार हुआ, भाभी ज़ान भी सामने खड़ी हुई एक दूसरी गाड़ी में बैठ कर मायके चली गईं।

मायके से जब भाभी वापस आईं तो मैंने अपने दोस्त को रावलपिंडी बुलाया। 'चाहे दो रोज़ के लिए आओ, लेकिन आओ ज़रूर—' मैंने लिखा, 'मैं आपको सुहां नदी की सैर कराऊंगा, हम मरी चलेंगे, वहाँ आजकल मौसम बहुत अच्छा है।' और भाभी जान खुश थीं कि वे पोठोहारिनों को देख सकेंगी जिनका ज़िक्र मैं अक्सर किया करता था, पोठोहार की धरती पर चल-फिर सकेंगी जिसके जादू की मैंने कई कहानियाँ सुनाई थीं।

फिर भाभी जान मुझ से मिलने रावलपिंडी आईं, मेरा दोस्त भी आया। खुशी में, चाव में मेरे पैर ज़मीन पर न पड़ते थे। मैं स्टेशन पर बहुत पहले पहुँच गया और गाड़ी का इन्तज़ार करने लगा। मैंने घर में कमरों को ख़ास तौर से सजाया।

वे तीन दिन के लिए आये थे पर मैंनें उन्हें पूरे सात दिन अपने पास रखा। भाभी जान ने मेरी मोटर की तारीफ़ की, मुझ कुँवारे के घर को पसन्द किया। वह मुझ से छोटी-छोटी बातें करती रहतीं, हल्की-हल्की हँसी हँसती रहतीं, और फिर वे वापस चले गये। मैंने उनके लिए पोठोहार की कढ़ी हुई चादरें, पोठोहार की तिल्लेदार जूतियां, पोठोहार की शलवारें और न जाने क्या कुछ इकट्ठा करके दिया।

फिर मेरी तबदीली लाहौर की हो गई। सर्दियों के दिन थे, मुँह अँधेरे ही मेरी

गाड़ी लाहौर पहुँची। लाहौर का प्लेटफार्म धुंध में लिपटा हुआ था। हाथ को हाथ सुझाई न देता था। प्लेटफार्म पर उतर कर मैं सामान निकलवा रहा था कि पीछे से मेरे दोस्त ने आकर मुझे बगल में लिया, कितना प्यार था उस स्पर्श में। हमारा अंग-अंग एक-दूसरे में बसा जा रहा था, एक नशा था, एक सरूर, मेरी बन्द आँखें जब खुलीं तो धुंध में लिपटी हुई भाभी जान दिखाई दीं। वे बिस्तर पर से यों ही उठ कर आ गई थीं, गरम चादर में अपने आपको लपेटे हुये सिर तक स्याह चादर भाभी जान के चेहरे की सफेदी को एक नई रौनक दे रही थी, एक और ही फबन। मेरी नज़र एक बार भाभी जान पर पड़ी और फिर वहीं की वहीं जम कर रह गई। निगाहों-निगाहों में प्यार के उमड़ते हुए अथाह सागर ने हाथ मिलाया, निगाहों-निगाहों में एक-दूसरे को गले लगा लिया।

इस तरह मैं भाभी जान के मुखड़े की ओर देख रहा था कि बालों की एक लट फिसल कर दाईं ओर उनके कान के पास से झाँकने लगी, गोरे-गोरे कपोल पर एक लट, मेरी आँखे जैसे मस्ती से भर गईं, और फिर मैंने देखा एक और लट बाहर झाँकने लगी, एकदम मेरी ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की साँस नीचे रह गयी। यह तो तराशे हुये बालों की लटें थीं। मेरे चेहरे की घबराहट को देखते हुए आँख झपकते भाभी जान की चादर सिर पर से ढलक गई और शानों पर आ पड़ी, और मैंने देखा कि गज़-गज़ भर के बाल बालिश्त भर की लम्बी लटें हो कर रह गये थे, मोटे भारी जूड़े की जगह गर्दन पर बालों के गुच्छे से बने हुए थे। भाभी जान के बालों में रेशम जैसी कोमलता नहीं थी, कई जगह बल पड़े हुए थे जो पहले नहीं थे, कई जगह पर उभार थे जो इंसान के अपने बनाये हुये होते हैं, और मेरा दिल जैसे टुकड़े-टुकड़े हो गया।

घर पहुँचते तक मैंने अपने आपको सँभाल लिया था। हम नहाये-धोये, सुबह के ज़रूरी कामों से निपट कर जब खाने के कमरे में नाश्ते के लिए हम इकट्ठे हुए, तो मैं अपने को सँभालने में सफल हो सका था। फिर भी ज़्यादा देर तक मैं बच्चे के साथ खेलता रहा।

वह सुबह, वह दुपहर, वह शाम और फिर इसी तरह दिन गुज़रने लगे। हमारा स्नेह फूलों की महक की तरह था और इस स्नेह को भाभी जान ने कम न होने दिया। ज्यों-ज्यों मैं और निकट होता जाता भाभी जान के स्वभाव की सुन्दरता मुझे और भी मोहित करती जाती।

जो ज़्यादती भाभी जान ने अपने बालों से की थी, मैं उसे भूल गया। मुझे उनके गज़-गज़ भर के रेशमी बाल अब कभी याद न आते, मुझे उनका जूड़े में मोतिया की कलियाँ, धीरे-धीरे सब कुछ भूलने लगीं।

फिर उसी डगर पर ज़िन्दगी हँसती हुई चल पड़ी।

एक दिन भाभी जान की दो तस्वीरें बन कर आईं, एक उनके पिछले साल

की तस्वीर थी और दूसरी नई। जब मैंने वे तस्वीर माँगी तो उन्होंने कह दिया; उनमें से एक मैं ले सकता हूँ! जब अपने कमरे में आ कर मैंने अपनी मेज़ पर उस तस्वीर को देखा तो मैं हैरान रह गया, मैंने भाभी जान की नई तस्वीर को चुना था। खुले और तराशे हुये घुँघराले बाल उनके शानों तक पड़े थे, दाईं तरफ़ गरदन के पास, नीचे की ओर एक लट उलझी हुई बाहर झाँक रही थी, बालों का उलझाव भाभी जान के चेहरे को भरा-भरा जता रहा था।

मैंने इस बात की ओर कोई खास ध्यान नहीं दिया।

कई दिन बीत गये। एक रोज़ भाभी जान का दफ़्तर में टेलीफोन आया—एक तो घर आते हुये रास्ते में से उनके लिये उनकी टानिक 'विन्कारनिस' लेता आऊँ और दूसरे अगर मुझे तकलीफ़ न हो तो उनके 'हेयर ड्रैसर' से कहता आऊँ कि वे अगले रोज़ दस बजे बाल सैट कराने आ रही थीं।

मैंने लाख जतन किये, लेकिन मैं भाभी जान के हेयर ड्रैसर के यहाँ न जा सका। पहले तो मेरी साइकिल उस सड़क की तरफ़ न जाती, लेकिन जब मैं मजबूर हो गया तो बाहर बरामदे में खिलौनों की दुकान के सामने खड़ा-खड़ा लौट आया।

यहाँ से मैं भाभी जान की टानिक खरीदने के लिये दवाफ़रोश की दुकान पर गया। टानिक वाले के यहाँ जाना बड़ा ज़रूरी था। गर्मियों में हमेशा भाभी जान की भूख कम हो जाती थी और ख़ाने से कोई पाँच मिनट पहले वे विन्कारनिस के दो-चार चम्मच सुबह-शाम पिया करती थीं। जिस रोज़ मुझे बुखार आया था, उससे अगले रोज़ मुझे भी दो चम्मच अपनी टानिक के भाभी जान ने पीने के लिए कहा था। मैंने दवाई मुँह से लगा कर छोड़ दी थी। मुझे इस में से खट्टी-खट्टी बू आई थी।

दवाफ़रोश की दुकान पर वह टानिक नहीं था। उन्होंने सामने की एक दुकान की ओर इशारा करके बताया कि विन्कारनिस वहां से मिल सकती थी। मेरी समझ में नहीं आ रहा था, सामने तो कोई दवाइयों की दूकान नहीं थी जिसकी तरफ़ दुकानदार ने इशारा किया था। मैंने उससे दुबारा पूछा—उसने फिर नाम लेकर बताया—'दादा भाई एण्ड संस, वाईन मर्चेंट।' मैं हैरान रह गया, जैसे मुझे यकीन न आ रहा हो। एक सवाल-सा अपने चेहरे पर लिए हुए मैं दुकानकदार की तरफ़ देखने लगा—"सरदार साहब विन्कारनिस एक तरह की शराब है और हम उसके लाइसेंस के बिना अपने यहां नहीं रख सकते।"

'विन्कारनिस' एक तरह की शराब है, मेरे हाथों के तोते उड़ गये, मैं पसीना-पसीना हो गया। मुझे ज़ोर का एक चक्कर आया और मैं गिरते-गिरते बचा।

मुझे यकीन न आता था। ज़रूर भाभी जान को किसी डाक्टर ने धोखा दिया होगा। वे तो इस ज़हर को टानिक समझ कर पीती हैं। मैंने सोचा, मैं उन्हें बताऊँगा कि उन्हें कैसे किसी बेईमान डाक्टर ने गलत रास्ते पर डाल दिया था।

मैं तेज़-तेज़ साइकिल चलाता हुआ, हाँफता हुआ घर पहुँचा। साइकिल नौकर

को पकड़ा कर मैं भाभी जान के कमरे की तरफ़ गया। बरामदे में भाभी जान और मेरा दोस्त खड़े थे। मेरे दोस्त ने एक सिगरेट फेंकने से पहले दूसरा और सुलगा लिया। वह सिगरेट लगातार पिया करता था, और मुझे अपने दोस्त की इस आदत से सदा डर लगता रहता था।

मेरे दोस्त ने नया सिगरेट सुलगाया ही था कि पीछे टेलीफोन की घंटी बजने लगी। सिगरेट भाभी जान को पकड़ा कर वह टेलीफोन सुनने लगा, इसका दूसरा हाथ खाली नहीं था।

टेलीफोन पर बातचीत कुछ लम्बी हो गई, मैं और भाभी जान बरामदे में खड़े उसका इन्तज़ार करते रहे कि टेलीफोन अब खत्म होता है, अब खत्म होता है। भाभी जान की उँगलियों में पकड़ा हुआ सिगरेट सुलग रहा था, सुलग-सुलग कर आधा रह गया था। 'डार्लिंग तुम्हारा सिगरेट तो ज़ाया जा रहा है, मैं पीलूं?' और भाभी जान ने सिगरेट को अपने होंठों में दबा लिया। एक कश लगाया। कश लगाने की देर थी कि सिगरेट भाभी जान की उँगलियों में से निकल गया, उन्हें बड़े ज़ोर से खाँसी आई और वे खाँसती-खाँसती अपने कमरे में चली गईं।

भाभी जान के होंठों की तरफ़ सिगरेट जाता हुआ देख कर मुझे यूँ लगा जैसे दुनिया खत्म हो रही है। फिर जब मैंने उनके अन्दर से धुआँ निकलता हुआ देखा तो मुझे ऐसा लगा जैसे प्रलय आ रही है। उनके हाथों से सिगरेट उछल कर गिरा और वे ज़ोर से खाँसीं तो मुझे लगा जैसे भूचाल आ गया है। मुझे पता नहीं कब मैं वहां से चल कर अपने कमरे में आया, कब मैंने कपड़े बदले, कब मैंने पलंग की चादर उठाई और कब मैं लेट गया।

मैंने रात को रोटी न खाई, मुझ से पलंग पर से उठा न गया। भाभी जान और मेरे दोस्त का खाना बाहर था, खाने के बाद उन्हें सिनेमा भी देखना था।

रात के एक बजे जब वे दोनों आये तो मैं छत की ओर फटी-फटी आँखों से देख रहा था, चिन्ता में डूबा हुआ, विचारों में खोया जाग रहा था कि भाभी जान और मेरा दोस्त मेरे कमरे के पास से गुज़रे।

मैंने पढ़ने की कोशिश की, उस रात मुझ से पढ़ा न गया। मैंने लिखने की कोशिश की, उस रात मुझ से लिखा न गया। मैंने भगवान का नाम लेने का यत्न किया। मेरा जी उस रात किसी बात में न लगा। डेढ़ बज गया, दो बज गये, तीन बज गये और फिर चार का वक्त हो गया। सामने सड़क पर लोग चलने-फिरने लगे थे और कोठी में अभी तक सब सो रहे थे। धीरे-धीरे अपनी कमर को घसीटता हुआ मैं उठा। सड़क पर से मैंने दो ताँगे तय किए। अपने कमरे से अपना सामान जमा किया। उसे ताँगे में भरा और दिन निकलने से पहले ही वहाँ से चला आया। ताँगे में बैठे हुये मैंने बरामदे से परे अपने खुले हुये कमरे की तरफ़ देखा। वह मसजिद की तरह खाली पड़ा था—सुनसान!

लाज ताई की चोरी

सारे गाँव में लाज ताई; लाज ताई होता रहता। कोई तीज त्योहार हो, ब्याह-शादी हो, दुख-सुख हो, कहीं चार औरतें इकट्ठी हो जाएं, कुएँ पर, तालाब पर, मन्दिर में, शिवालय में लाज ताई का ज़िक्र अवश्य आ जाता।

जब से लाज ताई लौटी थी, वह सारे के सारे गाँव का जीवन-आधार बन गयी थी। दूध से सफेद बाल, ऊँचा लम्बा कद, धोबी के धुले हुए वस्त्र! लाज ताई बाजार में खड़े होकर मर्दों को समझाती; कैसे सफाई रखनी चाहिए, कैसे मिल कर बैठना चाहिए, कौन सा मामला कैसे निपटाना चाहिए। यदि पंचायत घर बनाना था तो लाज ताई सब से आगे थी। यदि प्राथमिक स्कूल को मिडल तक करवाना था, तो लाज ताई सब से अधिक उत्सुक थी। मन्दिर के आँगन में फर्श करवाना था, लाज ताई की देख-रेख में सारा कार्य हुआ। गुरुद्वारे की चारदीवारी बनी, लाज ताई से डरते गली-मोहल्ले में कोई कूड़ा नहीं फेंकता था। किसका रिश्ता किससे हो, कोई दहेज में क्या दे, कोई वरी में क्या लाए, किस बीमारी में कौन सी दवा खाई जाए, सब्ज़ियां बोई जायें, फूल कौन से लगाये जायें, बच्चे कहाँ-खेलें, औरतें अपने अवकाश का समय कैसे गुज़ारें, मर्दों की क्या-क्या ज़िम्मेदारियां हैं, कौन सा मेला कैसे मनाया जाये। किस ऋतु में क्या किया जाए। हर मामले; हर समस्या के बारे में लाज ताई के अपने विचार थे। हमेशा वही होता जो वह कहती।

इसलिए कि ताऊ किशनसिंह के साथ ताई लाज ने पिछले 30वर्ष देश का चप्पा चप्पा घूम कर देखा था। अब जब ताऊ किशन सिंह नौकरी से अवकाश पा कर आया, लाज ताई केवल एक सूबेदार मेजर की पत्नी ही नहीं थी, गाँव में स्कूल मास्टर को छोड़कर सबसे अधिक पढ़ी लिखी थी। अच्छा खाती, अच्छा पहनती, दिल में गरीब-गुरबा का दर्द रखती।

लाज ताई का बेटा और बेटी दोनों ब्याहे जा चुके थे। यह कोई लाज ताई के कोख-जाये थोड़े थे। एक के बाद एक को उसने गोद लिया और फिर वे बड़े हुए, ब्याहे गये। अब अपने-अपने घरों वाले थे। अब तो लाज ताई उनको आते-जाते के हाथ सौगातें भेजती रहती। बाकी समय उसका खाली होता था ओर वह गली गली फिरती, घर-घर जाती, गाँव की हर ज़रूरत का ख्याल रखती। ग्राम-वासियों की हर कठिनाई में हाथ बँटाती। लोग छोटे-छोटे सवाल लेकर उसके पास आते रहते, वह सिफारिशें करती रहती, लोगों के काम चलाती रहती। हर एक की चिन्ता में

चिन्तित होती, हर एक की मुसीबत को अपनी मुसीबत समझती। हर एक के दुख को देख उसका अपना दिल दुखी होता।

ताई लाज का पति सूबेदार मेजर किशनसिंह सारी आयु नौकरी करके; स्वभाव का कुछ इस तरह हो गया था कि वह न ज्यादा लोगों में बैठता और न ज्यादा बातें करता। साप्ताहिक सैनिक समाचार अभी भी उसकेपास आता था और वह जो उसे एक सिरे से पढ़ना शुरू करता, विज्ञापन तक पढ़ता जाता। अभी एक अंक खत्म करता कि नया अंक आ जाता। साँझ-सवेरे सूबेदार मेजर लम्बी सैर करता। बाकी जो समय बचता गाय, भैंस, घोड़ी आदि घर के डंगरों की देखभाल में व्यतीत हो जाता। लवेरों का दूध स्वयं दोहता था। थोड़ी-बहुत जो उसकी जद्दी जमीन थी उसकी खेती अपनी निगरानी में करवाता। सीधा-सादा साधारण जीवन गुज़ारता, लम्बे झमेलों में न पड़ता और हमेशा खुश रहता।

लाज ताई और तरह की थी। वह तो लोगों की सेवा करके खुश थी। जहाँ जहाँ वह रही यथा-शक्ति अड़ोसी-पड़ोसियों, गली मोहल्ले वालों की ज़रूर ख़िदमत करती रही। और अब; जब से वह गाँव लौटी' उसको लोगों की छोटी-छोटी आवश्यकताओं; बड़ी-बड़ी ज़रूरतों, वहम, गरीबी, बीमारी, अशिक्षा को देखकर अत्यन्त घबराहट होती ओर आठों पहर कोई न कोई धुन उस पर सवार रहती।

और फिर लाज ताई की कीर्ति फैलने लगी। अपने गाँव से उसे कुछ फ़ुरसत मिलती तो वह साथ वाले गाँव चली जाती। वहां से फारिग़ होती तो उससे अगले गाँव। कई और औरतें उसके साथ काम में जुट गईं। सारे के सारे इलाके में उन्होंनें एक जागृति पैदा कर दी।

लाज ताई खुश थी, बहुत खुश। कभी-कभी उसे याद आता कैसे कई वर्ष पहले उसी गाँव में उसको लोग 'लाजो,लाजो' कह कर पुकारा करते थे। तब तो वह केवल एक फौजी सिपाही की पत्नी थी। सारा दिन अपने घर के झमेलों में फँसी रहती। कभी यह कर, कभी वह कर, कभी इधर गुँजाइश, कभी उधर बचत। ज़रूरतें, आवश्यकताएं, माँगे। एक भटकन-सी उसे लगी रहती। काश एक बच्चा उसके हो जाये।

अब तो सब इलाके के बच्चे लाज ताई के बच्चे थे। अब तो उसको कभी इस बात का ख्याल भी नहीं आया था।

इतना बड़ा, इतना खुला लाज ताई का आँगन था। दूध, दही, मक्खन के पेड़े, ढेर-सा अनाज, घर के भीतर, बाहर सत्कार। लाज ताई खुश थी, बहुत खुश।

लाज ताई का पति सूबेदार मेजर किशनसिंह सारा दिन खुशी-खुशी अपने धंधों में लगा रहता। कभी चिट्ठियां पढ़ता रहता; कभी चिट्ठियां लिखता रहता। अच्छा खाता, अच्छा पहनता, हर समय प्रसन्न, हर समय खिला। ऐसे देवता पति की पत्नी लाज ताई खुश थी, बहुत खुश।

उस साल पंचायत के जब नवे चुनाव हुए तो लाज ताई को गाँव की पंचायत का प्रधान चुना गया। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चुनाव आये तो भी लोगों ने उसे अपना प्रतिनिधि निर्वाचित किया। सब की राय थी कि प्रदेश की विधान सभा के चुनाव में भी लाज ताई को वे वोट देंगे।

लोग हैरान होते इस आयु में लाज ताई में कितना सेवाभाव, कितनी लगन, कितना उत्साह था। दिन-रात वह किसी न किसी समस्या में खोई रहती।

गाँव में कोई झगड़ा होता तो दोनों पंच लाज ताई का निर्णय कबूल करने के लिए तैयार हो जाते। इलाके की हर औरत अपने भेद उसके सामने आ खोलती। जो बात किसी को पता नहीं होती उसकी सूचना लाज ताई तक अवश्य पहुँच जाती। चोर, डाकू लाज ताई के ललाट पर आभा देख कर कानों को हाथ लगाते और अपनी भूल बख्शवा लेते।

यदि झूठे को झूठा कोई कह सकता था तो वह लाज ताई थी। यदि ज़रूरतमन्दों की ज़रूरत कोई पूरी कर सकता था तो वह लाज ताई और उसके साथी थे। बेकारों के लिए काम ढूँढती, अनपढ़ों की शिक्षा का प्रबन्ध करती। नित्य नयी-नयी बातें गाँव वालों को बताती। लाज ताई खुश थी, बहुत खुश।

किन्तु पिछले कुछ दिनों से लाज ताई कुछ उखड़ी-उखड़ी, घबराई-घबराई सी रहती। जिस काम में हाथ डालती उसे बीच में ही छोड़ कर घर लौट जाती। किसी से बातें कर रही होती, बातें करते-करते उसकी विचारधारा टूट जाती ओर किसी सोच में वह खो जाती।

फिर लाज ताई; जहाँ तक संभव हाता घर से न निकलती, अन्दर घुसी बैठी रहती। हर समय बीमार, हर समय गिरी-गिरी, जब कोई उसे मिलने को आता तो वह टाल जाती। अपने पति सूबेदार मेजर किशनसिंह को काट खाने को दौड़ती। घर में सब हैरान होते, बाहर के सब हैरान होते, लाज ताई को हुआ क्या है। वह तो सारे गाँव की रौनक थी।

और फिर लाज ताई सचमुच बीमार हो गई। एक मास, दो मास, तीन मास। सब कहते लोकसेवा करते उसकी सेहत जवाब दे गई है। क़िन्तु लाज ताई ने अपने गाँव; और साथ के गाँव में कितने कार्य आरम्भ किए हुए थे, उसके अतिरिक्त उन सबको कौन चला सकता था? सारे इलाके में उसकी प्रतीक्षा होती रहती।

कोई तीन मास के पश्चात लाज ताई चाहे ठीक तो हो गयी तब भी प्रायः वह लेटी ही रहती थी। कमरे में घुसी किवाड़ बन्द किये रहती।

उसके साथ काम करने वाली औरतें सब हैरान थीं।

फिर उनमें से कोई तीन; जो लाज ताई के बहुत निकट थीं; एक दिन मिल कर उसके घर आईं।

लाज ताई छत पर ममटी के उस ओर खड़ी दूर क्षितिज पर निकल रहे सूर्य की पहली किरण को देख रही थी। चुपके से पीछे से आई सहेलियों को देखकर

वह घबरा गयी। उसक ऊपर की साँस ऊपर, नीचे की नीचे रह गयी। बेबस, वह जाती भी तो कहाँ? छुपती भी तो कहाँ। सामने सीढ़ियों से तो उसकी सहेलियाँ आ रही थीं। लाज ताई बल खाती वहीं की वहीं खड़ी रही।

"तुझे हुआ क्या है लाज ताई?"

सामने आ रही लाज ताई की साथी औरतें उससे पूछ रही थीं। उनके सब कार्य रुके हुए थे। प्रतीक्षा करते-करते वे थक गयी थीं। पहले तो खैर वह बीमार थी। अब कितने दिनों से भला-चंगी हो गई थी। फिर भी क्यों वह बाहर नहीं निकलती थी। उसके बिना कौन इतने काम संभाल सकता था। इतने काम जो उसने आरम्भ कर रखे थे।

फिर उसकी सहेलियों में से एक की नज़र लाज ताई की भारी-भारी पलकों की ओर गई और वह चुप हो गईं। फिर दूसरी की नज़र लाज ताई के गोल-गोल हलके हलके फूले हुए चेहरे की ओर गई और वह चुप हो गई। फिर लाज ताई की तीसरी सहेली की नज़र उसके कुरते पर पड़ी। सामने से ज़रा-ज़रा उठा हुआ था।

फिर उसकी तीनों सहेलियाँ हँसने लगीं। हँसती-हँसती तीनों लाज ताई से लिपट गईं। हँसती जायें और उसको प्यार करती जाएं। हँसती जायें और उसे लाड़ करती जायें। उसके दूध से सफेद बालों को कोई चूमती, कोई उसके गोल गुदगुदे गालों को चूमती। कोई उसके हाथों को बार-बार दबाती, उन्हें अपने होठों के साथ लगाती, अपनी आँखों के साथ छूती।

लाज ताई मां बनने वाली थी। और उसकी सहेलियाँ प्यार में आ कर उसे नीचे उठा लाईं। हँसती जायें और उसे पुचकारती जायें, हँसती जायें और उसे छेड़ती जायें, हँसती जायें और गाती जायें। उनकी आवाज़ सुनकर गली-मोहल्ले वाली भी आ गईं। गीत का स्वर ऊँचा होता गया, तेज़ होता गया। गाते-गाते लाज ताई की सहेलियाँ नाचने लगीं। फिर जो कोई सुनती लाज ताई के आँगन की ओर चली जाती। इस गीत में और इस नृत्य में सारा गाँव सम्मिलित हो गया। गा-गा; नाच-नाच के औरतें न थकतीं, न हारतीं।

फिर इस गीत में, इस नाच में लाज ताई खुद भी शामिल हो गई।

ज़रूरत है एक भगवान की

इलाहाबाद तीर्थ स्थान है। इलाहाबाद में तीन नदियाँ आकर मिलती हैं। इलाहाबाद तीर्थ स्थान। इलाहाबाद में आनन्द भवन है जहाँ जवाहरलाल नेहरू का जन्म हुआ। वह बरामदे हैं जिनमें जवाहरलाल खेला करता था। घास के वह मैदान हैं जिनमें वह तितलियों के पीछे दौड़ता फिरता था। इलाहाबाद तीर्थ स्थान है। इलाहाबाद में एक मेरा मित्र है जिसने हज़ारों रुपये मासिक की सरकारी नौकरी को एक लड़की की मुस्कान पर निछावर कर दिया। बादशाहत को छोड़कर अब वहाँ एक फ़्लैट में रहते हैं। खुश; बहुत खुश!

हमने सोचा कोई छः महीने लखनऊ रहें और इलाहाबाद न देखें, यह बड़ी ज़्यादती होगी। कुछ दिन हुए जब हमारा लखनऊ से इन्दौर का तबादला हुआ, हमने फैसला किया कि हम इलाहाबाद होते हुए जायेंगे, चाहे यह रास्ता ज़रा लम्बा है।

लखनऊ से निकलते-निकलते कुछ इस तरह देर होती रही कि जब हम इलाहाबाद पहुँचे; मेरे पास केवल एक शाम बचती थी, चाहे कहीं गुजार लूँ। यह शाम मैंने अपने मित्र के यहाँ गुज़ारी। यह देखने के लिए कि जब कोई सम्पूर्ण संसार को कुर्बान करने के लिये तैयार हो जाता है किसी एक को पाने के लिए, और फिर जब वह चीज़ उसे मिल जाती है तो उसे कैसे महसूस होता है। इस तरह के घर के परदों का रंग कैसा होता है। इन लोगों की चाय से खुशबू किस तरह की आती है।

परन्तु मेरी पत्नी संगम जाये बिना चलने के लिए तैयार नहीं थी। हमारे बच्चे चाचा नेहरू का घर देखने के लिए बड़े उत्सुक थे।

फैसला यह हुआ कि अगली सुबह मैं इन्दौर चला जाऊँगा, बच्चे और बच्चों की माँ बाद में आ सकते थे।

इलाहाबाद से खंडवा। खंडवा से छोटी लाइन इन्दौर। इन्दौर डाक बंगले के सुनसान कमरे। डाक बंगले से दफ़्तर तक टूटी हुई सड़क की धूल। मैं अभी संभल भी नहीं पाया था कि इलाहाबाद से खबर आई कि हमारी चार साल की कली जैसी कोमल बच्ची पर खेलते खेलते दीवार आ गिरी थी और उसकी हड्डियाँ कई जगहों से टूट गई थीं।

टेलीफोन का चोंगा मेरे हाथ में पकड़ा का पकड़ा रह गया।

इन्दौर से इलाहाबाद हवाई सर्विस नहीं है। इन्दौर से खंडवा छोटी लाइन की

झिक-झिक। खंडवा पर प्रतीक्षा। फिर एकपिछड़ी हुई गाड़ी। और फिर इलाहाबाद।

आज तीसरा दिन था।

मैने न कुछ खाया था न कुछ पिया था। मछली की तरह मैं तड़प रहा था। दीवार की दीवार मेरी बच्ची पर आन पड़ी थी--- मैं बार-बार सोचने लग जाता—. सीमेंट से जुड़ी हुई ईंटें! खेल रही होगी, गा रही होगी--- कैसे चहकती फिरती थी सारा दिन! --- और ऊपर से ईंटें आन पड़ी होंगी। कैसे बिलबिलाई होगी! महक रही किसी कली पर पथराव होने लगे। खड़ी खड़ी उलटी जा पड़ी होगी। कैसे चीखी होगी! खेल रही की उठी बाँहे उठी की उठी रह गई होंगी। गा रही के बोल उसके मुँह में रुक गये होंगे। कैसे तड़पी होगी! और उसकी माँ ने जब सुना होगा, देखा होगा, उसकी तो ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की नीचे रह गई होगी। ईंटों के नीचे से मेरी बच्ची को किसने निकाला होगा? किसने उसे उठाया होगा? किसने अस्पताल टेलीफोन किया होगा? ऐम्बुलेंस किसने मंगवाई होगी? पता नहीं किस डाक्टर ने निरीक्षण किया होगा? डाक्टर जल्दी आया होगा कि नहीं। एक्सरे ली गई होगी। हड्डियों को बांधा गया होगा। मेरी बच्ची बेहोश पड़ी होगी। उसकी माँ पर क्या गुज़री होगी? अकेली! पराये घर! आख़िर यह क्यों हुआ? क्यों चार वर्ष की एक कोंपल को यूँ चोट दी? क्यों? उस मासूम बच्ची ने क्या कसूर किया था? क्यों मेरी एक ही एक बेटी पर यूँ ईंटों की दीवार आ गिरी थी? कितनी लाड़ली! मैं तो उस पर जान कुर्बान कर दूं। अस्पताल चार क़दम पर था। यह हादसा सफ़र में ही क्यों हुआ? और फिर जब मैं उन्हें अकेला छोड़कर चल चुका था। एक दिन मैं चला और दूसरे दिन यह मुसीबत आन पड़ी। आख़िर कोई बात भी हुई। बच्ची को सज़ा, बच्ची की माँ को सज़ा, बच्ची के पिता को सज़ा। भगवान भी अजीब है। भगवान? भगवान कोई नहीं। यदि मुझे चौथे दिन लौट कर इलाहाबाद लाना था तो फिर मुझे भेजा ही क्यों उसने जिसकी मर्ज़ी के बिना कोई पत्ता तक नहीं हिलता? हद है बदइन्तज़ामी की। जीवन एक बहुत बड़ा हादसा है। भगवान कोई नहीं। यह हमारा वहम हैं। दो पैसे की हंडिया लेते समय आदमी ठोंक बजा लेता है। मैं ने इस बरतन में झाँक के देख लिया है। भगवान कोई नहीं। और यदि है भी तो इस तरह की बदइन्तज़ामी जिसके कामों में है उस भगवान से किसी का क्या मतलब? भगवान कोई नहीं! भगवान कोई नहीं!!

मैं इस तरह की उधेड़-बुन में ही था कि टैक्सी अस्पताल में पहुँच गई। सामने मेरी बच्ची पड़ी थी। काली-नीली। तख्ता का तख्ता। आँखें बुझी हुई! होंट सूखे हुए। बाकी शरीर चादर से ढ़का हुआ था। मैने देखा और मेरे नथने फड़कने लगे। बच्ची फूट पड़ी। मैं उसे चूम-चूम कर न थकता न हारता।

फिर मेरी पत्नी ने चादर हटा कर दिखाया। छाती तक सारे का सारा निचला शरीर पलस्तर में था। मैं ने देखा और आँखें बन्द कर लीं। बच्ची बिल्कुल हिल-डुल

नहीं सकती थी। अंग-अंग उसका जकड़ा हुआ था, बन्धा हुआ था। केवल सिर बचा था। कभी इधर कर लेती कभी उधर फेर लेती।

मुझे याद आया एक बार पड़ोसियों के एक बच्चे ने हमारी बच्ची को बाज़ू से पकड़ कर तनिक झंझोड़ा था और मेरी पत्नी ने इस तरह उस बच्चे की ओर देखा था जैसे आँखों ही आँखों से उसे खा जायगी। मैं बार-बार अपनी पत्नी की ओर देखता। मेरी नज़रें कह रही थीं—- उस ज़िसने हमारी बच्ची को यह चोट दी है उसके बारे में तुम्हारी क्या राय है?

और सामने मेज़ पर पड़े एक लिफाफे को उठा कर मेरी पत्नी उसमें से मुझे एक प्रिन्ट दिखा रही थी। यह हड्डी टांग की है। बीच में से चटखी है। देखो तो हड्डी के ऊपर हड्डी चढ़ गई है।"

फिर एक लिफाफे को उठाकर "यह हड्डी कमर की है। यह दो जगह से टूटी है। यहाँ से भी; वहाँ से भी। यह हड्डी शरीर की सबसे महत्वपूर्ण हड्डी होती है। ऊपर के शरीर का सारा बोझ इस हड्डी पर तो पड़ता है।"

"और यह हड्डी" मेरी पत्नी तीसरा लिफाफा उठाकर मुझे दिखाना ही चाहती थी कि मैं ने प्रिन्ट उसके हाथ से छीन लिया। मुझ से और नहीं सहन हो सकता था। कुरसी से उठकर मैं खड़ा हो गया। मेरे दाँत मेरे होंटों में खुभ रहे थे। सिर हिलाता मैं कमरे में टहलने लगा।

मुझे याद आया हमारे दूसरे बच्चे को एक बार स्कूल में उस्तानी ने थप्पड़ दे मारा था और मैं ने उस स्कूल से बच्चे को हटा लिया था। "बच्चे को मारने का किसी को अधिकार नही" मैं बार-बार कहता था। और यह चोट जिसने दी थी मेरी बच्ची को उसका कोई क्या करे? वह कोई है भी? और बार-बार मैं सिर हिलाता, भगवान कोई नहीं! भगवान कोई नहीं!!

सामने खिड़की के पास एक कैलेण्डर लटक रहा था। कैलेण्डर के चित्र में भगवान मसीह एक चरवाहे के रूप में अपनी जान को अकथनीय खतरे में डाल पहाड़ी के एक शिखर पर आ खड़ी किसी भेड़ को बचाने की कोशिश करते दिखाया था। कैलेण्डर के उस वरक को मैने खींच कर उसे अपनी मुट्ठी में मसल दिया।

मेरी पत्नी बैठे-बैठे मेरी ओर देख रही थी। मेरी आँखें क्रोध से लाल हो गई थीं। मेरा शरीर दहक रहा था।

मेरा मुंह झाग से भर रहा था।

मेरी पत्नी जानती थी कि मुझे क्या हो रहा है। वह चुप रही।

"भगवान कोई नहीं। ज़िन्दगी विकास का एक चमत्कार है। मौत-ज़िन्दगी में एक हादसा है। भगवान इन्सान का एक वहम है।" बार बार मेरे अन्दर से आवाज़ आती। इतने में डाक्टर आ गया। मेरी पत्नी ने मुझे उससे मिलाया। डाक्टर पढ़ा-लिखा आदमी प्रतीत होता था। मुझ से मिलते ही मेरी कहानियों की चर्चा करने लगा।

-"हमारे घर में आपकी कहानी की हमेशा प्रतीक्षा होती है। जिस पत्र में आपकी कोई कहानी छपती है, उसकी दो प्रतियाँ तो अवश्य ज्यादा बिकती होंगी। एक हमारे घर आती है एक हमारे पड़ोसियों के...

मैं परेशान था। डाक्टर को सहसा महसूस हुआ, मैंने तो उसकी एक बात भी नहीं सुनी थी। मुझे यूँ लग रहा था जैसे किसी शेर की छाती में गोली आ लगे और गोली मारने वाला उसे सामने दिखाई दे रहा हो।

मेरी पत्नी ने डाक्टर को बताया- बच्ची इन्हें बहुत लाडली है। और फ़िर मेरी ओर देख कर उसकी आँखें सजल हो गईं।

पर इसमें चिन्ता करने वाली बात ही कौन सी है? डाक्टर बोल उठा। डाक्टर के हाथ में कई लिफाफे थे। ओर एक लिफाफे का प्रिन्ट निकाल कर वह मुझे दिखाने लगा। "यह हड्डी टांग की है। देखिये बिलकुल ठीक जुड़ी है।" फिर एक और लिफाफा। और फिर एक और लिफाफा। और फिर एक और लिफाफा।और फिर वह टूटी हड्डियों वाली तस्वीरों को जुड़ी हड्डियों वाली तस्वीरों केपास रख कर कितनी देर मुझे हड्डियों के जोड़ने के सिद्धान्त समझाता रहा। छः सप्ताह और। और आपकी बच्ची दौड़ना शुरू कर देगी। नाचना शुरू कर देगी। डाक्टर बोलता जा रहा था, बोलता जा रहा था और मैं उसके मुँह की ओर देख रहा था।

यूँ बोलता-बोलता डाक्टर मेरे हाथ से हाथ मिलाकर तेज़-तेज़ चला गया। राऊण्ड से अवकाश पाकर उसने कहा कि वह फिर आयेगा, और फिर जम कर बातें होंगी मेरी कहानियों की; और मेरे कहानियों के पात्रों की।

मेरे सिर से जैसे मनों बोझ उतर गया हो। मैं फूल की तरह हल्का हो गया। मेरे मुँह में मीठे शहद का स्वाद घुल रहा था।

और मेरी नज़र सहसा सामने खिड़की पर पड़ी। खिड़की के पास दीवार पर टंगा कैलेण्डर जिसके ऊपर का वरक मैने अभी अभी फाड़ा था, उसके नीचे से एक और चित्र निकल आया था। इस चित्र में भगवान मसीह हँस रहा था। उसके दाएं-बाएं, ऊपर-नीचे फूल ही फूल खिले हुए थे और भगवान मसीह खिलखिला कर हँस रहा था, इन खिले हुए फूलों में।

मैं पानी पानी हो गया।

इस बात को हुए कई सप्ताह बीत चुके हैं। मैं अपने घर की खिड़की पर खड़ा हूं। सामने आँगन में बच्चे खेल रहे हैं। इनमें हमारी बच्ची भी है। नाच रही, कूद रही, गा रही। ऐसे नाच रहे, कूद रहे, गा रहे बच्चों को देखते ही मेरी आँखों के सामने भगवान मसीह का वह चित्र आ जाता है, खिलखिलाकर हँस रहा, आगे-पीछे, नीचे-ऊपर खिले हुए फूलों में खिलखिलाकर हँस रहा।

और मैं सोचता हूं- खिले हुए फूलों में जो हँसता है, हँस रहे बच्चों में जो खिल-खिल पड़ता है, वह कौन है?

एक कहानी की कहानी

यह कहानी शिमला की मेरी एक यात्रा से संबंधित है।

मुझे शिमला गये अभी बहुत दिन नहीं हुए थे कि जिन लोगों के पास मैं ठहरा हुआ था, उनकी फरमाइश हुई कि उनकी बच्ची को मैं शिमला के एक स्कूल में दाखिल करवा दूं। मैने कहा; मैं तो यहां किसी को जानता भी नहीं, किन्तु उन लोगों को विश्वास नहीं हुआ। उनका ख्याल था, चाहे मैं किसी को जानूं चाहे न जानू, लोग मुझे ज़रूर जानते हैं। आख़िर मैं इतना बड़ा कहानी लेखक हूं। मैने उन्हें कई कहानियाँ सुनाई अपने देश में साहित्यकारों की गुमनामी की; परन्तु उनकी तसल्ली नहीं हुई। बच्ची का दाख़िला ज़रूरी था और शिमला के स्कूलों में जगह बिल्कुल नहीं मिलती थी। कई-कई वर्ष पहले बच्चों के नाम दर्ज कराने होते थे। "इस स्कूल में प्रवेश के लिए तो लोग बच्चों के जन्म से पहले ही उसका नाम लिखवा देते हैं और तब कहीं बारी आती है।" यह एक मशहूर मज़ाक था जो मेरे मेज़बान ने मुझे कई बार सुनाया।

मैंने बहुत टाल मटोल की पर फिर मुझे यकीन हो गया कि वह मानने वाले नहीं और मैं हार कर उनके साथ चलने को तैयार हो गया। छुट्टी का दिन था। मैंने हाँ की और वह लोग मुझे उसी समय लेकर चल दिए। हमने फैसला किया कि हैडमिसट्रैस के घर चलेंगे।

रास्ते में उन्होनें मुझे बताया कि स्कूल की बड़ी उस्तानी हमारे ओर की ही कोई लड़की है। पिछले वर्ष ही तो उसकी नियुक्ति हुई थी।

यह सुनकर मुझे कुछ तसल्ली हुई। यदि लड़की नई-नई पास हुई है तो मुझे ज़रूर जानती होगी। कम-से-कम मेरा नाम तो उसने अवश्य सुना होगा और कोई बड़ी बात नहीं कि लिहाज़ में आकर बच्ची को दाखिल भी कर ले।

परन्तु फिर मुझे बार-बार ख्याल आता, एक बार जब हम सात दिनों के लिए नंगल गये थे, दफ़तर के पास से मैं एक सप्ताह वहां रहा और पूरा सप्ताह नंगल की कालोनी के पंजाबी अफसर जिनमें सिख भी थे और हिन्दू भी; मुझे एक केंद्रीय सरकार के कर्मचारी के नाते दावतें देते रहे-, दोपहर के खाने, रात के खाने, शाम की चाय। पर किसी ने एक बार भी मुझे कहानी लेखक के रूप में न पहचाना था। किसी ने एक बार भी इस बात का जिक्र नहीं किया कि उसने मेरी कोई चीज़ प्रकाशित हुई देखी है। एक घर में; मेरे स्कूल के ज़माने के एक मित्र की ब्याही

हुई बहन को मैंने पहचान लिया, किन्तु यह कोई न पहचान सका कि मैं पंजाबी का एक प्रसिद्ध लेखक हूं।

कुछ इस तरह के विचारों में मैं डूबा जा रहा था कि हम मुख्याध्यापिका के घर जा पहुंचे।

हमने फ्लैट की घंटी का बटन दबाया। अधिक देर हमें प्रतीक्षा नहीं करना पड़ी। एक बुज़ुर्ग बाहर तशरीफ लाए।

"आप सरदार कर्तारसिंह दुग्गल हैं, पंजाबी के सुप्रसिद्ध कहानी लेखक। आप हेडमिसट्रैस साहिबा से मिलना चाहते हैं।" मेरे मेज़वान ने उस बुज़ुर्ग से मेरा परिचय करवाया।

मेरा नाम सुनते ही उस आदमी की आंखें एक दम लाल हो गईं और क्रोध में वह सिर से पाँव तक काँप गया।

हम दोनों हैरान थे।

"क्या कहा है आपने? कर्तारसिंह दुग्गल?" फिर उस आदमी ने अपने होंठों को काटते हुए कहा – "कर्तारसिंह दुग्गल! मैं तो इन्हें आकाश में ढूंढ़ता था, यह तो मुझे धरती पर ही मिल गये। आइये, अन्दर आइये। अन्दर तो आइये।"

हम दोनों की कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि वह बुज़ुर्ग मुझे बाजू से पकड़े अन्दर कमरे में ले गया।

स्कूल की अध्यापिका का एक मामूली-सा घर था। यों लगता था कुल दो कमरे हैं। एक आगे और एक पीछे। पिछले कमरे का दरवाज़ा इस कमरे में खुलता था। दरवाज़े में परदा लटक रहा था। सिल्क का बारीक परदा।

अभी हम बैठे ही थे कि उस बुज़ुर्ग ने आवाज़ देकर कहा – "बेटी; यह दुग्गल साहब यहां ही आ गये हैं। तुम्हारी नौकरी तो चली जायगी लेकिन इनके होश मैं आज ठिकाने लगा दूंगा।"

मैं हैरान हो रहा था, मेरा मेज़बान हैरान हो रहा था- आख़िर यह मामला क्या है?

बूढ़ा पहले तो कुछ देर नये ज़माने को गालियाँ देता रहा। फिर आजकल के नौजवानों को बुरा-भला कहने लगा। फिर वह लेखकों, साहित्यकारों की निन्दा करने लगा। एक-एक का नाम लेकर उनकी सुनी-सुनाई बातें उगलता जाता और फिर वह मुझ पर बरसना शुरू हुआ।

बात वास्तव में यह थी। पंजाबी के एक सुप्रसिद्ध मासिक में कुछ दिन पहले मेरी एक कहानी छपी थी। इस कहानी में एक लड़की का ज़िक्र था जो हू-ब-हू उस मुख्याध्यापिका का रेखा-चित्र बन गया था। उस कहानी की लड़की का नाम भी इस मुख्याध्यापिका का नाम था। किसी ने उस कहानी को लेकर स्कूल की कमेटी को जा बताया था कि उनकी अध्यापिका की तो पत्रों में कहानियाँ छपती हैं और कमेटी वालों ने इस लड़की को नौकरी से जबाब दे दिया था।

बूढ़ा बार-बार मेज़ से मासिक-पत्रिका को उठाता, बार-बार वह पन्ना निकालता, बार-बार पत्रिका वापस मेज़ पर फेंकता, बोलता जा रहा था, बोलता जा रहा था। न मुझे बात करने का अवसर देता; न ही मेरे साथी को।

हमारी बिरादरी को, हमारे ख़ानदान को, मेरे बाप-दादा को बुरा भला कहे जा रहा था। मैं बार-बार बोलने की कोशिश करता, किन्तु बूढ़ा रुकने का नाम न लेता।

उसे एक शिकायत अपनी बेटी की नौकरी छिन जाने की थी, दूसरी शिकायत यह थी कि उसका रिश्ता होने वाला था। यह नौकरी गयी तो रिश्ता भी नहीं होगा और जब लोगों को पता चलेगा कि लड़की नौकरी से क्यों हटाई गई है तो फिर रिश्ता मिलना भी कठिन हो जायेगा।

मैं चाहता था कि अपनी ओर से कोई सफाई पेश करूं, किन्तु बूढ़ा एक-सांस बोले जा रहा था। मुझे इसलिए भी अधिक बुरा लग रहा था कि सामने दरवाज़े पर रेशमी परदे के पीछे मुख्याध्यापिका खड़ी सुन रही थी। ऊंची-लम्बी, गोरी-चिट्टी।

आख़िर जब बूढ़े का बुखार तनिक उतरा तो मैंने बड़ी नम्रता से कहा - "पर आप की बेटी को क्या मैं जानता भी हूं?"

"हां", बूढ़ा फिर तड़प उठा, "जानते क्यों नहीं। यह आप की किसी दुग्गल लड़की के साथ पढ़ती थी। तुम उसे उसके साथ कभी मिले होगे।"

और अब बूढ़ा मुझे; मेरे पिता से मिलकर मेरी इस हरकत के बारे में शिकायत की धमकी दे रहा था। कितनी देर वह यूँ ही झाग-झाग होता रहा। आख़िर जब वह तनिक रुका तो मैंने बड़े धीरज के साथ भगवान की सौगन्ध खाते हुए कहा, "मैं आप की बेटी से कभी नही मिला। मैं उसे बिल्कुल नहीं जानता। यह कहानी और इस नाम की लड़की का रेखाचित्र कल्पित हैं। इनका किसी लड़की के साथ कोई संबंध...।"

यह शब्द मेरे मुंह में ही थे कि परदे के पीछे से चटाख से किसी कांच के बरतन के टूटने की आवाज़ आई। बूढ़ा घबरा कर उधर गया। परदा ज़रा हटा और उसके पीछे खड़ी मुझे अपनी कहानी की नायिका दिखाई दी। पतली-लम्बी, गोरी-चिट्टी, आकाश से उतरी जैसे कोई परी हो। एक नज़र उसने मेरी ओर देखा और उसके नयनों में मुझे एक वेदना चित्रित सी महसूस हुई "मैं लाख नौकरियां कुर्बान कर सकती हूं, काश! कि मैं सचमुच उस कहानी की नायिका होती। मैं तो सोचती थी कि वह कहानी आपने मेरे ऊपर ही लिखी है। मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे हुस्न को किसी ने अमर कर दिया हो। मैं तो उस कहानी को पढ़-पढ़ कर थकती नहीं। क्या सचमुच वह कहानी आपने मुझ पर नहीं लिखी...?

बूढ़ा लड़की के हाथ से गिरे कांच के जग के टुकड़े संभाल रहा था कि हम वहां से चले आये।

रास्ते में न मेरे मेज़बान ने मेरे साथ कोई बात की न मैंने उसके साथ कोई बात की। अपने ध्यान में खोये हम चले जा रहे थे कि मुझे यूँ महसूस हुआ जैसे चुपके-से किसी ने मुझे पीछे से आकर पकड़ लिया हो। "सचमुच आपने वह कहानी मुझ पर नहीं लिखी? मैं तो लाख नौकरियाँ कुर्बान कर सकती हूं। मैं तो सोचती थी, वह कहानी आपने मुझ पर लिखी है। मुझे तो यूँ महसूस हुआ जैसे मेरे हुस्न को किसी ने अमर कर दिया हो...।"

एक बार, दो बार, तीन बार; इस तरह किसी की आवाज़ मेरे कानों में आकर पड़ी। किसी ने जैसे मुझे आकर बाज़ू से पकड़ लिया हो और मेरे क़दम बार-बार नड़खड़ा जाते।

तभी फिर किसी पेड़ के नीचे से गुज़रते, हवा का एक तेज़ झोंका आया और सड़क की ओर बढ़ी हुई टहनी का समूचा बौर टूट कर जैसे मेरे ऊपर आ बरसा। भीनी-भीनी सुगन्ध युक्त छोटी छोटी खिली कलियाँ मेरे सिर पर, मेरे कंधों पर, मेरे माथे पर, मेरी पलकों पर, मेरे गालों पर, होंठों पर, हाथों पर, बाजुओं पर आ गिरीं। पहाड़ी-वृक्ष के उस ओर की मीठी-मीठी सुगन्ध, मुझे कितनी देर तक आती रही।

क़ायमदीन

आगे सड़क बन रही थी। लाल मंडी के पास जाकर मैंने कार रोक ली। और नीचे उतर कर देखने लगा कि किस ओर से मोटर सुभीते से गुज़र सकती थी।

कोई चार कदम ही बढ़ पाया था कि मैं खड़े का खड़ा रह गया। मेरे सामने रोड़ी के एक ढेर पर गोल-सफेद पत्थरों को कूट रहा क़ायमदीन था। मेरी नज़रें जैसे मुझे धोखा दे रही हों। मुझे विश्वास नहीं हो रहा था कि क़ायमदीन ढेर से उठ कर मेरे गले आ लगा।

क़ायम दीन स्कूल के समय का मेरा साथी था। कच्ची पहली, पक्की पहली, दूसरी, तीसरी जमायत में हम एक साथ थे। क़ायमदीन डिसट्रिक्ट बोर्ड स्कूल में सबसे होशियार बालक था। उसका बस्ता हमेशा साफ सुथरा होता था। उसकी कापी किताबें हमेशा सलीके के साथ रखी होती थीं। कभी वह देर से स्कूल नहीं आया था। इम्तहान में हमेशा अव्वल रहता था। जो सवाल अगली कक्षा वालों को नहीं आते थे क़ायमदीन उनको हल कर लिया करता था। उसको पौन के, डेढ़ के, सवा के और पता नहीं किस किस के सब पहाड़े याद थे। कितने ही सौ गुर उसने रटे हुए थे। हर कक्षा में क़ायमदीन मानीटर होता था। उसकी कभी स्कूल के कमरे में झाड़ू देनें की ड्यूटी नहीं लगी थी। न ही कभी टाट झाड़ने की बारी में उसका नाम होता था। जब मटकियाँ उठा कर हम स्कूल के लिए दूर ताल पर पानी भरने के लिए जाते, क़ायमदीन स्कूल की चारदीवारी के पास खड़ा बस हमें देखता रहता। हर अध्यापक क़ायमदीन का लिहाज़ करता था। जो सबक उससे पूछो, जो सवाल उससे करो, क़ायमदीन झट उसका उत्तर दे देता। हम सब उसके सहपाठी उसके मुँह की ओर देखते रह जाते।

मुझ पर हमेशा क़ायमदीन एक जादू सा कर देता था। मेरा जी चाहता कि उसकी प्रतिभा मेरी प्रतिभा हो जाए, उसकी समझ मेरी समझ बन जाए। मेरा जी चाहता उसकी उंगलियां जिनसे वह आंख झपकने में सवाल हल कर लिया करता था; मेरी उंगलियां बन जाएं। मेरी अभिलाषा होती कि मैं क़ायमदीन के पास बैठूं, किन्तु वह तो कक्षा में सबसे आगे, अध्यापक की कुर्सी के साथ लग कर बैठता था।

क़ायमदीन का गाँव स्कूल से कोई तीन मील दूर था। तड़के तीन मील वह पैदल आता, शाम को तीन मील वह अकेला पैदल जाता। चाहे आंधी हो, चाहे तूफान हो, चाहे बारिश हो, चाहे ठंड हो, चाहे धूप हो, चाहे लू चल रही हो।

छुट्टी होते ही क़ायमदीन अपने सिर पर बस्ता टिका लेता और तेज़-तेज़ कदम अपने गाँव की ओर चल पड़ता। मैं हैरान होता, क़ायमदीन का बस्ता उसके सिर से हिलता तक नहीं था।

हमारा एक अध्यापक जब भी कभी उसकी आख़िरी घंटी होती; हमसे कोई कविता सुना करता था। जो कोई गीत सुना चुकता उसको छुट्टी मिल जाती। क़ायमदीन सबसे पहले कोई कविता सुना कर घर चला जाता। काफी बच्चे भी कुछ न कुछ दाल-दलिया कर लेते। पर सबके सामने खड़े हो कर कुछ सुनाने के ख्याल से मेरी जान निकल जाती। यदि कुछ मुझे याद भी होता तो वह भी भूल जाता। हमारा वह अध्यापक मुझे अपनी मेज़ के साथ बांध देता। कितनी-कितनी देर मैं अविरल आंसू बहाता रहता। लेकिन गीत का एक बोल भी मेरी ज़बान से न निकलता और मुझे बार-बार क़ायमदीन का ख्याल आता। तारीफ़ उस खुदा की ... सारे जहां से अच्छा ... आदि कई नज़्में हर रोज़ वह आगे-आगे गाता और बाकी बच्चे उसके पीछे-पीछे दोहराया करते थे।

स्कूल की वार्षिक सफ़ाई के दिनों में जब स्कूल के हाल की लिपाई करनी होती, कमरों में सफेदी करनी होती, बाहर आंगन में गैंदे के फूलों की क्यारियों को तरतीब देनी होती तो हम सब विद्यार्थी टोकरियों में मिट्टी ढोते, पानी ला कर गारा बनाते, गाँव में से गोबर इकट्ठा करते, कितने कितने दिन पांव से गारे को पकाते रहते, फिर लोहे की कढ़ाइयों में गारा उठा कर छत पर ले जाते, सफेदी के लिए चूना घोलते हमारे हाथ फट जाते, सब इस तरह के काम हम करते। क़ायमदीन स्कूल मास्टर के साथ बैठा उसको डाकखाने के हिसाब-किताब में सहायता करता रहता, टिकटों का हिसाब रखता, लिफाफों का हिसाब रखता, चिट्ठियों पर मुहरें लगाता और डाक को थैले में बन्द करता।

एक दिन एक प्रश्न का उत्तर क़ायमदीन ने और दिया, अध्यापक ने कुछ और निकाला। जब पुस्तक को उठा कर देखा गया तो क़ायमदीन ठीक था और अध्यापक गलत।

क़ायमदीन और मैं एक दिन आधी छुट्टी के समय अकेले बैठे बातें कर रहे थे। तब हम दूसरी कक्षा में पढ़ते थे। बैठे-बैठे कोई बात छिड़ी और क़ायमदीन ने स्लेट पर अपना नाम अंग्रेजी में इस सुविधा के साथ लिखा कि मैं हैरान रह गया। मुझे तो अभी उर्दू भी अच्छी तरह लिखनी नहीं आती थी और क़ायमदीन अंग्रेजी में इस आसानी से लिख लेता था। मैं आवाक् क़ायमदीन के मुँह की ओर कितनी देर देखता रहा। मुझे यूँ लगता जैसे वह कोई फरिश्ता हो और कितनी देर मैं उसके साथ सट कर बैठा रहा। मुझे उसमें से एक सुगंध सी आती रही।

पढ़ने में क़ायमदीन सबसे आगे रहता, खेलने में सबसे आगे रहता, गाने में सबसे आगे होता।

जब हम तीसरी कक्षा में पढ़ते थे तो अचानक क़ायमदीन ने स्कूल आना बंद कर दिया। कितनी देर उस्ताद और विद्यार्थी उसकी प्रतीक्षा करते रहे। उसके गाँव का कोई लड़का स्कूल में नहीं था जो ख़बर ला कर देता। फिर प्रतीक्षा करते-करते हम सब उसको भूल गए। आज कितने वर्षों के पश्चात् रोड़ी के ढेर पर क़ायमदीन को बैठा पत्थर कूटते देख; मैं आश्चर्यचकित रह गया। क़ायमदीन मुझसे लिपट-लिपट कर गले मिल रहा था।

क़ायमदीन के लिए मैं कोई नया नहीं था। उसने तो मुझे कई बार कार में आते जाते देखा था। मैं मोटर में तेज़ तेज़ गुजर जाता और वह सड़क पर कभी खड़ा होता, कभी चल रहा होता, कभी कोई काम कर रहा होता। आज ही तो पहली बार मेरी मोटर सड़क पर यूँ रुक गई थी।

फिर क़ायमदीन ने मुझे बताया कि उसने पढ़ना इसलिए छोड़ दिया था क्योंकि उसके पिता की मृत्यु हो गई थी। घर में उसकी मां अकेली थी, घर में खाने के लिए नहीं था, वे गरीब थे, उनकी कोई ज़मीन नहीं थी, घर का खर्च चलाने के लिए उसे कमाना जरूरी हो गया था।

क़ायमदीन कहता; उसने दुवन्नी प्रतिदिन मज़दूरी पर काम करना शुरू किया था और अब उसे पांच रुपए प्रतिदिन मज़दूरी के मिलते थे। इलाके भर में उस जितनी मज़दूरी किसी और को नहीं मिलती थी।

क़ायमदीन ने मुझे बताया कि कैसे वह एक छोकरे के काम के लिए भरती हुआ। मटकों में पानी भर कर जमा कर लेता और फिर मिस्तरियों को, मज़दूरों को लोटे से पानी पिलाता रहता, कभी किसी मिस्तरी के औज़ार उठा कर काम पर ले जाता, कभी किसी कारीगर के औज़ार; जहां वह काम कर रहा होता, पहुंचा देता। कभी सीमेंट की टीप हो रही होती तो उसके ऊपर धीरे-धीरे पानी छिड़कता रहता। जब ओवरसियर आता उसकी मोटर की झाड़-पोंछ करता, उसको धोता, और इस तरह के अनेक छोटे मोटे काम।

इस तरह क़ायमदीन बड़ा हो गया और अब उसने ईंटें ढोना शुरू कर दिया। दो-दो ईंटें, चार-चार ईंटें, छह-छह ईंटें, आठ-आठ ईंटें, दस-दस ईंटें, बारह-बारह ईंटें, चौदह-चौदह ईंटें, क़ायमदीन कहता उस जितनी ईंटें कोई और नहीं उठा सकता था। चौदह-चौदह ईंटें उठाए वह बांस की सीढ़ियों पर तेज़-तेज़ चढ़ जाता और धुर ऊपर काम कर रहे मिस्तरियों तक पहुंचा आता। कभी क़ायमदीन का दिल नहीं डोला था। कभी क़ायमदीन का पैर नहीं फिसला था। ईंटें ढोने के बाद उसने गारा बनाने का काम सीखा, कितनी मिट्टी, कितनी रेत, कितना गोबर, कितना पानी! क़ायमदीन कहता; उसका बनाया गारा सीमेंट की तरह पक्का रहता था और कई वर्ष तक ठेकेदार उसे गारे के काम से हटाते नहीं थे। फिर उसने टीप करना शुरू किया। टीप करना बड़ा कठिन काम है, क़ायमदीन ने मुझे बताया। न सीमेन्ट करंडी

के साथ ज़्यादा लगे, न सीमेन्ट व्यर्थ नीचे गिरे, यदि ज्यादा लगे तो धूप से चटक कर उखड़ जाती है और यदि कम करने के लिए खरोंची जाए तो नुकसान होता है। क़ायमदीन ने मुझे कितनी ही सरकारी इमारतें गिनवाईं जिनकी सीमेन्ट उसने अपने हाथों से लगाई थी। फिर उसने ईंटें लगाने, उसारी का काम सीखा। पूरे पांच रुपए की बालूशाही बांट कर और मलमल का कोरा साफा दे कर उसने उस्ताद बनाया था। उसारी का काम अथाह है, इसका कोई अन्त नहीं। चाहे सीखते-सीखते सारी उम्र ही लग जाए। क़ायमदीन जैसे ऊंचा-ऊंचा सोच रहा था।

अब ये सारे पुल मैंने बनाए हैं; अपने हाथ से। क़ायमदीन ने नयी बनी सड़क की ओर संकेत करके बताया। एक एक ईंट मैंने खुद जड़ी है, ऐसे पक्के बनाए हैं कि क़यामत तक इनको कोई हिला नहीं सकता, जैसे इस्पात के बने हों। मेरे जैसे पुल; कोई नहीं बना सकता। क़ायमदीन के नयनों मे एक भरोसा था, एक खुशी थी जो कोई महान कला उत्पन्न करके किसी कलाकार के चेहरे पर चमकती है, जो खुशी एक मां की आँख में होती है, जो जीत कर आए अपने सूरमा बेटे को देख-देख आपे में नहीं समाती।

यह सड़क सारी मेरी देख-रेख में बनी है। क़ायमदीन अभी तक बोल रहा था। मैनें एक कच्चा पत्थर नहीं लगने दिया, सारे; नदी के गोल पत्थर मैने इस्तेमाल किए हैं। कोई रेतीला पत्थर नहीं। मैं तो रोड़ी खुद बैठ कर कूटता हूं, आप कूटता हूं और अपने सामने बाकियों से कुटवाता हूं। देखो तो किस तरह की रोड़ी है, जैसे मक्का के खिले हुए दाने हों। क़ायमदीन ने मुट्ठी भर रोड़ी को उठा कर मुझे दिखाया।

क़ायमदीन मुझे बता रहा था कि उस जैसी रोड़ी कोई नहीं कूट सकता था, उस जैसा सड़क को समतल कोई नहीं कर सकता था, उस जैसा मसाला कोई नहीं तैयार कर सकता था, उस जैसी सारे इलाके में सूझ-बूझ नहीं थी किसी में; कब सड़क में दुरमट मारना है, कब पानी डालना है, कब पानी बन्द करना है, कहां रोलर फेरना है, कहां रोलर नहीं फेरना है। बड़े बड़े अफसरों ने उसके काम की प्रशंसा की थी। उसके पास संदूकची भरी थी चिट्ठियों की; जो उसके हाकिमों ने खुश हो कर उसे दी थीं।

और मुझे यूँ महसूस हो रहा था जैसे कभी मुझे पक्की पहली में लगता था; जब क़ायमदीन पढ़ने में सबसे आगे होता था, खेलने में सबसे आगे होता था, गाना गाने में सबसे आगे रहता था।

बख़शीश

साहब, बखशीश। साहब, बख़शीश। कहता हुआ मेरा सहपाठी मुझे छोड़ मेरे देखते-देखते साइकिल पर जा रहे एक गोरे के पीछे भाग गया। दूर तक साहब, बखशीश! साहब बखशीश! पुकारता वह दौड़ता रहा! आखिर थक कर खड़ा हो गया। गोरा कभी साइकिल से मुड़ कर उस की ओर देखता और मुस्करा देता, कभी घूर देता। लड़का थका हारा जहां खड़ा था वहीं खड़ा रहा और कोई पांच मिनट बाद अपनी चाल चलता हुआ मैं उसके पास पहुंच गया।

'क्या मिला है तुझे भानू?' मैंने अपने साथी से पूछा। उसका नाम भानचन्द था।

'कुछ नहीं यार, कुछ नहीं, कोई कंगाल था ससुरा।' भानू की आंखों में तनिक ग्लानि नहीं थी।

भानू ने मुझे बताया कि कई बार ऐसे ही गोरों के पीछे जब वह भागता था तो कोई चार आने, कोई आठ आने, कोई रुपया तक फेंक कर चले जाते थे।

यह सुन कर मुझे अँग्रेज़ की उदारता पर बड़ा अचंभा हुआ।

'हमारा देसी अगर कुछ देगा तो पैसा या दो पैसे' फिर भानू कहने लगा, 'असली फ़रक़ तो गोरी चमड़ी और काली चमड़ी का है। जितना कोई काला हो उतना ही वह बुरा होता है।'

मुझे सब गोरे एक जैसे लगते थे। सब की बाँहों पर नंगी मेमों के चित्र बने होते। सब की छातियों पर औरतों की अजीब अजीब तसवीरें गुदी होतीं।

भानू के पिता हमारे स्कूल में अध्यापक थे। उनकी जिम्मेदारी पांचवीं से आठवीं कक्षा तक भूगोल और इतिहास पढ़ाने की थी। इतिहास की घंटी में वे जिस विषय पर सबसे ज़्यादा शौक से बोलते वह था 'अँगरेज़ी राज की बरकतें'। चाहे पांचवीं कक्षा हो, चाहे छठी कक्षा, चाहे सातवीं कक्षा हो, चाहे आठवीं कक्षा हो, जब मास्टर उत्तम चन्द इस विषय पर बोलने लगते तो बोलते ही जाते। अँग्रेज़ ने डाकखाने खोले हैं, अँग्रेज़ ने रेलें चलाई हैं, अँग्रेज़ों ने तार-घर बनाए है, अँग्रेजों ने अँगरेज़ी भाषा दी है जिसे पढ़कर दफ़्तर में सरकारी नौकरी मिल जाती है। इस तरह और कितना कुछ वे गिनवा देते।

भूगोल की घंटी में जो प्रश्न मास्टर उत्तमचन्द को सब से अधिक प्रिय लगता, वह था 'अंग्रेज़ी राज में सूर्य कभी भी अस्त नहीं होता।' हर परीक्षा में, हर कक्षा

से मास्टर उत्तमचन्द इन दो प्रश्नों में से एक न एक अवश्य पूछते। जब भी लड़के मास्टर उत्तमचन्द के परचों की तैयारी करने के लिये बैठते, यह दो प्रश्न सब से पहले याद कर लेते। कई तो इनके जवाब घर से लिखकर ले आते, और परीक्षा में टाँक आते। बाकी अध्यापक हमेशा मास्टर उत्तमचन्द की इस बात पर हँसते रहते। प्रायः सभी का विचार था कि मास्टर जी इस तरह अँग्रेज़ की चापलूसी करते हैं। मास्टर उत्तमचन्द इस से कभी इन्कार भी नहीं करते थे।

हमारा गाँव छावनी के बहुत निकट था। कई बार गोरे सिपाही जांघिया पहने, दौड़ते, कसरत करते हमारे गाँव की ओर आ जाते। कई बार साइकिलों पर चढ़े हुए आते, कई बार घोड़ों पर चढ़े हुए आते। कई बार शराब पी कर पेड़ों के नीचे बदमस्त पड़े रहते। बड़े दिनों में एक बार मेरे पिता जी ने एक अँग्रेज़ को शराब पीकर नाली में औंधा पड़ा देखा था। चाहे, कोई सिपाही हो, चाहे कोई सार्जेन्ट हो, चाहे कोई अफ़सर हो, जो कोई गोरा सामने सड़क से गुज़रता, स्कूल के बाहर आंगन में हमें पढ़ा रहे मास्टर उत्तम चन्द स्वयं खड़े हो जाते और सारी कक्षा को खड़ा करा देते।

कई बार स्कूल के अध्यापक मिल कर बैठते और उनमें कई अँग्रेज़ के ख़िलाफ़ बातें करनी शुरू कर देते; अँग्रेज़ के अनाचार की बातें, अँग्रेज़ की लूट खसोट की बातें। मास्टर उत्तम चन्द को बड़ा क्रोध आता। वह एक एक करके भारत को अँग्रेज़ की देन गिनवाते। अँग्रेज़ ने पुल बनवाए हैं। अँग्रेज़ ने नहरें खुदवाई हैं। अँग्रेज़ ने सड़के बनवाई हैं। सड़कों पर पेड़ लगवाएं हैं। अँग्रेज़ ने हिन्द में से ठगी दूर की है। सती जैसी प्रथा का अन्त किया है। नए पढ़े नवयुवक अध्यापक मास्टर उत्तम चन्द की बातों पर बहुत हँसते। लाख कोई उनसे बहस करता, मास्टर उत्तम चन्द अँगरेज़ के विरुद्ध कोई बात सुनने के लिए तैयार न होते।

एक दिन मास्टर उत्तम चन्द के घर में सफेदी हो रही थी। उनका लड़का भानू सारा दिन हमारे यहाँ खेलता रहा। शाम को जब वह अपने घर जाने लगा तो मैं भी उसकेसाथ हो लिया। पड़ोस की गली में ही वह रहते थे। मास्टर उत्तमचन्द के नए पुते दालान में मैंने देखा कि एक तरफ एक देवी की तसवीर के आगे अगरबत्ती जल रही है, दूसरी तरफ किसी अँग्रेज की तसवीर के आगे भी एक अगरबत्ती सुलग रही है।

'मास्टर जी, यह किस की तसवीर है?' मैंने दूसरे चित्र की ओर संकेत करते हुए मास्टर जी से पूछा।

'यह अँग्रेज़ की तसवीर है।'

मास्टर उत्तमचन्द ने फिर मुझे बताया कि एक दिन जब वह छावनी गए तो उन्हें सड़कपर पड़ी यह तसवीर मिली थी। उन्होंने वहीं से उसे शीशे में जड़वा लिया।

मास्टर जी को यह नहीं पता था कि वह गोरा कौन था, कहां से आया था, किस संबंध में वह तसवीर अख़बार में छपी थी।

महात्मा गांधी के खादी प्रचार से मास्टर जी बहुत प्रभावित थे। हमेशा शुद्ध खादी ही पहनते। मास्टर जी की पत्नी गाँव में सब से अधिक फैशनेबल औरत थी। हर समय सजी हुई रहती, रंग बिरंगे भड़कीले कपड़े पहनती। बालों को कभी कैसे संवारती, कभी कैसे बनाती। मास्टर जी सदा सादा रहते, सदा सादा खाते। फिर एक दिन मास्टर जी को किसी ने बताया कि अँग्रेज़ को खादी पहनने वाले लोग पसन्द नहीं। उसी समय मास्टर जी ने खादी के कपड़े उतार दिए। उन्होंने यह नहीं पूछा कि आखिर क्यों अँग्रेज़ को खादी पहनना पसन्द नहीं। यदि हिन्दुस्तानी खादी पहनें तो अँग्रेज़ की बिल्ली क्यों छींक जाती है? पर अँग्रेज़ को जो बात पसन्द नहीं थी, मास्टर उत्तमचन्द उसे किसी हालत में करने को तैयार नहीं थे।

मेरे पिता जी का एक अँग्रेज़ अफसर बहुत रिश्वत लेता था। हमेशा घर आ कर पिता जी उसकी बुराई करते रहते थे। बड़े दिनों में हजारों रुपये डालियों के रूप में वह ठेकेदारों से ले लेता। मेरे पिता जी उसकी यह सब करतूतें देखते और चुप रहते। एक बार उस अँग्रेज़ अफसर ने मेरे पिता जी को अपने घर बुलाया। रविवार का दिन था। अँग्रेज़ और उसकी मेम कितनी देर मेरे पिता जी के साथ हँस-हँस कर बातें करते रहे। फिर मेम उठी और अन्दर से एक कोट और एक बूटों का जोड़ा मेरे लिए ले आई। उनको मेरी आयु का पता था। वास्तव में उनका अपना एक बेटा बिल्कुल मेरी आयु का था। मेरे पिता जी के लाख मना करने पर भी, जब चलने लगे, तो अंग्रेज़ ने वह सौगातें उनके साथ बांध दीं। घर आ कर जब मेरी मां को इस कहानी का पता चला तो उसने बूट भी और कोट भी उठा कर बाहर आंगन में फेंक दिए। लाख-लाख वह अँग्रेज़ को गालियां देती और कहती, 'मेरा बेटा किसी की उतरन पहनने वाला है?' मेरे पिता जी ने समझाया, मैंने भी कहा, कि घर में उन चीज़ों को रखने में कोई हर्ज़ नहीं, मैं उन्हें पहनूँगा नहीं, पर मेरी माँ ने एक न मानी और अँग्रेज तथा मेरे पिता जी को बुरा भला कहती रही। इतने में मास्टर जी हमारे घर आ निकले। सारी बात उन्होंने सुनी और कोट भी और बूट भी आंगन से उठा कर कहने लगे, 'तुम लोग मत झगड़ो, मेरा बेटा भानू पहन लेगा। अँग्रेज़ का उपहार है।' और हँसते हँसते अपने घर चले गए। मेरी मां ने लाख शुक्र मनाया। मेरे पिता जी ने भी महसूस किया मानों कोई मुसीबत टल गई हो।

अगले दिन मैंने देखा कि भानू स्कूल में वह कोट भी पहन कर आया, वह बूट भी पहन कर आया। मास्टर उत्तमचन्द की फूल-चिड़ियां निकालने वाली पत्नी का गोरा चिट्टा बेटा भानू ऐसे लगता जैसे अँग्रेज़ का बच्चा हो।

हम हमेशा भानू को उसके कोट और उसके बूटों के लिये छेड़ते थे। मगर उसे कभी बुरा न लगता। न उसकी माँ को बुरा लगता। न मास्टर उत्तम चन्द को हमारे ऐसा करने पर कोई आपत्ति होती।

एक दिन सांझ समय उत्तमचन्द की पत्नी कुछ और औरतों के साथ सड़क पर जा रही थी कि पीछे से साइकल पर एक गोरा आया और उसको कन्धा मार कर चला गया। सब की सब औरतें अवाक् उसकी ओर देखती रहीं। मास्टर उत्तमचन्द की पत्नी को जब अपने साथ हुए इस अनर्थ का ख्याल आया तो सड़क के किनारे औंधी जा गिरी, उसके हाथ पांव ठंडे हो गये।

फिर यह ख़बर सारे गाँव में फैल गई। 'मास्टर उत्तमचन्द की घरवाली को एक गोरे ने कन्धा दे मारा। 'मास्टर उत्तमचन्द की पत्नी की एक गोरे ने सिर से ओढ़नी उतार ली।' मास्टर उत्तम चन्द की बीवी को एक गोरे ने धक्का दे कर सड़क पर जा फेंका।' 'मास्टर उत्तम चन्द की पत्नी को एक गोरा साइकल पर बिठा कर ले भागा।' 'मास्टर उत्तम चन्द की पत्नी की एक गोरे से आशनाई।' 'मास्टर उत्तमचन्द की पत्नी और एक गोरा हँस-हँस कर बातें करते पुल के पीछे पकड़े गए।' 'मास्टर उत्तम चन्द ने अपनी पत्नी को सड़क पर पीट-पीट कर अधमरा कर दिया।' 'मास्टर उत्तमचन्द की पत्नी पुल के पास बेहोश पड़ी है।'

और सारा गाँव बाहर सड़क की ओर दौड़ पड़ा।

वह उसका क्या लगता था

'वह मेरा क्या लगता है?'... आँगन को बुहार रही सावित्री बार बार सोचती और उकड़ूँ बैठी सावित्री के हाथ से झाड़ू छूट-छूट जाता।

'वह मेरा क्या लगता है?'... झाड़ू देते उसको फिर ख़्याल आता और झाड़ू की तीलियां वहीं की वहीं धरी रह जातीं।

'वह मेरा क्या लगता है?'... अपनी कुहनियों को घुटनों पर रखे, अपने सिर को मेंहदी रंगी अपनी हथेलियों पर झुकाए आख़िरी बार जब उसने अपने आप से यह प्रश्न किया तो सावित्री की आँखों से छल-छल अश्रु बहने लगे।

उसे अपने आप पर शर्म आ गई। ससुराल आई नई ब्याही दुलहन कोई रोया करती है? उसका दूल्हा कितना अच्छा था। उसकी सास आज कितने दिनों से उसे काम को हाथ नहीं लगाने दे रही थी। यह झाड़ू भी तो वह जब दे रही थी कि घर में कोई था नहीं। सावित्री ने आँगन में कूड़ा देखा, सामने झाड़ू रखी हुई थी, आप ही आप उसने बुहारना शुरू कर दिया। उसे कहीं तब पता चला जब साँवले-सलोने रंग का उसका महबूब बाहर से लौट, उसकी ओर देख-देख कर मुस्करा रहा था।

सावित्री सोचती, ब्याह से पहले कई घरों में उसने झाड़ू दी थी, उसकी मां सारी उम्र कोठियों का कूड़ा समेटती रही। अब वह गौने पर आई हुई थी। दस दिन बाद तनिक पुरानी होकर अपनी सास के साथ फिर वह कोठियों की सफ़ाई शुरू कर देगी। किन्तु इसे अपने मायके शहर की पीली कोठी वाला वह बच्चा क्यों याद आ रहा था।

'क्कू उसका क्या लगता था?'

दोपहर को नीम के पेड़ के नीचे बैठी पत्थर के टुकड़े से धरती को खुरचते हुए सावित्री ने फिर सोचना शुरू कर दिया।

आज क्कू उसे क्यों याद आ रहा था?

क्कू के पिता की एक कोठी थी। बड़ा होकर क्कू दस कोठियों का मालिक होगा। दस सावित्रियां जिनमें झाड़ू दिया करेंगी।

क्कू के पिता की एक मोटर थी। बड़ा होकर क्कू दस मोटरें रखेगा। लाख सावित्रियां जिनको दूर से देखा करेंगी।

और नीम के भारी तने से सटकर खड़ी वह सोचती कि आज क्कू उसे क्यों

याद आ रहा था। आख़िर क्कू उसका क्या लगता था?

रात को छत पर लेटी तारों की छवि में खोई सावित्री ने फिर क्कू के बारे में सोचना शुरू कर दिया।

प्रतिदिन दूर से उसे आता देखकर वह खिल उठता था, जैसे उसकी प्रतीक्षा कर रहा हो। फिर दौड़ता हुआ बागीचे में उसे लाने के लिए दौड़ता था। कभी लाड़ में सावित्री उसे उठा लेती, कभी जब उसके कपड़े ज़्यादा मैले होते, उसका हाथ पकड़े खिँची हुई चली जाती थी।... अक्सर उसके हाथ से झाड़ू छीन कर वह बुहारने लग जाता। उल्टा-सीधा तीलियों को चलाता वह कितना प्यारा लगता था। हंस-हंस कर लोट-पोट होते थे सब के सब घर वाले। दांतों में उंगलियां दिए सावित्री देखती रहती थी, देखती रहती थी... गुसलख़ाना साफ़ करते समय सावित्री अन्दर से कुंडी लगा लेती थी; नहीं तो क्कू भी उसके साथ अन्दर आ जाता और बीबी जी को उसका कमोडों के पास खेलना अच्छा नहीं लगता था। वह गुसलखाना साफ करती, दरवाज़े के पीछे खड़ा क्कू उससे बातें करता रहता। छोटी-छोटी, तोतली-तोतली, इधर-उधर की बाते।

सावित्री अब तू क्या कर रही है?

तुमने पॉट साफ़ कर लिए?

अब तुम उनको धो रही हो?

अब तुम उन्हें माँज रही हो?

तुमने कमोड की झाड़-पोंछ कर ली?

आज तुम गुसलखाने को मत धोओ।

यह तुम नलका क्यों नहीं बन्द करतीं? मुझे तुम्हारी आवाज़ नहीं आ रही?

और जितनी देर वह जूतें पालिश कर रही होती; उसका पीछा न छोड़ता। पालिश को फ़र्श पर मलता, अपने कपड़ों को ख़राब करता। ज़ोर-ज़ोर से ब्रश मारता। लाल ब्रश काले जूतों पर, काला ब्रश लाल जूतों पर। सावित्री ना कभी तंग आती; ना कभी ख़फ़ा होती। मुस्कराती रहती और हँसती रहती।

काम-काज़ से अवकाश पाकर जब वह सुस्ताने के लिए बरामदे में आकर बैठती; तब उसे यों बैठी देखकर बीबी रात की बासी रोटी उसको लाकर देती थी। नौकर से उसके डिब्बे में तरकारी डलवाती। क्कू चुपके से पीछे से आकर सावित्री की चोटी को पकड़ लेता और उसे फ़र्श पर गिरा देता। फ़र्श पर गिरा कर उसकी छाती पर बैठ जाता। किस तरह लड़ता था, जैसे सचमुच में कुश्ती कर रहा हो। उसके बालों के गुच्छे के गुच्छे नोच लेता। चुनरी उतार कर एक ओर फेंक देता। उसको दांतों से काटता, बाजुओं पर, टांगों पर, मुंह पर। सावित्री हँसती रहती, खिलखिलाकर हँसती रहती।

या फिर जब कभी वह यूँ बैठी होती, वह धीरे से आता और कोई फल उसकी

झोली मे ला रखता। कभी मिठाई सावित्री को ला देता। उसकी माँ देख-देख कर हैरान होती। न ना कर सकती, न हाँ कर सकती।

हँस रहा होता, खेल रहा होता, खा रहा होता, सावित्री की आवाज़ सुनकर क्कू बाहर उसे देखने के लिए दौड़ता जैसे उस पर किसी ने जादू कर दिया हो। हर बात में सावित्री का ज़िक्र आ जाता। माँ की शिकायत सावित्री से करता। बहन भाइयों को, अड़ोसियों पड़ोसियों को सावित्री का नाम लेकर डराता रहता।

सोये-सोये एक रात उसे कोई स्वप्न आया और उठ कर सावित्री के लिए चीखने लगा। रोता जा रहा था, रोता जा रहा था। आख़िर आधी रात को वह अपने घर से आई, उसके पलंग के पास नीचे फर्श पर बैठ गई और वह उसकी उंगलियों से खेलता-खेलता सो गया।

मक्का के भुने दानों जैसे तारों से भरे आकाश की ओर उस रात सावित्री देखती रही और सोचती रही, देखती रही और सोचती रही।

'पर वह तुम्हारा लगता क्या है? तुम्हारा उसके साथ क्या संबंध है? तुम्हें वह क्यों याद आ रहा है?' बार-बार जैसे उसे अन्दर से कोई याद दिलाता।

हर ऐसी चुनौती पर सावित्री आँखें बन्द कर लेती। कानों में उंगलियाँ दे लेती।

अगले दिन सुबह नदी पर नहाने के लिए गई सावित्री को क्कू का अपनी कोठी के कुएँ के हौज़ में नहाना याद आ गया। मोतियों जैसा ताज़ा पानी जिसमें भरा रहता; और क्कू जिसमें तैरता रहता था। बार-बार छलांग लगाता, कूदता, मचलता, और तब तक बाहर न निकलता जब तक उसका सारे का सारा शरीर ठंड से नीला-पीला न हो जाता। क्कू की इस मीठी याद में खोई सावित्री नदी में सुबह नहाती रही, नहाती रही; जब तक कि उसका अपना पिंडा नीला-पीला न हो गया।

दोपहर को उसी रोज़ सावित्री जान-बूझ कर कशीदा लेकर बैठ गई। उंगलियों को कशीदा में उलझाए लड़कियाँ अपने मन को कहीं का कहीं ले जाती हैं। बार-बार सावित्री सोचती; उसकी शादी से पहले क्कू के घर वाले उसे कैसे छेड़ते थे और क्कू बार-बार कहता था; 'तितली से ब्याह करूंगा, तितली से ब्याह करूंगा' और हर बार जब वह यूँ कहता सावित्री को कितनी शर्म आती थी। उसके कानों में से धुआँ निकलने लगता था ... सावित्री : सोचती क्कू बड़ा होगा, उसकी शादी होगी, सौ बाजों वाला बैंड आकर बजेगा। बड़ी-बड़ी कनातें लगेंगी, कितने दिन हलवाई बैठेंगे, मोटरों का जुलूस निकलेगा। सबसे आगे फूलों से लदा, सेहरों में लिपटा क्कू घोड़ी पर बैठेगा। बहनें गीत गायेंगी, उस पर जान कुर्बान करने के इक़रार करेंगी। क्कू के सिर पर से पैसे वारे जायेंगे। फिर क्कू फेरे लेगा। फिर क्कू के घर डोली आएगी। फिर क्कू की मां नौकरों को; ग़रीबों को इनाम बाँटेगी। क्कू के यहाँ की जमादारनी अपना हिस्सा लेकर न मालूम खुश होगी या खुश नहीं होगी। हाय; कहीं उसके मुँह से कोई बुरा बोल न निकल जाए! और सोचते-सोचते सावित्री की छाती धड़कने लगी।

एक दिन आँगन में बैठी वह कितनी देर अपने पति के साथ क्कू की बातें करती रही। उसके काले-काले नयनों की बातें, उसके रेशम जैसे बालों की बातें, उसके मोतियों जैसे दाँतों की बातें, और सामने चौके में बैठी उसकी सास कहने लगी, 'बेटी सुन्दर बालक आँगन की रौनक होता है' और फिर उसके चारों ओर निगाह फेर कर अपने ख़ाली-ख़ाली आँगन को देखा, फिर अपने बेटे के गंभीर चेहरे की ओर देखा, किन्तु सावित्री तो किसी गहरी याद में खोई हुई थी। सास की आँख के साथ उसने आँख न मिलाई।

क्कू के संबंध में सोचते-सोचते जब सावित्री हार जाती, थक जाती, उसके भीतर से जैसे कोई याद दिलाता, 'आख़िर वह तेरा क्या लगता है?' 'तेरा क्या संबंध है उसके साथ?'

एक दिन उसका खाविन्द उसके मायके शहर जा रहा था। सावित्री ने अपनी माँ से क्कू के बारे में पुछवा भेजा। पति ने आकर बताया कि सावित्री की माँ कितनी देर क्कू के साथ बातें करती रही। सावित्री के नाम पर बच्चा जैसे खिल जाता, आँखें फाड़-फाड़ कर इधर-उधर देखता, परन्तु उससे ज़्यादा सावित्री की उसे कोई याद नहीं थी।

सावित्री को ज़रा दुःख न हुआ। रत्ती भर भी वह उदास न हुई।

फिर सावित्री को पता चला कि वह मां बन रही थी। सावित्री के अपना बच्चा होने वाला था, और उसे बार-बार वह कहानी याद आती। एक मालकिन ने अपनी नई रखी नौकरानी को दूध का एक कटोरा देते हुए कहा कि स्कूल उसके बच्चे को जाकर पिला आए। नई नौकरानी बच्चे को पहचानती न थी। मालकिन ने कहा कि जो बच्चा तुम्हें स्कूल में सबसे सुन्दर लगे; बस वही मेरा बच्चा है। तुम उसे दूध पिला देना। नौकरानी स्कूल गई और अपने बच्चे को दूध पिला कर लौट आई। उसे अपने बच्चे से अधिक सुन्दर और कोई बच्चा न लगा। मालकिन का बच्चा सारा दिन भूखा रहा। सावित्री सोचती, 'उस नौकरानी के स्थान पर यदि वह होती तो क्या क्कू का दूध अपने बच्चे को पिला देती?'

नहीं! नहीं! नहीं!

सब निशानियाँ ठीक थीं। सावित्री मां बन रही थी। सावित्री की सास खुश थी। उसका नाम बनाये रखने के लिए कोई आ रहा था। सावित्री का ससुर खुश था। सावित्री स्वयं खुश थी। अब उसकी सास का उसकी बार-बार देखना तो बन्द हो जायेगा।

परन्तु सावित्री का पति आजकल नए चक्करों में फँसा हुआ था। देश भर में चुनाव होने वाले था। पहली बार एक स्वतंत्र देश के हर बालिग को वोट देने का हक मिला था। इलाके भर के चर्म-कर्मियों ने फ़ैसला किया था कि वे अपने वोट एक चर्मकार भाई को देंगे। चाहे खालें साफ़ करने के कई कारखानों का वह

मालिक था। दस, उसकी मोटरें दिन-रात दौड़ती फिरती थीं। सारी उम्र चाहे लोगों को शिकायत रही थी कि अपने ज़ात भाइयों को नोच-नोच कर उसने अपनी तोंद फुला ली थी। पर अब उसने इस तरह जादू किया था कि हर गाँव में उसके गुण गाने वाले पैदा हो गए थे। अपनी बिरादरी के एक-एक आदमी को उसने पीछे लगा लिया था। इस गाँव में सावित्री का पति सबसे आगे था। सारा-सारा दिन; सारी-सारी रात वह बाहर घूमता रहता और कभी पान चबाते हुए और कभी शराब पिए हुए घर लौटता।

सावित्री को ज़रा भी शिकायत न थी। क्कू की मीठी याद सीने से लगाए उसे अपना जीवन हमेशा भरा-भरा लगता था।

जब फारिग होती; सावित्री को क्कू की छोटी-छोटी बातें याद आती रहतीं। एक बार बागीचे में खेल रहे क्कू ने फूलों की भरी हुई टोकरी सावित्री के सामने लाकर उलट दी। सुन्दर-सुन्दर ताज़ा खिले हुए फूल। जिस तरह के फूल बीबी जी हर रोज़ भगवान की मूर्ति पर चढ़ाया करती थीं। एक बार चुपके-चुपके पीछे से आकर क्कू ने सावित्री की आँखे बन्द कर ली थीं और फिर उसके देखते-देखते उन्हीं हाथों से बाहर जाने के लिए सजी-धजी हुई अपनी मां की आँखों को बन्द कर लिया था। उसकी माँ की काजल से भरी मोटी-मोटी आँखे। एक बार वह अपनी मां की नाखूनों की पालिश उठा लाया। पहले सावित्री से अपने नाखून रंगवाए, फिर सावित्री के नाखूनों को रंगता रहा। बार-बार पालिश को लगाता और खिलखिला कर हँसता।

सावित्री सोचती अब वह बड़ा हो गया होगा। अब तो वह स्कूल जाता होगा। अब उसकी दोस्तियाँ और की और हो गई होंगी। अब तो वह नौकरों से ज़्यादा बात नहीं करता होगा। अब तो वह ऐसे ख़फ़ा होता होगा जैसे एक बार उसका डैडी ख़फ़ा हुआ था जब सावित्री ने समय पर जूता साफ़ नहीं किया था।

सावित्री सोचती वैसे ख़फ़ा होता हुआ क्कू कितना अच्छा लगता होगा। हाय; कभी वह उसे उस तरह से डांटते हुए देख सके।

इस तरह विचारों में खोई को फिर जैसे कोई याद कराता, 'क्कू तेरा क्या लगता है? क्यों बार-बार तू उसे याद करती है? कौन सा संबंध है आख़िर तेरा उसके साथ?'

और सावित्री को कभी-कभी अपने आप पर लज्ञा आती। कहीं उसके भीतर की यह आवाज़ ठीक ही तो नहीं थी?

बाहर चुनाव का शोर बढ़ रहा था। हर रोज़ जलसे होते, ढोल बजते, नारे लगते। हर पार्टी के लोग आकर अपने प्रोग्राम बताते। किन्तु चर्मकारों का फ़ैसला था कि वोट अपने भाई को ही देंगे चाहे वह कैसा भी है।

फिर हर पार्टी के उम्मीदवार घर-घर आ कर वोटों के लिए कहने लगे, सारा-सारा दिन लोग लालच देते रहते, मिन्नतें करते रहते।

ऐसे ही फिर एक रोज़ एक पार्टी उनके घर आई। इनमें से एक आदमी उसे जाना-पहचाना लगता था! उसके पति के साथ जब वे बातें कर रहे थे तो उसे पता चला कि वही आदमी असेम्बली का उम्मीदवार था। वह कहता, मैंने सारी उम्र लोगों की सेवा की है। अगर आप मुझे वोट देंगे तो मैं और सेवा कर सकूँगा। मेरी पार्टी किसानों की पार्टी है, मज़दूरों की पार्टी है। सावित्री को उसकी एक बात भी समझ में नहीं आ रही थी। वह तो सोच रही थी किउसने उस आदमी को कहीं देखा है।

सोच-सोच कर उसे याद आया कि वह आदमी तो क्कू का चाचा था। हमेशा गरीबों की सिफारिशें लेकर क्कू के पिता के पास आता था। छोटे-छोटे लोगों के काम करवाता रहता था।

कितनी देर बहस करने के बाद उसके पति ने आख़िर उन लोगों को निराश लौटा दिया। दालान के स्तम्भ के साथ लगी सावित्री सोचती रही, सोचती रही। क्कू के चाचा ने उसे पहचाना नहीं। पहचानता भी कैसे?

चुनाव में तीन दिन बाकी थे और ज्यों-ज्यों समय समीप आ रहा था शोर और बढ़ रहा था। सारा-सारा दिन उसका पति अपने उम्मीदवार के गुण गाता रहता। नारे लगा-लगा कर उसका गला बैठ गया। उसने कई लड़ाईयां लड़ी, कई दुश्मनियां मोल लीं, कई संबंध तोड़े।

फिर वह दिन आ गया जब वोट डाले जाने थे। दोपहर तक सावित्री का पति अपने उम्मीदवार को वोट दिलवाता रहा। फिर अपने घर वालों को लेने के लिए आया। सावित्री, सावित्री की बूढ़ी सास, सावित्री का बूढ़ा ससुर सब गए। सब को एक-एक पर्ची मिली। फिर उसके ख़ाविन्द ने समझाया कि अन्दर किस डिब्बे में पर्ची डालनी होगी। सावित्री की बूढ़ी सास ने, सावित्री के बूढ़े ससुर ने शायद उसी डिब्बे में पर्ची डाली हो जिसके लिए सावित्री के पति ने उन्हें कहा था। परन्तु सावित्री की जब बारी आई तो उसने अपनी पर्ची को क्कू के चाचा वाले डिब्बे में खिसका दिया।

शाम को खुश-खुश घर लौट कर आई सावित्री दिल ही दिल में सोचती कि आखिर उसने क्कू के साथ एक संबंध पैदा कर लिया था। जिस उम्मीदवार को क्कू के घर के हर व्यक्ति ने वोट दिया होगा उसको ही सावित्री ने भी वोट दिया था, और जब वह असेम्बली में जाकर बैठेगा, हज़ारों और वोटों के साथ एक सावित्री का वोट भी उसकी सफलता का कारण होगा, और जब वह बोलेगा, क्कू, क्कू के पिता, क्कू की मां के साथ सावित्री के लिए भी वह वहां आवाज़ उठायेगा।

यह सोच-सोच कर सावित्री को अपना-आप हमेशा अच्छा अच्छा लगता। अब उसके भीतर से कभी यह आवाज़ न आती, 'आखिर क्कू तेरा क्या लगता है?' वह क्कू के बारे में सोचते-सोचते कभी नीम के तले बैठी; कभी दालान के स्तम्भ के साथ सटी, तारों भरे आकाश की ओर देखती रहती, देखती रहती।

अपनी अपनी बारी

पिछले कुछ दिनों से वह अपनी पत्नी को बहुत अच्छा-अच्छा लगने लगा था।

जिन दिनों मिसिज़ मेहरा को अपना पति अच्छा-अच्छा लगता, वह दिन में एक-दो बार उसे दफ़्तर टेलीफोन कर लिया करती। कभी पूछती, 'शाम का क्या प्रोग्राम है?' कभी कहती, 'दफ़्तर बैठे आप क्या कर रहे हैं? कभी तो समय पर घर आ जाया करो।' कभी किसी बच्चे की कोई बात बताने लगती, कभी नौकर की कोई शिकायत ले बैठती। सवेरे उसके कपड़ों के बटन देख लेती, तैयार होते समय, उसके पास खड़ी उसकी सहायता करती रहती। इस तरह की कई छोटी-छोटी बातें, जिनसे एक पत्नी, अपने पति के लिए अपने मन में बसे हुए प्यार को व्यक्त करती रहती है।

पर पिछले कुछ दिनों से तो जैसे मिसिज़ मेहरा विशेष रूप से अपने पति पर मुग्ध थी। पिछले कुछ दिनों से, जब से वे पटौदी हाउस में आकर रहने लगे थे। पटौदी हाउस दिल्ली में एक नवाब का घर था, जिसे सरकार ने लेकर एक सौ से भी अधिक अफसरों में बाँट दिया है। मिस्टर मेहरा के हिस्से में केवल एक कमरा और एक ढका हुआ बरामदा ही आया। इसमें मिस्टर मेहरा, उसकी पत्नी, दो बच्चे और एक मिस्टर मेहरा का भाई रह रहे थे। एक नौकर था; एक आया थी।

एक कमरा और एक ढका हुआ बरामदा। मिसेज़ मेहरा अपने पति को कभी जी भर कर देख भी न सकती थी।

रात को चारपाइयाँ बाहर लान में बिछतीं। लान सब का साझा था। एक-एक गज़ के अन्तर पर पड़ोसियों के पलंग बिछे होते, उनके साथ उनके पड़ोसियों के, और इस तरह एक पंक्ति सी बन जाती। एक रात मिस्टर मेहरा को बच्चे के रोने की आवाज़ सुनाई दी। सोते-सोते वह उठा और बच्चे को उठा कर अपने पलंग पर ला सुलाया। कभी-कभी रात को जब मिस्टर मेहरा का बच्चा उठ जाता तो वह अपने पिताजी के पास आ जाया करता था। सारी रात, बच्चा मिस्टर मेहरा के सीने से लगा सोया रहा। सवेरे उठकर उसने देखा, वह तो पड़ोसियों का बच्चा था। मिस्टर मेहरा का एक रंग जाता एक रंग आता। जो कोई भी सुनता हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता।

एक शाम मिस्टर मेहरा बाहर लान में बैठे थे। सामने कुर्सी पर उसकी पत्नी बैठी थी। अचानक मिस्टर मेहरा की दृष्टि पड़ोसियों के दरवाज़े के पास रखे श्रृंगार

मेज के शीशे पर जा पड़ी। शीशे में प्रतिच्छाया एक स्त्री की थी, जो नई खरीदी अपनी अंगिया को कभी पहनकर, कभी उतारकर देख रही थी। मिस्टर मेहरा ने एक नज़र देखा और देखता ही रह गया। फिर अकस्मात उसे घबराहट-सी हुई और 'बेहूदा' कहता हुआ वह उठा और अन्दर कमरे में चला गया। उसकी पत्नी हैरान थी, इधर-उधर देखने लगी, आख़िर हुआ क्या था? तभी उसकी दृष्टि भी पड़ोसियों के शीशे पर जा पड़ी और मिसिज़ मेहरा मुस्कराने लगी।

मिस्टर मेहरा प्रतिदिन दस पाँच मिनट के लिए व्यायाम किया करता था। जब से पटौदी हाउस में वह आया, अपने इस नियम के लिए उसे कोई स्थान ही नहीं मिला। आखिर बरामदे वाले कमरे के परदे गिराकर, वह एक दो आसन जमाने लगा। मिस्टर मेहरा नंग-धड़ंग जांघिया पहने शीर्शासन कर रहा होता कि सब्ज़ीवाला परदा उठाकर अन्दर झाँकते हुए कहता, 'बीबी जी! घिया, तोरी, प्याज़, आलू...।' कभी कबाड़िया आकर दरवाजा खटखटाता, 'रद्दी, बोतल, खाली टीन...।' कभी अख़बार वाला इस ज़ोर से अख़बार अन्दर फेंक कर जाता कि अख़बार मिस्टर मेहरा के माथे पर लगते-लगते बचता। कभी बच्चों की फौज की फौज दौड़ती हुई कमरे में छिपने के लिए आ घुसती और मिस्टर मेहरा व्यायाम छोड़कर हँसना आरम्भ कर देता, हँसता जाता, हँसता जाता।

गर्मी के मौसम में पत्थर की छतें तपतीं, रोशनदानों में से धूप सीधी कमरों में आकर पड़ती, पंखे में से मानो आग निकल रही हो, कड़कती दोपहरी में बच्चे बिलबिलाने लगते। रविवार के दिन, जब पहली बार मिस्टर मेहरा को घर रहना पड़ा तब उसे पता लगा कि उसकी परी जैसी सुन्दर पत्नी, और फूलों जैसे कोमल बच्चे कैसे प्रतिदिन पटौदी हाउस में परेशान होते थे। फिर उसे पता चला कि उसके पड़ोसी अफसर रविवार भी अपने वातानुकूलित दफ़्तरों में ही काटते थे। पर गर्मी से अपने आपको बचाने का यह तरीका मिस्टर मेहरा को बेहूदा लगा। बच्चों को इस तरह घर छोड़कर, स्वयं दफ़्तर जा बैठना, उसे परले दरजे की हिमाकत प्रतीत हुआ।

मिस्टर मेहरा को अपनी पत्नी के मोटे-भारी जूड़े में मोतिया की पिरोई हुई कलियां बहुत प्यारी लगती थीं। कभी किसी शाम मिसिज़ मेहरा खास तौर से मोतिया का हार मँगवाती और चाँद की चाँदनी में अपने बालों को सजाकर बाहर लान में अपने पति के पास आ बैठती। वे इधर-उधर की बातें करने लगते। इतने में पास वाले घर से सरसों के तेल के छौंक की गंध आने लगती, या कोई हींग का बघार लगा रहा होता और इस तरह मोतिया की भीनी-भीनी सुगन्ध ज़हर होकर रह जाती, चाँद की चाँदनी फीकी-फीकी लगती, लान कूड़े का ढेर प्रतीत होने लगता।

मिस्टर मेहरा बात-बात पर बच्चों पर खीझता। बार बार नाक-भौं सिकोड़ता,

न खाने का स्वाद, न पहनने का मज़ा, और मिसिज़ मेहरा इन सब अभावों को अपने पति की छोटी-छोटी खातिरदारी से पूरा करती। जितनी देर वह घर में रहता, उसकी हर ज़रूरत की चीज़ पहले से ही सोचकर तैयार रखती। पंखे के नीचे पहले उसकी चारपाई बिछी होती, फिर चारपाई उठाकर आरामकुरसी डाल देती, कुरसी के आगे मेज़ पर पहले शेव का सामान होता, फिर नाश्ता आकर परोस देती।

जब उसका पति दफ़्तर जाने लगता, तो वह भी प्रतिदिन उसके साथ हो लेती। इधर-उधर की बातें करती, कभी आधे रास्ते तक, कभी आधे से भी ज्यादा फ़ासले तक उसे पहुँचा आती।

उसके पति का दफ़्तर दूर थोड़े ही था, फिरोज़शाह रोड, अशोक रोड और फिर दफ़्तर।

फिरोज़शाह रोड के सब घर तो लोकसभा के मैम्बरों को अलाट होते हैं। पर अशोक रोड की हर कोठी को देखकर मिसिज़ मेहरा के मुँह में पानी भर आता। और वह एड़ियां उठाये, उचक-उचक कर, मुड़-मुड़कर कोठियों में झाँकती रहती। इधर-उधर की बातें करती, वह अपने पति के साथ चलती भी जाती और कोठियों की ओर देखती भी जाती। अपने पति को छोड़कर अकेले वापस लौटते हुए, विचारों में खोई, वह अशोक रोड के बड़े-बड़े लान, ऊँचे-ऊँचे पेड़, रंग-बिरंगे फूलों के पौधे और चौड़े, खुले बरामदों वाले कमरों को देखती और बार-बार सोचती कि कभी वे भी ऐसे किसी घर में रह सकेंगे। पर ऐसा घर मिलने की बारी कब आयेगी? यह किसी को मालूम नहीं था। दिल्ली में घर बारी से मिलता है और लोग पन्द्रह-पन्द्रह बरस, बीस-बीस बरस से प्रतीक्षा कर रहे थे।

अशोक रोड पर 101 नम्बर का घर कितने दिनों से खाली पड़ा हुआ था।

कई दिनों से मिसिज़ मेहरा वहाँ आकर खड़ी हो जाती। उसका पति दफ़्तर चला जाता, और वह क्षणमात्र के लिए खाली पड़ी इस कोठी की ओर ललचाई हुई नज़रों से देखकर चली जाती।

'आखिर इस घर में कोई आता क्यों नहीं?' एक दिन मिसिज़ मेहरा ने अपने पति से पूछा।

'किसी के नाम अलाट हुआ होगा और वह आने की तैयारी कर रहा होगा।' उसके पति ने सरल भाव से उत्तर दिया।

मिस्टर मेहरा सपने में भी नहीं सोच सकते थे कि अशोक रोड पर उन्हें कोई घर मिल सकता था। पर मिसिज़ मेहरा पर अशोक रोड के घर जैसे जादू-सा कर देते थे।

और 101 नम्बर कितने दिनों से खाली पड़ा था।

जब मिसिज़ मेहरा का पति दफ़्तर चला जाता, कई बार सड़क पर खड़े उसका जी चाहता कि वह अन्दर जाकर, इस खाली पड़ी कोठी को एक नज़र देख तो ले।

पर न कोई चौकीदार कभी नज़र आता और न कोई माली कभी दिखाई देता जिन से पूछ कर वह अन्दर जा सके।

फिर एकदिन सवेरे जब वह अपने पति के साथ आ रही थी, उन्होंने देखा कि कई आदमी कोठी की सफाई कर रहे थे। चौकीदार, माली, चपरासी आदि झाड़-पोंछ में लगे हुए थे। कोठी में रहनेवाले अभी तक नहीं आये थे। अवसर अच्छा था, और मिसिज़ मेहरा अपने पति को साथ लेकर, अन्दर घर देखने के लिए चल पड़ी।

बरामदा न बहुत बड़ा न बहुत छोटा था, संगमरमर की तरह चमकता फर्श, मोटे-मोटे, भारी-भारी खम्भे, मिसिज़ मेहरा सोचती कि ऐसे बरामदे में चाहे कोई सारी शाम बैठा प्रतीक्षा करता रहे तो भी किसी का मन न ऊबे। गोल कमरा जिसमें चाहे पचास आदमी बैठ जायें। गोल कमरे की खिड़कियाँ, गोल कमरे की छत, गोल कमरे की कारनिस, फर्श पर बिछा कालीन, सोफा सैट, मेज़-कुरसियाँ, पंखे-परदे, मिसिज़ मेहरा की एक नशे में आँखें मुंद गईं। खाने के कमरे का फर्नीचर कितना प्यारा था। वातावरण कितना सुन्दर था। खिड़कियाँ बाहर बगीचे में खुलतीं, ठंडी-मीठी सुगन्ध से भरी हवा आ रही थी। मिसिज़ मेहरा की कमरे को देख-देख; जैसे भूख मिटती जाती। गैलरी इतनी खुली थी। पीछे सोने के दो कमरे, दोनों के साथ गुसलखाने, दाएं हाथ एक कमरा अतिथियों के लिए, बाएं हाथ एक कमरा बच्चों के लिए। बच्चों के कमरे में मिसिज़ मेहरा अपने पति के साथ खड़ी कितनी देर तक बातें करती रही - मेरे पास यह घर हो तो मैं इन दीवारों पर तसवीरें लाकर टाँगू- खेलते हुए बच्चे, पढ़ते हुए बच्चे, कहानियाँ सुनते हुए बच्चे, जानवरों की, मशीनों की, ट्रेनों की, हवाई जहाज़ों की। खिड़कियों पर गुलाबी रंग के परदे, और खिलौनों से मैं कमरा भर दूं। मिसिज़ मेहरा को कितना बुरा लगता था कि पटौदी हाउस में हर आहट पर सो रही बच्ची उठ जाती थी। कोठी के बाहर, दाईं ओर का लान इतना बड़ा था, चाहे उसमें कोई फुटबाल का मैच खेल ले। लान का कोमल, हरा, बराबर काटा हुआ घास। मिसिज़ मेहरा ने चुपके से जूती उतारकर नंगे पांव घास की कोमलता का अनुभव किया। लान के किनारों पर तीन ओर मिलीजुली बाड़, बाड़ में ऊंचे-ऊंचे घने पेड़, बारहों मास जिनमें से किसी-न-किसी पर फूल लगे रहते। मिसिज़ मेहरा गुलमोहर के एक वृक्ष के नीचे जा खड़ी हुई और ऊपर देखकर अपने पति से कहने लगी - यहाँ बच्चों के लिए झूला पड़ सकता है। कैसी है यह टहनी, जैसे झूले के लिए ही बढ़कर बाहर आई हो। और फिर कोठी के पीछे का लान, जहाँ गर्मियों में आराम से सोया जा सकता था, और बायें हाथ का लान चाहे छोटा था, पर कितने प्यारे फूल उसमें लगे हुए थे, रंग-रंग के फूल, तरह तरह के फूल, देशी फूल; विदेशी फूल। मिसिज़ मेहरा हाथ लगा-लगाकर फूलों को देखती, गुलाब की बेल के दूध जैसे सफेद एक गुच्छे को उसने अपने गालों से लगा लिया।

और ऐसे एक नशे में, एक उन्माद में, वे कोठी से बाहर आ रहे थे कि सामान से लदा हुआ एक ट्रक कोठी में आ घुसा। ट्रक के पीछे मोटर में कोठी के किरायेदार थे। रायसाहब ज्वालाप्रसाद और उनकी पत्नी। यह तो मिसिज़ मेहरा के पुराने परिचित निकल आए। ज्वालाप्रसाद की पत्नी, मिसिज़ मेहरा की माँ की सहेली थी।

मिस्टर मेहरा को दफ़्तर के लिए देर हो रही थी। वह तो आज्ञा लेकर चला गया पर मिसिज़ मेहरा श्रीमती ज्वालाप्रसाद के साथ बातों में लग गई। बातें करते-करते, उसे सामान अन्दर रखवाने में सहायता देने लगी।

सामान कोई अधिक नहीं था। रायसाहब और उनकी पत्नी, दो ही जीव तो थे। बेटी-बेटा कभी के ब्याहे जा चुके थे। और अपने अपने घरों में बसे हुए थे।

रायसाहब की पत्नी पहले कोठी को देख गई थी और उसने निर्णय कर रखा था कि किस कमरे का क्या उपयोग होगा।

सोने के एक कमरे; और पीछे के दो कमरों को बन्द करवा दिया गया। 'जितने ज्यादा कमरे हों, उनकी हर रोज़ की सफाई भी तो करनी होती है।' श्रीमती ज्वालाप्रसाद ने मिसिज़ मेहरा को समझाया। एक सोने के कमरे में रायसाहब का सामान रखवाया गया। अपना पलंग श्रीमती ज्वालाप्रसाद ने खाने के कमरे में बिछाने के लिए कहा। हमें अब लोगों को कौन सी पार्टियां देनी हैं। अगर कोई किसी दिन आ भी जाये, तो पलंग बाहर निकल सकता है, श्रीमती ज्वालाप्रसाद कहती कि इतनी बड़ी कोठी तो उसे खाने को दौड़ेगी। ट्रंक और छोटा-मोटा सामान गैलरी में रखा गया। घर का सामान हर समय घरवालों की नज़र में रहना चाहिए, श्रीमती ज्वालाप्रसाद ने फिर मिसिज़ मेहरा को समझाया। और तो सब चीजें मिसिज़ मेहरा शायद नज़रअंदाज़ कर सकती थी पर जो पलंग श्रीमती ज्वालाप्रसाद ने खाने के कमरे में डलवाया था, उस पर मिसिज़ मेहरा को बड़ी घबराहट हो रही थी और बार-बार वह कहती, 'ताईजी! इस खाने वाले कमरे का इस तरह निरादर न करो।' अच्छा बेटी, आखिर श्रीमती ज्वालाप्रसाद ने जवाब दिया, 'पलंग निकलवा लेती हूं, गर्मियों में तो आजकल बाहर ही सोना है। दिन में तो हमेशा मैं गोल कमरे के कालीन पर खेस बिछाकर पड़ी रहती हूं। यह पलंग बरामदे में पड़ा रहेगा।' और उठवाकर उसने वह पलंग बाहर सड़क की ओर खुले बरामदे में रखवा दिया। रायसाहब जो इतनी देर से बाहर बैठे अख़बार पढ़ रहे थे, कहने लगे, 'पिछला लान सब्ज़ियों के लिए बड़ा अच्छा रहेगा।' और माली को बुलाकर अपना आशय प्रकट करना शुरू कर दिया। इतने में एक नौकर उनकी गाय को पकड़े हुए ले आया। गाय को दायें हाथ वाले खुले लान में चरने के लिए छोड़ दिया गया। 'ले, मज़े कर।' नौकर ने गाय के गले से रस्सी निकालते हुए कहा। भूख से व्याकुल गाय लान के कोमल घास को चरने लगी। चरती रही, चरती रही। जहाँ जी चाहता गोबर करती, जब उसका मन चाहता बाड़ के पत्तों को चबाना शुरू कर देती। बायें हाथ

के फूलों के बगीचे में श्रीमती ज्वालाप्रसाद की मुर्गियाँ फिर रही थीं। इतने दिनों से खाली पड़ी कोठी में दाने चुग रही थीं।

'ताईजी! आप इतने दिनों से कोठी में आए क्यों नहीं? यह तो कई दिनों से खाली पड़ी है।' मिसिज़ मेहरा ने फिर पूछा।

'हां बेटी, मैं तो खुश थी करोलबाग वाले घर में। पास ही बाज़ार, पास ही मंदिर, पास ही वैद्यजी।' श्रीमती ज्वालाप्रसाद ने मुँह से पान की पीक बरामदे के बाहर छोड़ते हुए कहा।

पर श्रीमती ज्वालाप्रसाद की किसी ने नहीं सुनी। अब इतने बरसों के बाद; उनकी बाकायदा घर मिलने की बारी आई थी, और रायसाहब कहते थे कि यदि उन्होंने न कर दी तो शायद अच्छा नहीं होगा। आखिर वह इतने बड़े अफसर थे, इतना वेतन था।

'जब परमात्मा की कृपा से बच्चे अपने पास थे, हमेशा कोई आता-जाता रहता था, तब कभी किसी दड़बे में कभी किसी दड़बे में। अब जब कि अकेले रह गये तो घर की बारी आ गई। श्रीमती ज्वालाप्रसाद बुड़बुड़ा रही थी। अगले वर्ष रायसाहब ज्वालाप्रसाद को रिटायर हो जाना था।

मिसिज़ मेहरा सोचती कि उसके भी दो बच्चे थे। उनकी भी सारी आयु पड़ी थी... बाकायदा घर की प्रतीक्षा करने कि लिए। और पता नहीं कितने दड़बों में अभी उन्हें रहना था। मिसिज़ मेहरा के दो फूल जैसे बच्चे। सोचते-सोचते मिसिज़ मेहरा की आँखों में आँसू छलक आए।

सोनार बांगला

जहाँ तक नज़र पहुँचती, किताबें ही किताबें थीं। नई-नवीन, रंग-बिरंगी, छोटी-बड़ी, जिल्दों वाली, बगैर जिल्दों की। जैकेटों में ढकी-लिपटी किताबें, नंगी किताबें, असलियत से आँखें दो-चार करती किताबें, आवाज़े दे रही किताबें, सरगोशियां कर रही किताबें, ताज़गी की सुगन्ध से उन्मत्त किताबें, हर उम्र के लिए किताबें, हर मज़मून पर किताबें। पुरानी से पुरानी, नई से नई।

किताबें, जिन्हें देखने के लिए हर दर्शक काफी खर्च करके आता था, फिर भी भीतर जाकर कन्धे से कन्धा टकराता था, बाहर गेट पर लम्बी कतारें लगी रहतीं। पुस्तक मेले में एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाने के लिए ट्रेनें चलती थीं। इस बरस मेले में चार हज़ार से ज़्यादा प्रकाशक आये थे और हर प्रकाशक कितनी-कितनी जगह घेरकर बैठा था। मेले में चप्पा-चप्पा जगह सोने के भाव मिलती थी।

लेकिन इस मेले में कोई किताब बिक नहीं सकती थी। थोक में किताबें खरीदने के लिए सौदे किए जाते थे। किताबों का अनुवाद करने के अधिकार बेचे जाते थे। किताबों के फिर से छापने के दर बताये जाते थे। लेकिन इस मेले में कोई किताब बिक नहीं सकती थी। लोग तरसकर रह जाते। लेकिन इस अन्तर्राष्ट्रीय मेले का यह अटूट नियम था कि परचून में कोई किताब नहीं बेची जायेगी।

कई लोग नज़रों ही नज़रों में जैसे किताब को निचोड़ लेते थे। लेकिन किताब खरीद नहीं सकते थे। कई लोग खड़े-खड़े किताब को मानो निगल जाते थे। लेकिन किताब ख़रीद नहीं सकते थे। कई लोग किताब उठाकर फिर रख देते, उठाते, फिर रख देते। लेकिन वे किताब खरीद नहीं सकते थे। कई लोग लगातार घंटों तक किताब को टटोलते रहते थे। कई लोग अपने दोस्तों और रिश्तेदारों को वहाँ लाकर अपनी मनपसन्द किताब दिखाते। लेकिन वे किताब खरीद नहीं सकते थे।

और तो और, सुबह नौ बजे से लेकर शाम के तीन बजे तक मेले में सिर्फ किताबों के व्यापारी आ सकते थे। किसी भी कीमत पर कोई दर्शक भीतर नहीं घुस सकता था। थोड़ी देर के लिए बाहर से आये सैलानी किताबें देखने के लिए मिन्नतें करते थे, सिफारिशें करवाते थे।

सुबह ज़रा फुरसत होती तो मैं अपने स्टॉल की तरफ आ-जा रहे लोगों को देख सकता था, जहाँ तक हो सकता उनके साथ मुस्कराहटों का आदान-प्रदान कर सकता था। नहीं तो ज़्यादा वक्त मैं लोगों से घिरा रहता था। कोई भारत की किसी

किताब के बारे में पूछ रहा है, कोई किसी लेखक का पता मांग रहा है। किसी को भारत में छपी किसी किताब का कोई चित्र पसन्द है और उसके पुनर्मुद्रण के अधिकार खरीदना चाहता है। कोई अपनी किताब भारत में छपवाने की बात सोच रहा है। ज़्यादातर लोग हिन्दुस्तान की फिलॉसफी और मज़हब के दीवाने थे। योग-विद्या पर लिखी श्री अरविन्द की किताबों की माँग सबसे ज़्यादा थी। हठ-योग, राज-योग, ज्ञान-योग। लम्बे-लम्बे बालों वाले लड़के-लड़कियाँ आते और तांत्रिक-योग पर किताबों के बारे में करते रहते।

भारतीय स्टॉल में ज़्यादातर किताबें अँग्रेज़ी में थीं, लेकिन एक तरफ़ भारतीय भाषाओं की किताबों के लिए स्थान रखा गया था। हर ज़ुबान की दो या तीन किताबें सिर्फ बतौर नमूने के सजाई गई थीं। यह जगह खाली रहती थी। कभी कोई एशियाई दर्शक आता, तो एक नज़र उस तरफ देखकर अँग्रेज़ी की किताबें टटोलने लग जाता।

लेकिन अपनी तरफ का कोई आदमी था, नसवारी कोट, दरमियाना क़द, गेहुँआ रंग, इकहरा बदन। पहले दिन हमने अभी किताबें सजाई ही थीं कि मैंने उसे भारतीय भाषाओं के स्टैण्ड के सामने खड़े देखा। फिर मुझे लगा कि वह दिन में एक से ज़्यादा बार हमारे स्टॉल में आता था। जब भीड़ ज़्यादा होती, तो वह देसी भाषाओं के स्टॉल के सामने खड़ा होता। मुझसे मिलने वाले बहुत से लोग होते थे। दिन-भर मैं मुलाकातियों के साथ उलझा रहता, इस बात की तरफ मैंने कोई खास ध्यान नहीं दिया।

दो दिन बाद मेले के दफ्तर से छपा एक नोटिस आया - मेले में किताबों की चोरी की कई वारदातें हुई थीं। मेले में शामिल होने वाले प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं को मशविरा दिया गया था कि वे सावधानी बरतें।

पहली बार जब मुझे फ़ुर्सत मिली तो हमारी सहायक लड़की मागरिट हाथ में यह नोटिस लिए मेरे कैबिन पर आई, "सर, और तो कोई बात नहीं, लेकिन एक दर्शक पर मुझे पूरा शक है। कोई एशियाई मालूम होता है। जब देखो भारतीय भाषाओं के स्टैण्ड के सामने खड़ा रहता है और आता भी उस वक्त है जिस वक्त हमारे स्टॉल में भीड़ होती है, या फिर किसी ऊटपटाँग वक्त पर आता है। देखिए, देखिए..." फिर उसने मुझे दिखाया, वही नसवारी कोट वाला दर्शक था, दरमियाना कद, गेहुँआ रंग, इकहरा बदन, एक किताब को देखकर उसने स्टैण्ड पर रखा, फिर उसीको उठाकर देखने लग गया। जैसे उसका मन अभी न भरा हो। वह कितनी देर तक किताब के जैकेट को देखता रहा। फिर उसने झिझकते हुए, जैकेट हटाकर किताब की जिल्द को देखा। पोरों से जिल्द पर हाथ फेरा जैसे किसी के गालों को सहलाया जाता है। फिर किताब खोलकर उसने पन्ने उलटने शुरू कर दिए।

इतने में कोई मुझसे मिलने आ गया। बाहर भीड़ और ज़्यादा बढ़ गई थी। "नहीं, ऐसी-वैसी कोई बात नहीं, यूँ ही तुम्हारा वहम है।" यह कहते हुए मैने

मार्गरिट को निबटा दिया।

पुस्तक मेले में किताबें जिस तरह सजाई जाती थीं, शाम के वक्त लोग उन्हें उसी तरह यथास्थान छोड़कर बाहर निकल जाते। स्टॉलों के न कोई दरवाज़े थे, न ही उन्हें बन्द किया जाता था। जिन बड़े-बड़े हॉलों में मेला लगता था, उनकी रखवाली की ज़िम्मेदारी मेले के अधिकारियों की थी। कभी कोई एकाध किताब इधर-उधर हो जाये तो हो जाये, कोई खास डाका कभी नहीं पड़ा था। लोग कीमती से कीमती किताबों को बड़ी बेफिक्री से खुले स्टॉलों में छोड़ आते थे।

मेला सुबह नौ बजे शुरू होता था और मेले के हॉलों के किवाड़ साढ़े आठ बजे खुलते थे, ताकि मेले में शामिल होने वाले आधा घंटा पहले अपने-अपने स्टॉलों में जाकर किताबों की झाड़-पोंछ कर सकें, तरतीब दे सकें।

अगले दिन मैं वक्त से तैयार हो गया। वक्त से पहले ही मैंने नाश्ता कर लिया। मेले के दरवाज़े खुलने के करीब दस मिनट बाद मैं मेले में पहुँच गया। मार्गरिट अभी नहीं आई थी। मैंने दूर से देखा, वही नौजवान, नसवारी कोट, दरमियाना कद, गेहुँआ रंग, इकहरा बदन; हमारे स्टॉल में भारतीय भाषाओं के स्टैण्ड के सामने खड़ा एक किताब को देख रहा था। मैंने जान-बूझकर अपने कदम हौले कर लिए। मैंने मन ही मन कहा-अगर उसे कोई किताब इतनी ही प्यारी है, तो बेशक उसे ले जाये। लेकिन वह तो किताब पढ़ रहा था। कुछ कदम और आगे जाकर मैं रुक गया। नसवारी कोट वाला नौजवान किताब पढ़ने में तल्लीन था। पाँच मिनट, सात मिनट, दस मिनट। फिर बाकी स्टॉलों पर लोग आने शुरू हो गए। नौ बजने में कुछ मिनट बाकी थे, नौजवान ने किताब वापस रख दी और तेज़ कदमों से दूर कहवाखाने की तरफ निकल गया।

स्टॉल पर पहुँचकर मैंने देखा, हमारी सारी किताबें जहाँ की तहाँ पड़ी थीं। एक भी किताब गायब नहीं थी।

मेले की समाप्ति से एक दिन पहले की बात है। मैं उस दिन बड़ा परेशान था। किसी ने आकर बताया कि भारत और पाकिस्तान में लड़ाई शुरू हो गई है। किसी ने कलकत्ता फोन किया था। टेलीफोन पर आवाज़ साफ नहीं आ रही थी। बस वह इतना ही सुन सका था-पूर्वी बंगाल में गोली चल रही है। मैं बार-बार सोच रहा था, पाकिस्तान से जंग का मतलब है, हम लाहौर पर बम फेंकेंगे। रावलपिंडी पर बम फेंकेंगे। फिर मेरा दिल कहता-और इलाज भी क्या है? कोई देश लाखों शरणार्थियों का भार कब तक उठा सकता है? अभी तो और शरणार्थी चले आ रहे हैं। जैसे कोई अपने गले की बला उतारकर पड़ोसी के गले में डाल दे। पाकिस्तानी फौजें जो ज़ुल्म बंगालियों पर ढा रही थीं, जो भी सुनता, तोबा-तोबा कर उठता। इस तरह के लोगों को हुकूमत करने का कोई हक नहीं।

मैं ख्यालों में डूबा था, इतने में मेरी नज़र बाहर अपने स्टॉल पर जा पड़ी। मैंने देखा, दर्शकों की भीड़ में नसवारी सूट वाला वही नौजवान भारतीय भाषाओं के स्टैण्ड के सामने खड़ा एक किताब पढ़ रहा था। कितने मनोयोग से वह उस किताब में खोया हुआ था! वहाँ इतनी भीड़ थी, लेकिन वह पूरी तरह से जैसे अपनी किताब में तल्लीन था। फिर मुझे लगा जैसे उसकी आँखों से टप-टप आँसू बह रहे थे। हां, वह सचमुच रो रहा था। फिर उसने जल्दी से किताब वापस स्टैण्ड में रख दी और भीड़ में गायब हो गया।

कुछ देर तक मैं हक्का-बक्का देखता रहा। जैसे कोई सकते में आ गया हो। फिर मैंने अपने कैबिन से बाहर निकलकर देखा। सचमुच वे आंसू थे। किताब का वह पन्ना गीला-गीला था। कोई कविता-संग्रह था बंगला भाषा का।

मैंने सोचा, वह चाहे कोई भी हो, जब भी वह हमारे स्टॉल की तरफ आयेगा तो मैं बंगला भाषा की वे तीन किताबें उसे भेंट कर दूंगा। तीन किताबें न भी रहीं तो कोई क़यामत नहीं आयेगी। और फिर इस मेले में भारतीय भाषाओं के स्टैण्ड की कोई खास पूछ नहीं थी।

हम लोग पूरी शाम इन्तज़ार करते रहे, नसवारी कोट वाला, दरमियाना क़द का वह एशियाई फिर नहीं आया। मैंने मार्गरिट को खास तौर से हिदायत की थी कि अगर वह नौजवान फिर आये तो इत्तला दी जाये। लेकिन उसने फिर उधर चक्कर नहीं लगाया।

उस रात खाने की मेज़ पर बैठे हुए मुझे बार-बार उस दृश्य की याद आ रही थी। एकदम टप-टप आँसू उसकी पलकों से गिरने लगे। जैसे कोई पके हुए बेरों की टहनी को झकझोर दे। फिर वह किताब को ज्यों का त्यों स्टैण्ड में छोड़कर भीड़ में लोप हो गया था।

अगले दिन सारी सुबह हम लोग इन्तज़ार करते रहे, वह नहीं आया। मार्गरिट बार-बार आकर मुझसे कहती-"सर; वह अभी भी नहीं आया। हर रोज़ कई-कई चक्कर मारता था। लेकिन पता नहीं कल शाम से वह क्यों इधर नहीं आया।"

फिर ख़ुशी से मुझे जैसे चांद चढ़ गया। क्या देखता हूं, मेरे सामने मेरा एक पुराना दोस्त खड़ा था। स्कूल के ज़माने का सहपाठी, भरे मेले में हम एक-दूसरे से गले मिल रहे थे, एक-दूसरे को बाँहों में लपेटकर भींच-भींचकर प्यार कर रहे थे। पलकें आँसुओं से भीगी हुईं। गले भर्राए हुए। हमीद आजकल पाकिस्तान का मशहूर शायर माना जाता था। उसकी रचनाएं अक्सर मुझे पढ़ने के लिए मिलती रहती थीं। हमीद पश्चिमी जर्मनी में सांस्कृतिक मेल-जोल के सिलसिले में आया हुआ था। जब उसने अन्तर्राष्ट्रीय पुस्तक मेले के बारे में सुना तो भागा-भागा आया, शायद किसी पुराने यार से ही मुलाकात हो जाये। उसे खुशी थी कि उसका अनुमान गलत नहीं निकला था।

न जाने कितनी देर तक हम पुराने वक्तों की बातें करते रहे। फिर कॉफी पीने के लिए कहवाखाने में चले गये। मुझपर एक अजीब नशा-सा छाया था। इस बात का मुझे ख्याल ही न रहा कि आजकल पाकिस्तान से हमारे सम्बन्ध बुरी तरह से बिगड़े हुए थे।

फिर हमीद मुझे पाकिस्तानी किताबों के स्टॉल की ओर ले गया। कहवाखाने के पास ही तो था। कहने लगा-तुम्हें अपनी नई छपी किताबें देनी हैं। आजकल हमारे मुल्कों में डाक की बड़ी गड़बड़ है।

बाँह में बाँह डाले जब हम पाकिस्तान के स्टॉल पर पहुँचे, तो मैंने देखा, वही नसवारी कोट, दरमियाना क़द, गेहुँआ रंग वाला नौजवान जैसे धीमे-धीमे कदमों से इधर उधर सरक रहा हो। हमीद अपनी री में खींचकर मुझे उस स्टैण्ड की तरफ ले जा रहा था जहाँ उसकी किताबें थीं। उसने मुझे अपनी किताबें पेश कीं और फिर आसपास देखकर कहने लगा- "वह शेख कहां चला गया है। तुम्हें उससे मिलवाता। बंगला कहानियाँ लिखता है। यहां हमारे मिशन में नौकर है।"

तेरे बिना जीना

"कुत्ता फिर भौंक रहा है।"

"भौंक नहीं रहा, रो रहा है।" पलकों में आँसू लटकाये उसने ट्रांज़िट कैम्प के अधिकारी को बताया।

कैम्प अधिकारी ने होंठ चबाकर इस तरह उसकी तरफ देखा जैसे कह रहा हो, 'औरत, तेरा सिर फिर गया है? बंगाली बड़े सनकी होते है। अब तो सचमुच तुम लोगों के सिर पर मुसीबत आ पड़ी है।'

फिर वह अपने काम में लग गया, नये आये शरणार्थियों की सिरदर्दी। उसे ज़्यादा सोचने की फ़ुरसत ही कहाँ मिलती थी। दिन-रात शरणार्थियों की नावें दरिया के इस किनारे पर आकर लगती थीं। उनमें लदे शरणार्थी, शहद की मक्खियों की तरह कैम्प अफसर के तंबू को घेर लेते थे। भूखे, नंगे, बीमार, रास्ते में जन्में बच्चों को सीने से लगाये औरतें। औरतें, जिनके दिन पूरे हो चुके थे; किसी भी वक्त जिनकी सीपी मोती उगल सकती थी।

लेकिन क़ायदे के मुताबिक पहले हर शरणार्थी का नाम दर्ज किया जाने वाला था; अपना नाम, बाप का नाम, पति का नाम, उम्र, पूरा पता, काम-काज, घर-बार क्यों छोड़कर आए?

बाकी सारे ख़ाने तो वह भर लेता था, लेकिन आख़िरी ख़ाने से वह भी चिढ़ता था। घर-बार क्यों छोड़कर आये? आखिर कोई अपना घर, आँगन क्यों छोड़ता है? शुरू-शुरू में वह यह सवाल पूछा करता था। फिर एक दिन एक सत्तर साल के बूढ़े मौलवी ने धीरे से उसे जवाब दिया, "सैर करने आये हैं।" उसके दो बेटे मारे गए थे। उसकी जवान बेटी को पाकिस्तानी फौजियों ने छीन लिया था। उसके घर को जलाकर राख कर दिया था। मालूम नहीं वह खुद कैसे बच गया था। यही हश्र काफिले के हर आदमी के साथ हुआ था। घर-बार क्यों छोड़ कर आये? इसका कोई क्या जवाब दे!

लेकिन सरकार को तो पूरा ब्योरा रखना होता है। सोशल वर्कर इससे कहीं ज़्यादा विस्तार के साथ शरणार्थियों की आपबीती सुनते थे और उसे अपने कागज़ों में दर्ज करते रहते थे।

कुत्ता फिर रो रहा था- एक दर्दनाक रुदन। शरणार्थियों से दूर हटकर, सामने दरिया के दूसरे किनारे की तरफ नज़रें जमाये फरियाद कर रहा था।

वह कैम्प अफसर के सामने लगे क्यू में से निकलकर बाहर आ गई। कैम्प अफसर को तो अभी सैकड़ों और शरणार्थियों का ब्योरा दर्ज करना था। फिर कहीं उनके नाम राशनकार्ड बनाने की बारी आयेगी।

क्यू में से निकलकर वह एकान्त में एक कंटीली झाड़ी के पास आ खड़ी हुई। उसके कानों में कैम्प अधिकारी की रटन फिर गूँजने लगी।

नाम?

फातिमा बीबी-फातिमा मलिक।

उम्र?

बीस बरस।

घर वाले का नाम?

अब्दुल मलिक।

पता?

रंगपुर खास।

पति का काम?

पति मारा गया।

बच्चे?

एक बेटा था, वह भी मारा गया।

कोई और?

बस एक 'खोखा' बचा है।

खोखा कौन?

हमारा कुत्ता, बाहर खड़ा रो रहा है।

कैम्प अधिकारी ने सुना और फिर अपने होंठ चबाये। दीवानी औरत! उसने कोई और सवाल पूछे बगैर अगले शरणार्थी का ब्योरा पूछना शुरू कर दिया।

सामने खोखा खड़ा फिर रो रहा था। दूर, बहुत दूर, क्षितिज पर नज़रें गड़ाये, ऊंचा और ऊंचा विलाप कर रहा था। जैसे कोई तड़प-तड़पकर किसी को पुकार रहा हो।

"खोखा, खोखा, तू इस तरह विलाप करके किसे सुना रहा है? यहाँ कोई नहीं जो तेरी फरियाद सुनेगा। खोखा, खोखा, तू इस तरह कराह-कराहकर किसे बुलाता है? वह तो चला गया। तीन गोलियाँ उसकी छाती में आकर लगीं, और एक गोली उसके बच्चे की छाती में। बच्चा दौड़कर अपने आँगन में ढेर हुए बाप के गले से जा लगा था और वे आँख झपकते ही ठंडे हो गये। अपने बेटे को गोद में लेकर वह चला गया, बिट-बिट देखता, मुझे अकेला छोड़कर।"

अब कुत्ता उसके पास आकर उसके पैरों को सूँघ रहा था, उसकी साड़ी का पल्ला मुंह में लेकर उसे खींच रहा था, जैसे कह रहा हो, 'चलो, अभी वापस चलो,

जहाँ वह रह गया है। मुझे अपने मालिक के पास जाना है।'

"बच्चे, उधर अब कौन जा सकता है?" फातिमा खोखा को समझाती, "उधर तो गोलियों की वर्षा होती है। उधर लहू के प्यासे पाकिस्तानी दरिन्दे चुन-चुनकर बंगाली देशभक्तों का खून कर रहे हैं।"

खोखा फटी-फटी आँखों से अपनी मालकिन की ओर देखता है। क्या मतलब, क्या आज की रात भी कोई उसे उसके मालिक के पास नहीं ले जायेगा? क्या मतलब, क्या आज की रात भी मालिक को देखे बगैर काटनी होगी?

नहीं, नहीं, नहीं, और खोखा दौड़कर फिर दूर वहाँ, जहाँ से उसे नदी का किनारा साफ दिखाई देता, जाकर रोने लग जाता। एक हृदय-विदारक वेदना। आँसुओं से भीगी फरियाद। उसकी पुकार ऊंची, और ऊंची होती जाती। जैसे कोई विलाप कर रहा हो।

खोखा खुद भी रो रहा था और मालकिन को भी रुला-रुलाकर उसका बुरा हाल कर रहा था।

फिर एक सोशल वर्कर अपना रजिस्टर लेकर फातिमा का वह ब्योरा लेने के लिए आ गई जो कि एक औरत सिर्फ किसी औरत को ही बता सकती है। फातिमा ने देखा रजिस्टर ज़ुल्म की उन कहानियों से भरा पड़ा था जो बांगला देश के शरणार्थियों पर ढाए गए थे।

"सच-सच सब कुछ बता दूं।" फातिमा ने सुन्दर चेहरे वाली नौजवान सोशल वर्कर की मद-भरी आँखों की तरफ देखते हुए कहा। शब्बो खुद भी शरणार्थी थी। वे लोग पहले हल्ले में ही निकल आये थे।

फिर फातिमा ने अपनी आपबीती सुनानी शुरू की। उसकी आँखों सें छल्ल-छल आँसू बह रहे थे, लेकिन वह बोलती जा रही थी, बोलती जा रही थी।

"मेरे शौहर और मेरे बच्चे की लाशें बाहर आँगन में पड़ी थीं, और वह ज़ालिम मुझसे कह रहा था कि मैं पलंग पर उसके साथ लेट जाऊँ। उसकी बंदूक में से अभी तक उन गोलियों का धुआँ निकल रहा था, जिनसे उन्होंने मेरी दुनिया को अन्धेरा किया था। मैंने उसके मुँह पर थूका, एक बार, दो बार, तीन बार। वह हक्का-बक्का होकर मेरे मुँह की तरफ देखने लगा। इतने में कहीं से हमारी बैठक में तड़तड़ गोलियाँ बरसने लगीं। एक घायल शेरनी की तरह मैं वहीं खड़ी रही और वह चुपके से कहीं गली में खिसक गया। और फिर मुक्तिवाहिनी के सिपाहियों की अगुआई में हम लोग वहाँ से निकल आए। मेरे साथ हमारी बस्ती के कई और लोग थे। कई पड़ावों के बाद हम नदी के इस पार पहुँच गये।"

फिर शब्बो और फातिमा कँटीली झाड़ी की ओट में बैठी बहुत देर तक बातें करती रहीं। अभी राशनकार्ड बँटने में देर थी। एक ही नज़र में शब्बो और फातिमा की जैसे दोस्ती हो गई। शब्बो कहती थी कि वह फातिमा को भी अपने साथ काम

पर लगा लेगी। दोनों एक ही उम्र की थीं। जो कुछ फातिमा के साथ हुआ था, हू-ब-हू वही कुछ शब्बो के साथ भी हुआ था। फर्क इतना था कि फातिमा बच गई थी, लेकिन शब्बो बच नहीं सकी थी। उन लोगों ने उसकी बाँहें जकड़कर मनमानी कर ली थी। शब्बो ने अपने पेट की तरफ दिखाकर उसे बताया, वह पिछले तीन महीनों से पाकिस्तानी गुंडे के बीज को अपनी कोख में संभाले हुए थी। छः महीने और बाकी हैं, वह उसे अपने पेट से निकालकर सूली पर लटका देगी। शब्बो की आँखों में एक अजब किस्म की वहशत झाँक रही थी।

फातिमा ने अपना सारा दर्द भूलकर शब्बो को छाती से लगा लिया। बहुत देर तक वे एक दूसरे की बाँहों में लिपटी रहीं।

खोखा फिर रो रहा था। तोबा-तोबा, वह किस तरह विलाप कर रहा था। रो-रोकर उसकी आवाज़ बैठ गई थी, जैसे घिग्घी बंध गई हो। बार-बार वह दूर, सामने नदी के पार क्षितिज की ओर देखने लगता और विलाप करने लगता।

शाम हो रही थी। धीरे-धीरे अंधेरा बढ़ता जा रहा था। रुई के गाले जैसे सलेटी रंग के बादल आसमान में सरपट दौड़े जा रहे थे और खोखा जैसे रो-रोकर उन्हें अपना हाल सुना रहा था। उनके हाथ अपने दुख-दर्द के सन्देश भेज रहा था। वे बादल जो उसके बांगला देश की तरफ उड़ते जा रहे थे।

फातिमा और शब्बो बहुत देर तक एक-दूसरे की बाँहों में लिपटी रहीं, फिर उठकर राशनकार्ड का पता करने के लिए चली गई। राशनकार्ड अगले दिन सुबह मिलने वाले थे। अगली सुबह राशनकार्ड भी मिलेंगे और शरणार्थियों को ट्रकों में बैठाकर अपने-अपने कैम्पों में भेज दिया जायेगा। रात उन्हें ट्रांज़िट कैम्प में ही काटनी थी। शरणार्थियों की पंगतों में पूरियाँ और सब्ज़ी बाँटी जा रही थी।

फातिमा और शब्बो अपना हिस्सा लेकर शब्बो के तम्बू की तरफ चल पड़ीं, जो ट्रांज़िट कैम्प के एक कोने में था।

"इस तरह अकेली-अकेली रहकर तुम्हें डर नहीं लगता?" फातिमा ने शब्बो से पूछा। "नदी के इस पार डर कैसा?" यह बात अभी शब्बो के मुँह में ही थी, कि उन्हें ऐसा लगा जैसे तम्बू में बैठा कोई आदमी शब्बो का इन्तज़ार कर रहा हो।

"मेरा नूर होगा! नूरुलइसलाम," शब्बो तेज़ कदमों से आगे बढ़ी। लेकिन वहाँ कोई भी नहीं था।

फातिमा का जी बार-बार चाह रहा था कि वह शब्बो से पूछे, नूर कौन है? कौन है वह नूर, जिसके लिए वह एकदम उतावली हो उठी थी। लेकिन उसे फिर खोखा के रोने की आवाज़ सुनाई देने लगी और वह सब कुछ भूल गई। किस प्रकार बच्चों की तरह रोता था। बच्चे की तरह ही तो उसके घरवाले ने उसे पाला था और अब वह उसके लिए तड़प रहा था, रो-रोकर अपने दीदे गँवा रहा था।

बहुत देर तक खोखा के रोने की आवाज़ आती रही और फातिमा की आँखें बार-बार डबडबा आतीं।

फिर शब्बो गाने लगी – 'आमार सोनार बांगला!'

शब्बो का गीत सुनते-सुनते कई दिनों की थकी-हारी, मुसीबतें झेलती फातिमा की आंख लग गई। क्षण-भर में वह बेसुध होकर पड़ गई।

सारी रात फातिमा पथराई-सी पड़ी रही। सुबह हो गई, धूप निकल आई, तब भी वह सोई पड़ी थी।

शब्बो कभी की अपने काम पर जा चुकी थी।

आम के पेड़ में से छन-छनकर सुबह की किरणें फातिमा के चेहरे पर पड़ रही हैं। सुबह की ठंडी मीठी हवा में उसके बाल उड़-उड़कर उसके गालों और उसके माथे पर बिखर रहे हैं। उसकी अंगिया की ऊपर वाली तनियाँ घिस गई थीं और उसका बला का जोबन जैसे छलका जाता हो।

यह नूर था, नूर उसके कानों में सरगोशियां कर रहा हो। शब्बो बांगलादेश में उस दरिन्दे को ढूंढ़ने गई है, जिसका बीज उसके पेट में पल रहा है। नूर कह रहा है, "अब वह लौटकर कभी नहीं आयेगी।" वह उसके मुँह और उसके माथे पर उड़-उड़कर आ रहे बालों को पीछे कर रहा है। फातिमा विभोर होकर आँखें मूंद लेती है। जैसे कोई नशे में ग़ोते खा रहा हो।

"फातिमा! फातिमा!!" शब्बो की आवाज़ सुनाई दी। शब्बो की साँस फूल रही थी। शब्बो की आँखों से आँसू टपक रहे थे। फातिमा को बाँह से पकड़कर वह कैम्प के दफ्तर के दूसरी ओर ले गई।

फातिमा देखकर विलाप कर उठी। सामने मुंडेर पर खोखा निष्प्राण पड़ा था, फटी-फटी आँखों से दूर नदी के पार, क्षितिज की ओर नज़र गड़ाये। वह खत्म हो चुका था।

मेरे पते से ख़ल्क को क्यों तेरा घर मिले

साँवला रंग, ऊँची-लम्बी, सकीना जब हँसते-हँसते दोहरी हो जाती तो उसके गालों में से जैसे रोशनी फूट-फूट पड़ती थी! आज वह बार-बार हँस रही थी, जैसे चमेली के फूलों की पिटारी हो। सकीना को ऐसा लगता जैसे उसकी खुशबू कोसों तक फैलती जा रही थी। चंदन की गैल में रची हुई भीनी-भीनी खुशबू। जिस अफ़सर ने कल उसके चौबारे में रात गुज़ारी थी वह बार-बार उसे 'चंदन' कहकर बुला रहा था। बार-बार वह उसके कंधों और गरदन पर नाक रखकर उसे दाँतों से काटने लगता था। वह पंजाबी था अक्खड़। 'भई तू जिस काम के लिए आया है सो कर और पीछा छोड़।' नहीं, वह तो खिलवाड़ कर रहा था। कभी इसे गाने के लिए कहता। कभी खुद गाना शुरू कर देता। ढोला के गीत और माहिया के गीत। उसका पंजाबी गीत सुनकर सकीना को ऐसा लगा जैसे कोई पत्थर फेंक रहा हो। गीत तो बंगला के हैं, जैसे मीठे शहद की धार चू रही हो, अंग-अंग सरशार हो जाता। जैसे जन्म-जन्मान्तरों की मैल उतर रही हो! फिर सकीना गाती भी तो कितना सुन्दर थी। सारे इलाके में उस जैसा तरन्नुम किसी का नहीं था। न उस जैसी आवाज़, न उस जैसी संगीत की समझ।

सकीना की मां अपने ज़माने की मशहूर रंडी थी। बड़े-बड़े ताल्लुकेदार और बड़े-बड़े ज़मींदार उसका गाना सुनने के लिए तरसते थे, उसका नाच देखने के लिए सिफारिशें करवाते थे।

सकीना सोचती, वह भी कोई कम नहीं थी। खास तौर पर जब से बांगला देश की लड़ाई छिड़ी थी, जब से पश्चिमी पाकिस्तान की फौज उधर आई थी, सकीना की तो जैसे चांदी हो गई थी। काई रात खाली नहीं जाती थी। बल्कि कई बार तो एक रात में वह सात सात मेहमानों को भुगताती थी। लाइन बनाकर खड़े रहते पंजाबी और पठान। जिनकी बीवियां उनके सिरों पर मक्खन की मालिश करती थीं, जो बदन पर सरसों के तेल की मालिश करते थे और दही के कुल्हड़ भरकर नहाते थे। जिनके रोम-रोम में से एक बासी-सी बू आती थी। सकीना अपना खुशबुओं से तर रुमाल नाक से लगा लेती। कभी-कभी वह किसी के आग्रह को यह कहकर टालने की कोशिश करती – 'नामुराद ज़ुकाम तो मेरा पीछा ही नहीं छोड़ता।' वह सोचती थी, वरना कोई पंजाबी उसकी खाल ही खींच लेगा।

उन लोगों ने तो गाँव के गाँव, बस्तियों की बस्तियाँ मलियामेट कर दी थीं। उनके आगे भला सकीना किस खेत की मूली थी। कभी-कभी वह किसी की सुरमे वाली आँखों में देखती तो उसका दिल बैठ जाता। उन पलकों के नीचे जैसे अनगिनत मासूम बच्चों और अबला औरतों का खून झलक रहा हो। टूटी हुई टाँगें, कटी बांहें,

फूले हुए अंग, अधजली लाशें, धड़कती छातियां, जिनपर पागल कुत्ते टूट रहे हों, कौओं और गीद्धों के झुंड जिन्हें खा-खाकर उकता गए हों-सकीना को उन आँखों में इसी तरह की तसवीरें दिखाई देती थीं।

जब भी वह ऐसा महसूस करती तो उसके जी में आता कि अपने साथ लेटे पाकिस्तानी अफसर को लात मारकर नीचे फेंक दे और उसकी छाती पर बैठकर उसकी वे आँखें निकाल ले, जिनमें उसे इस तरह के भयानक दृश्य दिखाई देते थे। लेकिन उसकी माँ की माँ की माँ के संस्कार, उसकी माँ की माँ की मां के बंधन कुछ इस तरह के थे कि वह कभी भी ऐसा न कर सकी। सोचती रहती, सोचती रहती, लेकिन ऐसा वह कभी न कर सकी। कई बार ऐसी बातें सोचते-सोचते उसके हाथों की नसें तन जाती थीं।

आज सकीना को कुछ और ही किस्म का काम मिला था। वे लोग कहते थे कि अगर यह काम हो गया तो उसे सोने से लाद दिया जायेगा। नोटों की एक गड्डी उन लोगों ने पेशगी उसकी झोली में लाकर डाल दी थी। यह तो अग्रिम राशि थी; फीस बाद में मिलने वाली थी, इनाम बाद में मिलने वाला था। अगर यह खबर जनरल तक पहुँच गई तो हो सकता है खुश होकर हिन्दुओं की कोई कोठी ही उसके नाम अलाट कर डाले।

ठंडी सड़क पर कई मकान खाली पड़े थे। एक तरफ कम्पनी बाग, दूसरी तरफ क्लब, बीचों-बीच सकीना का बंगला होगा। लोग कम्पनीबाग की सैर से लौटते वक्त क्लब में शराब पी-पीकर बदमस्त होने के बाद रास्ते में सकीना के यहां होकर जाया करेंगे। दिन-रात उसके यहाँ रौनक लगी रहेगी। इस कोठे से वह तंग आ चुकी थी। इस बाज़ार में अब उसका दम घुटने लगा था। अब तो उसे बस अमरीकी शराब में ही मज़ा आता था। देसी ठर्रों की तरफ देखने का उसका जी नहीं चाहता था। न ही अब उसने कभी देसी सिगरेट ही पीया था। अमरीकी सिगरेट और अमरीकी शराब, जिनके डिब्बों पर नंगी औरतों की तसवीरें हुआ करती हैं।

अजीब काम सकीना के ज़िम्मे लगाया गया था। गाँव की साधारण लड़की के कपड़े पहनकर उसे खानक़ाह वाली बावड़ी से पानी भरने जाना था। एक गागर सिर पर, एक गागर बगल में दबाये। जब तक बावड़ी पर कोई न आये उसे किसी न किसी बहाने बावड़ी के चबूतरे पर रुके रहना था। शाम पड़ने पर मुक्तिवाहिनी के लोग वहाँ पानी पीने आते थे। सकीना का काम यह था कि वह उन्हें बातों में उलझाकर, गाना सुनाकर उनके ठिकानों का पता मालूम कर ले। कई दिनों से पाकिस्तानी फौज पूरा ज़ोर लगा चुकी थी, लेकिन उन लोगों के ठिकानों का पता नहीं चल रहा था। उधर मुक्तिवाहिनी ने सारे इलाके में ग़दर मचा रखा था। सैकड़ों फौजी सिपाहियों को खत्म कर डाला था। एक बार अगर उनके ठिकानों का पता चल जाये तो अचानक हमला करके उनका बीज नष्ट किया जा सकता था। एक तरफ बहुत घना जंगल था, ऊबड़-खाबड़ धरती थी। खानक़ाह की बावड़ी अपने मीठे और हाज़मेदार पानी के लिए मशहूर थी। मुक्तिवाहिनी के लोग पानी लेने के

लिए वहाँ ज़रूर आते थे। बिगड़ी हुई रंडी की बेटी, लाख नख़रों में पली सकीना सोचती, वह दो गागरें कैसे उठायेगी, उसने तो कभी पानी का कटोरा भी ख़ुद उठाकर नहीं पीया था। उसे समझाया गया कि गागरें तो ख़ाली होंगी। उसे सिर्फ खाली गागरें बावड़ी तक ले जानी हैं। मुक्तिवाहिनी का भेद लेकर बेशक वह उन गागरों को वहीं फेंक दे, उसे क्या ज़रूरत थी उन गागरों को पानी से भरकर लाने की?

सकीना ने सुना तो हँस पड़ी। हँसती गई, हँसती गई। इतना आसान काम उसे मंज़ूर था। भला यह भी कोई काम था। नोटों की जो गड्डी पेशगी मिली थी, उसे उसने अपनी अंगिया में संभालकर रख लिया। उस गड्डी में कम से कम उसकी सात रातों की कमाई जितनी रकम थी।

सकीना सोचती, उसे और सात रातों तक मुसीबत सहने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी।

वे लोग कहते थे, "अगर तूने हमारा यह काम कर दिया तो फिर तुझे इसी काम में डाल देंगे। फिर तुझसे यह बदनाम धंधा छूट जायेगा। क्या रखा है सारी सारी रात जागने में और अपने गले को थकाते रहने में।

"खास तौर पर फौजियों के सामने गाना। फिर फौजी भी उस तरफ के! तोबा, तोबा, इन्सान थक तो जायेगा ही।"

सकीना उनसे छेड़खानी करती, हँसती खेलती गागरों को उठाकर अपने ठिकाने की तरफ चल पड़ी।

अभी सकीना मुश्किल से दस कदम ही चली होगी कि अचानक उसके पैर डगमगा उठे। पाकिस्तानी फौजी पीछे रह गए थे-टीले के पीछे एक ख़न्दक में छिपे बैठे थे। शायद ठंडी हवा का झोंका था। खुले आकाश के नीचे यह ताज़ी हवा ही थी, खुशबुओं से लदी हुई। सकीना को लग रहा था कि वह कदम कहीं रखती थी, और वे पड़ कहीं और रहे थे। फिर उसके होंठों पर कोई नगमा थिरक उठा। स्वाद-स्वाद में उसके होंठ जैसे जुड़-जुड़ जा रहे हों। उसकी आँखें मुंद-मुंद जातीं।

"यह लड़की हमें दग़ा देगी।" पाकिस्तानी अफसर ने अपने साथी से कहा।

"दग़ा कैसे दे सकती है? बावड़ी मेरी राइफल की मार में है। इस टीले के पीछे मैं एक लड़की तो क्या; पलक झपकते दस आदमियों को भून सकता हूं।"

"मेरा दिल कहता है कि यह लड़की हमें दग़ा देगी।"

"दग़ा हरगिज़ नहीं दे सकती। हमें दग़ा देकर कहाँ जायेगी?"

"कैसे जा रही है, अनमने-अनमने, बेदिली से कदम रखते हुए।"

"यूं ही तुम्हें वहम हो गया है। रंडी की बेटी है। उसकी माँ की माँ रंडी थी। सारी उम्र जो अस्मत बेचती रही है, उसके लिए ज़मीर को बेचना कौन-सा मुश्किल है।"

"आमार सोनार बांगला... यह तो उन्हीं का नग़मा गुनगुना रही है।"

"यह इसलिए, ताकि उन्हें धोखा दे सके। मैंने उसे खुद ही तो कहा था

यह गीत गाने के लिए।"

"बावड़ी पर पहुँच गई है।"

"कितनी अच्छी तरह पानी भरने लग गई है।"

पाकिस्तानी फौजी अफसर ये बातें कर ही रहे थे कि सामने जंगल में से मुक्तिवाहिनी का एक नौजवान बावड़ी की तरफ आता दिखाई दिया। पाकिस्तानी फौजियों ने चुप्पी साध ली।

फिर उन्होंने देखा-मुक्तिवाहिनी का नौजवान तेज़ कदमों से बावड़ी पर पहुँच गया। सकीना को जैसे सिखाया गया था, वह उस आदमी को पानी पिला रही थी। हँस-हँसकर उसके साथ बातें कर रही थी।

"कमबख्त खूबसूरत कितनी है! पतली लम्बी..." उसके अफसर ने उसके मुँह पर हाथ रख दिया। सामने ही तो बावड़ी थी, अगर मुक्तिवाहिनी वाले को शक हो गया तो सारी मेहनत बेकार जायेगी।

अब सकीना ललचाई-ललचाई नज़रों और मद-भरे होठों से उसकी तरफ़ देख रही थी। उसने उस आदमी का हाथ अपने हाथों में ले लिया था। हवा तेज़ हो गई थी। सकीना के बाल उड़-उड़कर उसके चेहरे पर पड़ रहे थे। बार-बार वह बालों को पीछे करती थी, बार-बार बाल उसके मुंह पर आ पड़ते थे। तेज़ हवा में जैसे सकीना झूम रही थी। कितनी हँसमुख, कितनी शोख, कितनी चंचल!

"मैं तो इसके साथ निकाह..." उसके अफसर ने फिर उसके मुँह पर हाथ रख दिया। इस बार उसने आँखों ही आँखों में उसे डांटा। अगर मुक्तिवाहिनी वाले को शक पड़ गया तो सारा भांडा फूट जाएगा।

आसमान में पाकिस्तानी हवाई फौज का एक विमान उड़ रहा था, जैसे कोई चील आंखें फाड़-फाड़कर नीचे धरती पर शिकार ढूंढ़ रही हो। इस तरफ आये हुए उन्हें इतने दिन हो गये थे। इतने दिनों से वे इस देश में खून-खराबा कर रहे थे। लोग उनसे थर-थर काँपते थे। ज़रा-सी बात पर कर्नल रिवाल्वर निकालकर किसी भी आदमी को ढेर कर देता। ज़रा-सी बात होती तो उसका मातहत कप्तान मशीनगन से तड़ातड़ गोलियां बरसाने लग जाता और लोग दानों की तरह भूने जाते। सारे इलाके में एक दहशत-सी छाई थी। फिर भी जब वे आसमान में कोई हवाई जहाज़ देखते तो उन्हें हौसला महसूस होता, वरना आठों पहर एक अजीब किस्म की धुकधुकी उन्हें लगी रहती थी।

सामने सकीना और मुक्तिवाहिनी का नौजवान चबूतरे पर बैठे बातें कर रहे थे। मुक्तिवाहिनी का नौजवान उसके बालों की लम्बी चोटी से खेल रहा था। अब सकीना ने उसके कन्धे पर अपना सिर टिका दिया था और टकटकी लगाकर उसके चेहरे की तरफ देखती जा रही थी।

हवा और तेज़ हो गई थी। तेज़ हवा में सकीना मानो झूल-झूलकर उसकी गोदी में गिर रही थी और मुक्तिवाहिनी का नौजवान अपनी रौ में बोलता जा रहा था। वह इतनी ज़्यादा कौन-सी बातें कर रहा था? सकीना को जैसे एक नशा-सा

चढ़ रहा था और उसने आँखे मूंद ली थीं। मुक्तिवाहिनी के नौजवान ने अपनी बाँह सकीना की कमर के गिर्द लपेट ली थी। बस हवा के एक और झोंके की कसर थी, वह उसके घुटनों पर ढेर हो जायेगी। फिर न जाने सकीना के मन में क्या आया, वह एकदम सुस्थिर होकर बैठ गई और गाना शुरू कर दिया:

आमार सोना बांग्ला
आमी तोमार भालोबाशी

एक नशे में, एक हिलोर में वह गा रही थी।

फिर गाते-गाते वह नाचने लगी। जैसे कोई वज्द में आ गया हो। जैसे किसी पर जादू हो गया हो। इस तरह तो वह कभी भी नहीं नाची थी। उसके लाख नखरे हुआ करते थे। तबला हो, साज़िन्दें हों, घुंघरुओं की जोड़ियां हों, गहने हों, फूलों की वेणियां हों। अब वह नंगी धरती पर नाच रही थी। पत्थरों और कंकड़ों पर। नाचते-नाचते टीले पर जा खड़ी होती थी, कभी गड्ढे में उतर जाती थी।

वह नाचती जा रही थी। नाचती जा रही थी। जैसे थकावट का नाम ही न जानती हो। ऊपर से शाम गहरी होती जा रही थी।

इसी तरह वह नाच रही थी, कि अचानक मुक्तिवाहिनी का नौजवान चौंककर उठ खड़ा हुआ और फिर तेज़ कदमों से चला गया। जहाँ से आया था उधर ही निकल गया था।

सकीना अभी भी नाच रही थी। अब नाचने की क्या ज़रूरत थी? तो भी वह नाच रही थी। एक नशे में, एक उमंग में, नाचती जा रही थी।

फिर पाकिस्तानी अफसर अपनी खन्दक में से निकलकर बावड़ी की ओर चल पड़े। वह पगली तो नाचती ही जा रही थी। मुक्तिवाहिनी के ठिकाने का पता लेकर उस रात उन लोगों का सफाया करना ज़रूरी था।

ज्यों-ज्यों पाकिस्तानी अफसर बावड़ी की तरफ बढ़ रहे थे, त्यों-त्यों सकीना का नाच तेज़ होता जा रहा था। कभी कोई इस तरह भी नाचता है, अकेला, न कोई देखने वाला, न कोई दाद देने वाला!

अब चढ़ाई चढ़कर पाकिस्तानी अफसर उसके नज़दीक पहुँच गये थे। कोई सौ कदम दूर, जहाँ पास ही दुश्मन का राज था। वे उसे जीत लें। उसके बाद इलाके में अमन-चैन हो जायेगा। फिर चाहे वे सारी-सारी रात सकीना जैसी बंगालिनों के कोठों पर बैठे गाने सुनें, नाच देखें।

नाचते-नाचते सकीना ने फिर गाना शुरू कर दिया:

आमार सोनार बांग्ला
आमी तोमार भालोबाशी

नाचती-नाचती वह बावड़ी के किनारे पर पहुँच गई। बाँहे उठाकर उसने और ऊंची आवाज़ में 'आमार सोनार बांग्ला' गाया और पाकिस्तानी अफसरों के देखते-देखते बावड़ी में छलांग लगा दी। पाकिस्तानी अफसर बावड़ी की तरफ़ दौड़े लेकिन इससे पहले सकीना बावड़ी की ठंडी छाती में समा चुकी थी।

बन्दी

कई वर्षों से वह जेल की दीवारों में बन्द था। जेल की ऊँची-ऊँची दीवारें। दीवारों पर कांटेदार तारों के जंगले, नीचे काँच के टुकड़ों की रुकावटें। जेल की दीवारें वैसी की वैसी खड़ी थीं, जब से वह वहाँ आया था। जेल के चौकीदार बदलते रहते पर उनकी गोलियों से भरी बंदूकें वैसी की वैसी फुंकारती रहतीं। उनकी नज़रों से वैसा का वैसा कहर टपकता रहता। उनके थूक में ज़हर होता, उनकी हर हरकत में घृणा और बदतमीज़ी झलकती हुई दिखाई देती। प्रतिदिन उसी तरह की आवाज़ उसके कानों में आती जब वह सोता। प्रतिदिन उसी तरह की आवाजें उसको सुनाई दे रही होतीं जब वह जागता। जेल की रोटी वैसी की वैसी बेस्वाद होती। जेल के कर्मचारी वैसे के वैसे बेलिहाज़ होते। जेल की हवा में से वैसी की वैसी दुर्गन्ध आतीः चोरों की, उचक्कों की, डाकुओं की, जेब कतरों की, बदमाशों की, गुंडों की, झूठों की, दंभियों की, धोखेबाज़ों की, माँ के हत्यारों की, बाप के हत्यारों की, भाई के हत्यारों की। जेल की दीवारों में से वैसी की वैसी फरियादें सुनाई देतीः बेगुनाहों की, बेकसूरों की, गरीब—मज़लूमों की। वह इस सब कुछ से थक-हार कर ऊब गया था।

फिर एक जेलर आया जो घंटों उसके साथ बातें करता रहता। वह कोई चोर, डाकू, हत्यारा थोड़े ही था। वह तो समता की माँग करता था; और बस। जेलर की उसके साथ मित्रता बढ़ती गयी, बढ़ती गयी। यहाँ तक कि कई शामें वह जेल के एक नुक्कड़ में बने जेलर के बंगले में गुजार देता। जेलर से बातें जेलर की पत्नी से बातें, जेलर के बच्चों से बातें। यह संबंध एक प्रेम सा बन गया।

जब भी उसका जी चाहता जेलर के द्वार का पट खटखटाता, खिड़की से कोई आ कर देखता और फिर उसके लिए दरवाज़ा खुल जाता। दफ्तर में से वह घर चला जाता। वहाँ बैठा खाता रहता, खेलता रहता, पढ़ता रहता। पिछले कई दिनों से उसने जेलर के बच्चों को पढ़ाना शुरू कर रखा था और इस शुगल में उसका खूब जी लगा हुआ था। कभी किसी बच्चे की परीक्षा होती; कभी किसी को उसकी विशेष आवश्यकता होती और इस तरह प्रतिदिन उसकी प्रतीक्षा की जाती। एक बार वह जाता और कितनी कितनी देर वहीं बैठा रहता। उसकी लाख खातिरें होतीं।

पर फिर भी वह बन्दी था। कभी कभी जेलर की कोठी में बैठे जब वह सामने खुली सड़क को देखता तो उसका दिल धड़कने लगता। उसके पाँव में जैसे काँटे

चुभने लगते। उसके मुँह में पानी भर आता। कितनी-कितनी देर उसके नयन दूर क्षितिज पर लगे रहते। एक शाम को बच्चों को पढ़ा कर वापस जेल लौटने की बजाय वह कोठी के सामने गेट की ओर चल दिया। बरामदे में खड़े बच्चे हँसने लगे। कई कदम आगे जा कर उसे सहसा ख्याल आया और वह लज्जित सा; आँखें नीची किए लौट कर जेल के दरवाज़े की ओर चला गया।

जेलर की कोठी के आँगन में खड़े एक बार उसे ऐसे लगा जैसे उसका कोई परिचित सामने सड़क से गुज़र गया हो और वह कितनी देर एड़ियां उठा-उठा कर देखता रहा।

फिर एक दिन जब वह पढ़ा रहा था उस सड़क की एक कोठी में आग लग गई। एक शोर मचा, हो-हल्ला हुआ। फायरब्रिगेड जा रही थे, मोटरें दौड़ रही थीं। इस कोठी के सब लोग दौड़े हुए उधर चले गये। सब नौकर भाग गये। वह अकेला बरामदे में रह गया। दो कोठियाँ छोड़ कर एक कोठी जल रही थी। आग में घिरी औरतें, बच्चे चिल्ला रहे थे, तड़प रहे थे और वह बरामदे में खड़ा सुनता रहा, सुनता रहा। अपनी बाँह को उसने एक खंभे के गिर्द लपेटा हुआ था।

कई दिन पश्चात बैसाखी की एक सुबह कितनी देर वह अपने बिस्तर पर लेटा रहा। बैसाखी के दिन के साथ उसकी कई सुन्दर यादें जुड़ी थी। बैसाखी के दिन की बदमस्ती, बैसाखी के दिन की रौनक, बैसाखी के दिन की गहमागहमी का ख्याल करके उसका जी चाहता जेल की ज़ालिम दीवारों के वह टुकड़े-टुकड़े कर दे। बैसाखी के दिन उसके गाँव वाले जैसे पागल हो जाते थे। सोचते-सोचते उसको ऐसा लगा जैसे उसका अपना दिमाग आज ठिकाने न हो। बैसाखी के दिन वह प्रथम बार गाँव से शहर आया था और उसकी आँखों के सामने एक नये जीवन के पट खुल गये थे। बैसाखी के दिन उसने पहली बार 'इंकलाब ज़िन्दाबाद' का नारा सुना था। 'इंकलाब ज़िन्दाबाद' का जब उसे ख्याल आया तो कितनी देर उसके कानों में इंकलाब ज़िन्दाबाद, इंकलाब ज़िन्दाबाद गूंजता रहा। और उसका जी चाहा कि सिर टकरा टकरा कर बन्दीखाने की दीवारों को वह तोड़ दे। जब उसे इस तरह महसूस होता तो उसे अपने आप से डर लगने लगता।

आज बाहर धूप निकल आई थी और वह अभी तक अपने बिस्तर से नहीं उठा था।

आज बैसाखी का दिन था और जेलर के घर से तीसरी बार सन्देश आ चुका था-"आपको साहब बुला रहे हैं।" जब भी कोई उसे आ कर कहता तो इसका अर्थ यह होता कि बुलावा साहब के घर से है। किन्तु आज वह अपने बिस्तर से नहीं उठ रहा था।

अभी वह बिस्तर पर ही था कि जेलर स्वयं आकर उसे अपने साथ ले गया। आज बैसाखी का दिन था, बैसाखी का दिन जब पहली बार उसने अपने देश के

प्रिय नेता के मुख से सुना था "हम और गुलामी की कैद में नहीं रहेंगे। आज़ादी हमारा पैदायशी हक है"। आज कितने वर्षों से वह बन्दीखाने की दीवारों के पीछे घुल रहा था, दम तोड़ रहा था।

जेलर के घर में बैसाखी के मेले की चहल-पहल उसके दिल के चोर को जैसे बार-बार जगाती रही। वह बार-बार अपने आपको समेट-समेट रखता। उचक-उचक कर सामने सड़क पर पड़ रही नज़रों को वह रोक-रोक रखता। हवा का हर झोंका जैसे उसे उन्मत्त कर रहा था! उसे पता नहीं वह क्या खा रहा था। उसे पता नहीं वह क्या पी रहा था। उसे पता नहीं वह क्या बोल रहा था। उसे पता नहीं वह क्या सुन रहा था।

फिर आँखें मूंदे सहसा वह उठ खड़ा हुआ और साथ के गुसलखाने में चला गया। कितनी देर बाद जब वह गुसलखाने से न निकला, तो घर वालों को चिन्ता हुई। उन्होंने जब देखा गुसलखाने का पिछला दरवाज़ा खुला था, और अन्दर वह नहीं था।

कैदी कैदखाने से भाग गया था।

जेलर को जब पता लगा तो उसके पाँव के नीचे से ज़मीन खिसक गयी। उसे अपने कानों पर विश्वास नहीं आ रहा था। चारों ओर उसने अपने आदमी दौड़ाये किन्तु कैदी की कोई ख़बर न मिली।

आज़ादी की एक सुहानी याद में बैसाखी के दिन जेल की दीवारों की कैद से भागा, वह बहुत दूर अभी नहीं पहुँचा था कि डर के कारण दरिया के किनारे एक झोंपड़ी में वह जा पहुँचा। यह झोंपड़ी एक मज़दूर की थी।

मज़दूर काम पर गया हुआ था। पीछे उसकी वृद्धा माँ थी, बूढ़ा बाप था। एक और लावारिस संबंधी था और दस बच्चे थे। मज़दूर को दस रुपये रोज़ मज़दूरी मिलती थी। इतवार के दिन छुट्टी होती थी। यदि किसी दिन काम न होता तो उस दिन के पैसे कट जाते थे। बूढ़े बाप की आँखों में मोतियाबिंद आ चुका था। माँ तपेदिक की बीमारी से हड्डियों का एक पिंजरा रह गई थी। लावारिस संबंधी मिरगी का रोगी था। बच्चे जैसे जोंके हों, कोई खाँस रहे, कोई बुखार में पड़े, किसी की आँखें दुख रहीं, किसी को फोड़े निकले हुए, अधमरे-से, हर एक के चेहरे पर भूख और गरीबी चित्रित थी। हर एक को कोई न कोई रोग था। उनको पता नहीं था कि अपने आप से क्या करें। कभी आपस में लड़ने लगते, कभी बूढ़े दादा की गन्दी गालियाँ सुनने लग जाते।

कोई आध घंटा उसे इस झोंपड़ी में घुसे हुआ होगा कि उसे इस वातावरण से उसी तरह की दुर्गन्ध आने लगी जैसी उसे जेल की बैरकों में से आती थी। अशिक्षितों की, भूख की, नंगों की, गरीबों की, बेरोज़गारों की, चोरों की, हत्यारों की दुर्गन्ध।

वह इस झोंपड़ी से निकल कर दौड़ खड़ा हुआ। बाहर जाना इस समय खतरे

से खाली नहीं था। पर फिर भी वह दौड़ पड़ा! एक-एक पल उस झोंपड़ी में उसे ऐसा लगता जैसे उसका दम घुट जायेगा।

बहुत आगे नहीं गया था कि उसे एक शिवालय दिखाई दिया। चुपके से वह उसके अन्दर जा बैठा। पत्थर का एक टुकड़ा और उस पर सिन्दूर लगा हुआ था। लोग चींटियों की तरह आ-आ कर उसके सामने माथा रगड़ते और उसे अपनी मनोकामनाएं पूरी करने के लिए कहते। कोई झूठा मुकदमा जीतने के लिए विनती करता, कोई अपने पाप, अपने अपराध बख़्शवाने के लिए हाथ जोड़ता। कोई बे-इलाज रोगों का इलाज ढूंढ़ता। जो भी आता मांगता। जो भी आता फरियादें करता और बूढ़ा पुजारी हर किसी को खुश करके लौटाता। किसी को मन्त्र बताता, किसी को टोना करने के लिए कहता। पत्नी, पति की शिकायत लेकर आती, उसने पत्नी को खुश कर दिया। पति, पत्नी का दुख रोने आया उसने पति को सन्तुष्ट कर दिया और दोनों से उसने कुछ न कुछ धरवा लिया। उसे शिवालय में आए बहुत देर नहीं हुई थी कि लोग एक पन्द्रह साल के जवान बच्चे को उठाकर लाये। उसको साँप ने काटा था। लड़का काला नीला हुआ बेसुध पड़ा था। लाख जतन करने पर भी वह अब चुप न रह पाया। उसने लड़के के माता पिता से कहा कि वह उसे फौरन अस्पताल ले जायें। अभी यह बात उसके मुँह में ही थी कि पुज़ारी ने उसे इस तरह देखा जैसे नज़रों से उसे भस्म कर देगा।

पुजारी मन्त्र पढ़ता रहा, फूँकें मारता रहा, हर फूँक पर घर वालों से कुछ न कुछ धरवा लेता। उसके देखते-देखते काली-नीली काया वाला पंद्रह साल का वह बच्चा ठंडा हो गया। बदनसीब माँ बाप जब अपने बच्चे की लाश को उठा कर ले जा रहे थे तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे अन्धविश्वास की दीवारें उसे चारों ओर से घेरे हुए थीं और उनमें वह एक तिल की तरह पिसा जा रहा था। जैसे उसे कभी कभी जेल की दीवारों को देख कर लगता था। वह आँखे बन्द किए पसीना-पसीना हुआ शिवालय में से निकल आया।

सड़क पर चलना, धरती पर कहीं भी बाहर एक क़दम रखना उसके लिए लाख ख़तरों से भरा हुआ था। उसको पता था कि सैकड़ों लोग उसकी तलाश में फिर रहे होंगे, और अभी वह थोड़ी दूर ही गया था कि उसने देखा कई लोग एक कतार में खड़े थे। वह भी उनमें खड़ा हो गया। कतार इतनी लम्बी थी, इतनी लम्बी थी कि उसका सिरा कहीं नज़र ही नहीं आ रहा था। धीरे-धीरे लोगों की बातों से उसे पता लगा कि वह क़तार बेकार आदमियों की थी जो काम की तलाश में अपना नाम लिखाने के लिए खड़े थे। इतने बेकार लोग, इतने बेकार लोग। वे तो जेल के बन्दियों से भी अधिक थे। कोई कहता वह दो दिन से वहाँ खड़ा था, बैठा हुआ था। कोई कहता वह तो तीन दिन से धरना जमाये हुए था। तब भी उसकी बारी नहीं आई थी। अभी यह कतार बढ रही थी। इतनी लम्बी, इतनी लम्बी! न उसका

अगला सिरा किसी को दिखाई देता था न पिछला सिरा।

सहसा उसे वह कतार जेल की दीवारों की तरह अचल खड़ी हुई मालूम होने लगी। पत्थरों की दीवार, शिलाओं की दीवार, जो किसी के तोड़ने से नहीं टूटती थी, बढ़ती ही जाती थी, बढ़ती ही जाती थी, दीवारों के पीछे दीवारें उभर रही थीं। उसे लगा जैसे वह जकड़ा जा रहा हो। उसको इस कड़ी कैद में से कोई नहीं निकाल सकेगा।

वह पागलों की तरह वहाँ से भाग निकला। दौड़ता गया, दौड़ता गया। जिन राहों से वह आया था उन राहों से वह वापस दौड़ता गया, दौड़ता गया और इससे पहले कि जेलखाने वाले निराश होते, इससे पहले कि रजिस्टरों में एक बन्दी के भाग जाने की रपट दर्ज होती, वह वापस अपनी कोठरी में जा पहुँचा।

धुंधलके के बीच

बस अजंता गाँव के सदियों पुराने दरवाज़े में से अन्दर घुसी ही थी कि आगे सड़क के दोनों ओर खड़े स्कूल के सैकड़ों लड़कों ने बस को ठहराने के लिए हाथ उठा लिए और 'रोक लो, रोक लो' का शोर मच गया। बस को रोक लिया गया। बस जब रुकी, तब कोई एक हज़ार बच्चे बस को चारों ओर से घेर कर खड़े हो गये। फिर एक ऊँचा-लम्बा, देखने में अधेड़ उम्र का आदमी बस में चढ़ आया। आगे-आगे वह, पीछे-पीछे उस का सामान लाया गया- चादर में लपेटा हुआ एक रेडियो, अख़बार में लिपटी रेडियो की बैटरी, एक हैंडल वाली पिटारी जिस में ढेर सारी अल्लम-गल्लम चीजें पड़ी थीं। इस सवारी का बाकी सामान, बस के ऊपर रखा गया। आगे-आगे यह आदमी आया, पीछे-पीछे इस का सामान और फिर एक औरत सफेद धोती में लिपटी हुई, मानो गाय हो।

बस में नया आया आदमी सीधा आ कर मेरे पास बैठ गया। मैं सब से पीछे की सीट पर बैठा था। उस की पत्नी हम से आगे वाली सीट पर मेरी पत्नी के साथ बैठ गई। जितनी देर बस रुकी रही, यह आदमी बाहर खड़े लोगों को सामान के बारे में हिदायतें देता रहा। एक से अधिक बार उस ने चीजें गिनवाईं। एक से अधिक बार उस ने अपने सन्दूक के बारे में पूछा। एक से अधिक बार उस ने बिस्तर के बारे में अपनी तसल्ली की। एक से अधिक बार उस ने कहा - 'कपड़े सीने की मशीन भी अन्दर रख दीं जाती तो अच्छा होता।' हर बार बाहर से उसे यही जवाब मिलता-'बस के अन्दर सामान रखने की आज्ञा नहीं है।' जितनी देर बस रुकी रही, बाहर खड़े बच्चे 'जय हिन्द' और 'ज़िन्दाबाद' के नारे लगाते रहे।

बस चलने को हुई। नया सवार हुआ यह आदमी सहसा बस की एक ओर की खिड़की को खोलने लगा। लेकिन इस खिड़की का शीशा खुल नहीं रहा था। अगली सीट का शीशा खुला हुआ था। उस ने खिड़की के पास बैठी सवारी से अनुग्रह किया -'भाई साहब, तनिक सरकना मैं बच्चों को ज़रा एक बार देख लूँ।' लेकिन इस से पहले कि वह मुसाफिर एक ओर को खिसक सका, यह नई सवारी वहाँ पहुँच सकी, बस चल दी।

बस चली और 'जय हिन्द' का एक बहुत ऊँचा नारा लगाया गया। जैसे आकाश फट गया हो। बस धूल उड़ाती हुई निकल आई। कितनी देर इस नई सवारी की आँखें मुंदी रही।

मेरे पास बैठा हमारा बच्चा, यह सब कुछ देख कर, आँखों ही आँखों मुझ से सवाल पर सवाल किए जा रहा था। आख़िर मैंने चुपके से अँग्रेज़ी में उसे बताया-"मेरा ख्याल है कि यह साहब स्कूल मास्टर हैं और शायद इन की यहां से तबदीली हो गई है।"

"नहीं सरदार साहब," मेरी बात सुन कर वह बोल उठा-"नहीं सरदार साहब! मेरा तबादला नहीं हुआ, मैं तो रिटायर हो गया हूँ। मैं इस स्कूल का हैडमास्टर था। तेंतिस साल नौकरी कर के रिटायर हुआ हूँ। तेंतिस साल एक उम्र होती है। तबादले भी बहुत हुए। मैंने अट्ठाईस जगहों पर काम किया है। ज़रा ख्याल कीजिए, यह मेरा अट्ठाईसवाँ गाँव था। गाँव-गाँव यों घूमते हुए किसी में क्या रह जाता है? अब जो सामान मैं यहाँ से ले जा रहा हूँ, उस का चौथा हिस्सा भी नहीं जो हम ने यहाँ बनवाया था। नौकरी बुरी चीज़ है। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहिं।" हैडमास्टर साहब बोलते जा रहे थे-"अगर मैं चाहता तो पाँच साल और नौकरी कर सकता था। पर मैंने कहा, नहीं। अब बहुत हो गई। अब तो मैं आराम करूँगा। किस महंगे भाव मुझे यह आराम मिला है। बच्चों को पढ़ाना बड़ा कठिन है। हैडमास्टरी करना भी कोई आसान नहीं! मेरे नीचे बीस मास्टर काम करते थे। चार चपरासी थे। आजकल हुकूमत का ज़माना नहीं रहा। सख्ती करो तो काम नहीं करते, नरमी बरतो तो काम नहीं करते। बड़ा तौल कर क़दम रखना पड़ता है। मैंने सब कुछ छोड़ दिया। मैं ने कहा, मैं आराम करूँगा। पाँच साल और कौन इस कीचड़ में फँसता।"

हैडमास्टर साहब बोलते जा रहे थे। मैं और मेरा बच्चा बड़े ध्यान से सुन रहे थे। अगली सीट पर दाईं और बैठी मेरी पत्नी भी सुन रही थी। उस के बाईं ओर बैठी हैडमास्टर की पत्नी भी सुन रही थी।

"इन बच्चों के साथ मेरा बड़ा मन रम गया था। बेचारे दो घंटे से सड़क पर खड़े थे। आज बस लेट आई। गरमी भी तो कितनी पड़ रही है। इस गरमी में, धूप में खड़े रहे। सारा गाँव छान मारा, और उन्हें कहीं फूल नहीं मिले। मुझे हार पहनाना चाहते थे। फूल नहीं मिले और यह पान के पत्तें उन्हों ने भेंट किए।"

सामने पिटारी में से हैडमास्टर साहब ने पान के पत्तों की पोटली खोली और जेब में से मसाले की डिब्बी निकाल कर पान लगाना शुरू कर दिया।

"आप पान तो नहीं खाते होंगे। सरदार लोग पान नहीं खाते। मेरे कई पंजाबी दोस्त हैं। मैं मारवाड़ी ब्राह्मण हूँ। हमारा इलाका पंजाब को छूता है। हम गेहूँ खाने वाले हैं। गेहूँ की रोटी के बिना मेरी भूख नहीं मिटती! इधर के लोग चावल खाते हैं। मेरी पत्नी इस ओर की है, हैदराबाद की। इसे चावल अच्छे लगते हैं। यों जन्म मेरा भी इधर का है। नान्देड़ के पास एक गाँव में मेरा जन्म हुआ था। इधर ही मैं पढ़ा। इधर ही मैंने नौकरी की। वास्तव में हम हैं उधर के। मुझे गेहूँ

भाता है। एक बार इधर के एक ज़मींदार ने मुझे खाने पर बुलाया। भांति-भांति की चीज़ें थीं। तरह-तरह के पुलाव पके थे। मैं इंतजार करता रहा, इंतजार करता रहा, आख़िर मैंने पूछा, क्या रोटी नहीं आयेगी? जब उन्हों ने बताया कि गेहूँ की रोटी तो पकी नहीं थी, तब मेरा सारा मज़ा किरकिरा हो गया। पंजाब के लोग बहादुर होते हैं। गेहूँ की रोटी में बड़ी ताकत होती है। मैं अपनी पत्नी से हमेशा कहा करता हूं, गेहूँ की रोटी खाया करो। लेकिन इसे चावल अच्छे लगते हैं और मुझे गेहूँ। हम मिल-जुल कर गुज़ारा कर लेते है। ज़िन्दगी मज़े में गुज़र गई है।"

हैडमास्टर साहब के पास सीट पर जगह खाली थी! एक बार खाली स्थान देखकर, अपनी पत्नी की ओर उन्हों ने देखा-"भाग्यवान! इधर आ कर बैठ जा," उन्हों ने अपनी पत्नी को राय दी। लेकिन उस ने जैसे सुना ही न हो। वह अब मेरी पत्नी से बातें कर रही थी।

"मेरी पत्नी का यहाँ मन लग गया था," हैडमास्टर साहब ने फिर हमारी ओर मुँह कर के बोलना शुरू कर दिया-"मन तो लग गया था, लेकिन नौकरी जो ठहरी। नौकरी, नौकरी है। इस गाँव के बच्चे बहुत अच्छे थे, बड़ी श्रद्धा वाले। आज कई खाना खाने नहीं गये। सुबह के भूखे थे। नये हैडमास्टर ने आधे दिन के लिए स्कूल बन्द कर दिया था। लौंडा-सा है। पुराने लोग तो अब एक-एक कर के रिटायर हो रहे हैं। यह नौजवान नहीं टिकने के गाँव में। जब भी कोई और नौकरी मिलती है, लात मार कर शहर चले जाते हैं। यह गाँव कोई बुरा नहीं। कहते हैं, यहाँ बिजली आ जायेगी। हम अपना रेडियो बैटरी से चलाते रहे, और अब यहाँ बिजली आ जायेगी।"

हैडमास्टर साहब का ध्यान अब नीचे पाँव के पास रखे रेडियो की ओर गया। छपी हुई फूलदार चादर में वह लिपटा हुआ था। फिर उन्हों ने मुझ से अनुमति ले कर रेडियो सीट पर रख लिया। कहने लगे-"आप के बच्चे के लिए और जगह हो जाएगी। टाँगें अच्छी तरह फैला सकेगा।"

"यह रेडियो मूलर्ड है," फिर उन्हों ने अपना कलाम जारी रखा-"मूलर्ड एक मशहूर अँग्रेज़ी कम्पनी है। मैंने छः सौ में इसे खरीदा था। खरीदो तो चाहे कित्ते में, बेचने जाओ तो कुछ दाम नहीं पड़ता। फिर यह अँग्रेज़ी रेडियो यों है जैसे कोई हिन्दुस्तानी किसी मेम के साथ शादी कर ले। जब इस की कोई कल ढीली होती है, कहता है-शहर ले चलो। यहाँ किसी को इस के कल-पुरज़ों की कुछ समझ नहीं। अब तो मैं इसे बेच दूँगा। छः वाल्व का कोई सुन्दर-सा नया रेडियो खरीदूँगा और बैटरी भी कम खर्च होगी। यों बैटरी की मैं ने कभी परवाह नहीं की। शाम को सैर से लौट कर एक बार जो चलाता हूँ तो रात के ग्यारह बजे तक सुनता रहता हूँ। जब रेडियो वाले सभा समाप्त करते हैं, तभी मैं बन्द करता हूँ। मैंने कभी हैदराबाद नहीं सुना। मैं तो लखनऊ सुनता हूँ। कभी-कभी बम्बई

से भी प्रोग्राम अच्छे आते हैं। लखनऊ के प्रोग्राम बढ़िया होते हैं। पिछले दिनों उन्हों ने एक प्रोग्राम सुनवाया था–'बिल्ली बोली म्याऊँ-म्याऊँ! मेरी पत्नी को वह बड़ा अच्छा लगा। परसों ही कह रही थी, फिर वह प्रोग्राम नहीं आया। मैंने कहा– "भाग्यवान! हम ने उन्हें लिखा नहीं, उन्हों ने फिर सुनवाया नहीं। उन का क्या कसूर है। रेडियो से घर में रौनक रहती है। नहीं तो घर खाने को दौड़ता है।"

अगले अड्डे पर बस रुकी तो हमारे सामने की सीट पर, बाईं ओर बैठी सवारी उतर गई। साँझ की हल्की-हल्की धूप, दाईं ओर की खिड़की से हैडमास्टर साहब की पत्नी पर पड़ रही थी। उन्हों ने उस से कहा–"भाग्यवान! तुम इधर आ कर बैठ जाओ। देखो तुम पर धूप पड़ रही है।" लेकिन हैडमास्टर साहब की पत्नी ने जैसे सुनी-अनसुनी कर दी।

कुछ देर बाद, हैडमास्टर साहब ने फिर उसे कहा–"नेकबख्त, इधर आ जाओ। यह सीट खाली है। नहीं तो कोई और आ कर बैठ जायेगा।" हैडमास्टर साहब को डर था, नई चढ़ रही सवारियों में से कोई उन के पास आ कर बैठ जायेगा और उन की पत्नी उन से दूर हो जायेगी। इस बार उन की पत्नी बिना कुछ कहे, अपने-आप को संभालती हुई, हैडमास्टर साहब के पास की सीट पर आ बैठी। जो जगह खाली बची थी, उन्हों ने वहाँ पिटारी रख ली ताकि वहाँ कोई और न बैठ सके।

"अगर मैं चाहता तो पाँच साल और नौकरी करना मेरे लिए कोई कठिन नहीं था," हैडमास्टर साहब ने अपनी कहानी जारी रखी। "मेरे कई साथियों को इजाज़त मिल गई है। लेकिन मैं ने कहा, मैं तो आराम करूँगा। यहाँ से अब मैं औरंगाबाद जाऊँगा। वहाँ तीन दिन रह कर मैं अपने गाँव जाऊँगा। नान्देड़ से कोई तीस मील दूर है। वहाँ चार दिन रह कर फिर मैं एक और गाँव जाऊँगा। कोई बीस मील उधर। वहाँ मेरा सामान पड़ा है। उस गाँव में भी मैं ने हैडमास्टरी की है। वहाँ से सामान ला कर फिर हम हैदराबाद शहर जायेंगे। वहाँ मेरी पत्नी का भाई रहता है। बहनों का भाइयों से बड़ा प्रेम होता है। इसे इस के भाई से मिलवाऊँगा। हम पूरा महीना हैदराबाद में रहेंगे। हैदराबाद बढ़िया शहर है। इन दिनों वहाँ नुमाइश लगती है। सारा दिन आराम और शाम को नुमाइश की सैर। अब तो मेरा जी चाहता है कि सैर करूँ। मैं तो सारे देश में घूमना चाहता हूँ। बस, हम दोनो जायेंगे। साल में बारह-पन्द्रह सौ रुपया मैं सैर पर खर्च करना चाहता हूँ।

कभी मैं सोचता हूँ, एक नई फटफटी निकली है, तीन पहियों वाली, वह खरीद लूँगा। कोई अठारह सौ-दो हज़ार में मिलती है। उस के पीछे चार पहियों वाला ठेला भी लग जाता है। बस ठेले पर सामान लादा; और चल मेरे भाई। एक ड्राइवर रख लेंगे और एक नौकर रोटी पकाने को। और हम दोनों, पति-पत्नी, सारे देश

की सैर करेंगे, जगह-जगह घूमेंगे। भाखड़ा-नंगल देखने का मेरा बड़ा मन है। इसे हरिद्वार जाने का बड़ा चाव है। अपनी सवारी बादशाही होती है। अब यह बस है, जहाँ इन की मरज़ी होती है, रोकते हैं, जहाँ इन की मरज़ी नहीं होती, नहीं रोकते। अपनी सवारी हो तो जहाँ कोई अच्छी जगह देखी, वहीं ठहर गये। रात काट ली। मैं पचास मील से ज़्यादा एक दिन में सफर करने के हक में नहीं।"

कोई गाँव था; और बस रुक गई थी। "इस गाँव का नाम 'फूलभरी' है," हैडमास्टर साहब ने अपनी पत्नी को आगे झुक कर बताया। "फूलभरी का मास्टर विनायक राव बड़ा मशहूर गवैया था।"

मैं ने कहा-"विनायक राव पटवर्द्धन?"

"नहीं जी, यह और था। सूरदास के भजन बड़े अच्छे गाता था।"

"सूरदास के भजन तो मेरे स्कूल के लड़के भी बड़ा अच्छा गाते थे," हैडमास्टर साहब को फिर स्कूल याद आ रहा था। "हर रोज़ सवेरे मैं स्कूल की पढ़ाई सूरदास के किसी भजन के साथ शुरू करवाता था। अब सूरदास को कौन पूछेगा? भजन तो अब रेडियो में भी अच्छे आते हैं। अब हम गाँव में नहीं रहेंगे, गाँव का जीवन-बुरा। न ही मैं शहर में रहूँगा। शहरों के तो किराये ही दम नहीं लेने देते। मैं तो अब किसी कसबे में रहूँगा-जहाँ बिजली हो। बिजली से रेडियो अच्छा चलता है। बिजली हो सीमेंट की सड़कें हों। छोटा-मोटा अस्पताल हो, शहर जाने के लिए बस या गाड़ी हो। यहाँ से नज़दीक 'पूर्ण' नाम का एक कसबा है। मेरा जी चाहता है, वहाँ घर ले कर बस जाऊं। 'पूर्ण' में एक पुराना मंदिर भी है। ताज़ी सब्ज़ी मिल जाये, दूध-दही मिल जाये और आदमी की ज़रूरतें ही क्या हैं..."

बस अगले पड़ाव पर आ कर फिर रुकी। "यह गाँव धरमार है। यहीं का तो काशीपति नाज़िम था," हैडमासटर साहब ने फिर अपनी पत्नी को आगे झुक कर बताया।

बस फिर चल दी। हैडमासटर साहब ख़ामोश हो गये। अगले पड़ाव पर जब बस रुकी, वह फिर आगे झुके-"इस गाँव का नाम भुन्तर है। यहाँ का डाकबंगला बड़ा मशहूर है। वह सामने देखती हो न?" उन्हों ने एक इमारत की ओर उंगली का संकेत कर के अपनी पत्नी को बताया।

"वह तो स्कूल है, स्कूल। देखते नहीं बच्चे खेल रहे हैं?" उन की पत्नी ने हँसते हुए हैडमास्टर साहब से कहा। "कल रिटायर हुए और आज स्कूल भी नहीं पहचानते।"

हैडमास्टर साहब स्तम्भित से रह गये। "हैं! यह स्कूल है?" उन्हों ने खिड़की से बाहर झुक कर देखते हुए कहा-"शायद स्कूल ही होगा। तुम ठीक ही कहती हो, स्कूल ही होगा; शायद।"

तितली

तितली का नृत्य आरम्भ हो चुका था। इस कमबख़्त शहर में कभी कुछ होता ही नहीं था। न कोई अच्छी फिल्म आती थी, न कोई और बढ़िया प्रोग्राम कभी बनता था। बस एक उद्योग प्रदर्शनी होती जिस पर लोग टूट-टूट पड़ते थे। इस नुमाइश में मंत्री भी आते थे, अफ़सर भी आते थे, सेठ भी आते थे, ठेकेदार भी आते थे। वैसे क्लब में वही लोग, पार्टियों में वही लोग, खुशी में वही लोग, ग़मी में वही लोग। वही लोग शाम को सैर के लिए निकलो तो मिलते, वही लोग बाज़ार जाओ तो नज़र आते।

आज जब देश के इतने विख्यात कलाकारों के नृत्य की सूचना मिली तो सारे का सारा शहर जैसे टूट पड़ा था। मुख्यमंत्री से लेकर छोटे से छोटे अफ़सर तक सब लोग आये थे। पत्रकार थे, फोटोग्राफर थे, रेडियो वाले थे।

सब से पहले मुख्यमंत्री ने कार्यक्रम का उद्घाटन किया। फिर कलाकार रंगमंच पर आये, उन का परिचय दिया गया। फिर सब ने मिल कर एक तराना गाया और नृत्य आरम्भ हुआ।

नृत्य को शुरू हुए कुछ देर हो चुकी थी। पहली चीज़ जो यह लोग प्रस्तुत कर रहे थे, वह तितली का नाच था।

घास के सूखे पत्तों पर एक अंडा पड़ा है। इस अंडे को सूर्य आकर अपनी किरणों से गरमाता रहता है। फिर इस अंडे में से एक बच्चा निकलता है। बच्चा इधर-उधर नाचने-कूदने लगता है। इधर मुँह मारता है, उधर मुँह मारता है। कभी एक ओर खेलता हैं, कभी दूसरी ओर चक्कर लगाता है। सूर्य की किरणें उसे आकर ऊर्जा प्रदान करती हैं। फिर तितली का वह "लारवा" फुर करके उड़ जाता है। उधर वह उड़ता है इधर सूर्य खिलखिला कर हँसने लगता है।

लारवा तितली बन कर उड़ा ही था कि मुझे अपने बाईं ओर से इत्र की सुगन्ध आई। मैं ने एक नज़र उधर देखा- मिसिज़ राम पीछे अपनी सीट से उठ कर आगे कहीं जा रही थीं। कंधों पर नाच रहे बालों के घूँघर, महीन पतली जारजेट की ऊदी साड़ी, इतनी पतली कि साड़ी पर नज़र ज़्यादा जाती थी, मिसिज़ राम की ओर कम। निचला लटका हुआ होंठ जैसे लिपस्टिक के बोझ तले बैठ गया हो। और अन्दर दूध से सफ़ेद बनावटी दाँत चम-चम कर रहे थे। तेज़-तेज़ जा रही थी जैसे कोई ज़रूरी बात उसे याद आ गई हो। ऊदे रंग के मोतियों वाले उस के झुमके थर-थर काँप रहे थे।

"यह किधर मुँह उठाये जा रही है?" मेरी पत्नी ने जिस ओर से मिसिज़ राम उठ कर आई थी उस ओर देखते हुए कहा। प्रोफ़ेसर राम शान्त गंभीर-सा अपनी बुश-शर्ट के एक कोने से ऐनक के शीशे साफ़ कर रहा था। ऐनक के बग़ैर उस की कमज़ोर आँखे रंगमंच पर टिकी हुई थीं।

जान-बूझ कर शरमाने की कोशिश में लचक-लचक पड़ती मिसिज़ राम अभी भी सीटों के दरमियान दर्शकों को उठा रही थी, लोगों के अभिवादन स्वीकार कर रही थी, मुसकानों का जवाब हँसी में देते हुए आगे जा रही थी।

"यह कहाँ मुँह उठाये जा रही है?" मेरी पत्नी ने फिर सवाल किया।

"आज के प्रोग्राम के मुख्य प्रबन्धक के साथ जाकर कोई बात करेगी और फिर उस के पास बैठ जायेगी!" मैं ने अनुमान लगाते हुए कहा।

मेरी पत्नी हँस दी, जैसे मैं मज़ाक कर रहा हूँ।

अभी उस की हँसी उस के होंठों पर ही थी कि मिसिज़ राम ठीक जैसे मैंने कहा था, नृत्य मंडली को मँगवाने वाली कमेटी के मुख्य प्रबंधक की ओर गई। उसे अपनी ओर आते देख कर उस ने उठ कर उसका सत्कार किया और वह उस के साथ सोफ़े पर बैठ गई, और इस भाँति बातें करने लगी जैसे कोई अत्यन्त गंभीर समस्या हो और उसे समझ नहीं आ रहा था कि वह क्या करे। बातें करते, बार-बार अपने माथे के पसीने को पोंछे जा रही थी।

स्टेज पर उड़ा 'लारवा' तितली के रूप में जैसे एक घास के नरम पत्ते पर जा बैठा था। रंग-बिरंगी तितली जैसे घास की हरियाली में शहद की मिठास ढूँढ़ रही थी। नृत्य कर रही कुशल कलाकार का अंग-अंग तीव्रता से थिरक रहा था। पहली बार तितली उड़ कर कैसे अपनी खुराक ढूँढ़ती है, इस दृश्य को अत्यन्त सुन्दर ढंग से दर्शाया जा रहा था। कलाकार की हर हरकत पर लोग वाह-वाह कर रहे थे। कैसे वह मुँह मार रही थी, मुँह मारती जैसे टटोल रही हो। अंग-अंग उस का जैसे एक मधुरता में काँप रहा था। परदे के पीछे से आ रही संगीत की धुन कितनी आकर्षक थी! सारा हॉल मुग्ध हो रहा था।

मिसिज़ राम बातें करती जा रही थी। जिस के साथ वह बातें कर रही थी, उस की नज़रें बार-बार रंगमंच की ओर जातीं, किन्तु मिसेज़ राम तो एक साँस बोलती जा रही थी। रंगमंच की ओर तक़रीबन उस की पीठ थी। निचले होंठ को एक तरफ़ से अब उस ने जैसे दाँतों के नीचे दबा लिया और उस का वह होंठ अब ढलका हुआ नहीं नज़र आ रहा था। कितनी प्यारी लग रही थी मिसेज़ राम!

सारे हाल में तालियों का एक शोर मच गया। देर तक तालियाँ बजती रहीं। घास पर बैठी मुँह मार रही तितली थक कर कुछ इस तरह उठी और वहाँ से उड़ कर रंगमंच पर कुछ इस तरह घूमने लगी कि हवा में उड़ रहे उस के रंग-बिरंगे पतले महीन वस्त्र, हू-ब-हू मानो एक तितली उड़ रही हो। उड़ रही और आँखें

फाड़े इधर-उधर ढूँढ रही। उड़ रही और सिर घुमा-घुमा कर तलाश कर रही। कहीं कुछ और खाने की चीज़ हो। यह घास तो बे स्वादा-सा था। मिट्टी की इस में से बू आ रही थी। ढूँढ़ती हुई, सूँघती हुई तितली गुलदावदी के एक पत्ते पर जा बैठी। गुलदावदियाँ अभी खिली नहीं थीं। जिस भाँति कलाकार ढूँढती हुई किसी पत्ते को चुन कर उस पर जा बैठी, लोगों ने उस अंदाज़ की श्लाघा में फिर तालियाँ बजाना शुरू कर दिया और कितनी देर तालियाँ बजती रहीं।

सामने मिसिज़ राम भी तालियाँ बजाने वालों में शामिल थी। ताली बजाती वह उठ खड़ी हुई और अब बाईं ओर आगे चल दी।

मैंने मुड़ कर एक नज़र प्रोफ़ेसर राम को देखा। बाहर से आया कोई लेट तमाशबीन उस के साथ खाली कुर्सी पर बैठना चाह रहा था। प्रोफ़ेसर राम उसे समझा रहा था कि ख़ाली सीट उस की बीवी की थी जो किसी से मिलने आई थी, और जो कि अभी लौट आयेगी। परन्तु देर से आये तमाशबीन ने शराब कुछ ज़्यादा पी हुई थी और उसे प्रोफ़ेसर राम की बात जैसे सुनाई नहीं दे रही थी। प्रोफ़ेसर राम बार-बार हाथ जोड़ता, बार-बार उस के कानों में कहता "मेरी घरवाली, मेरी पत्नी, मेरे बच्चों की माँ, मेरी बीवी..."

पर बाहर से आये आदमी के तो जैसे कुछ समझ में ही नहीं आ रहा था।

प्रोफ़ेसर राम की पत्नी आगे ही आगे जा रही थी।

"यह अब कहाँ बहती जा रही है?" मेरी पत्नी ने फिर सवाल किया।

"अब यह शिक्षा मंत्री के पास जाकर बैठेगी।" मैं ने अंदाज़ा लगाया।

अभी बात मेरे होंठों पर ही थी कि मिसिज़ राम प्रदेश के शिक्षा विभाग के मंत्री के पास जा बैठी। बैठते ही उस ने साड़ी से अपने फूले हुए बालों को ढक लिया। और पल्ले को अपनी गरदन के गिर्द घुमाते हुए, और की और बन गई। ऊदे रंग की साड़ी में गोरा लिपटा हुआ उसका चेहरा अत्यन्त सुन्दर लग रहा था। मुस्करा-मुस्करा कर, सिर हिला-हिला कर कुछ बोल रही थी, कुछ सुन रही थी। हर बात पर जैसे कह रही थी, यह हो जायेगा। यह कौन-सा मुश्किल है! मैं चाहूँ तो एक पल में यह करवा दूँ। कुछ इस तरह के आत्मविश्वास में पटाख़-पटाख़ वह बातें कर रही थी और सुनने वाला सुन-सुन कर हँस रहा था।

और हॉल में बैठे सारे दर्शक हँस रहे थे। रंगमंच पर तितली गुलदावदी के चिकने पत्ते पर बार-बार अपने आप को सन्तुलित करने की कोशिश कर रही थी। कुछ पत्ता हलका था, कुछ पत्ता चिकना था और तितली के पाँव जमने में ही न आते थे। किस घबराहट में तितली हाथ पाँव मार रही थी! कहीं उस का मुँह पड़ जाये, कहीं उसका पैर जम जाये। हाथों पे ही कोई सहारा मिल जाये। तितली भूखी थी। हबड़-हबड़ कर रही थी! गुलदावदी का पत्ता, उस को लगता, शायद खट्टा-खट्टा हो। खट्टा रस चूसने को उस का कितना जी चाह रहा था। वह तो पैदा होते ही

जैसे जवान हो गई थी। गुलदावदी के पत्ते का कुछ रस और वह कहीं की कहीं उड़ जायेगी। उस में और के और रंग भर जाएँगे। उस की पंखड़ियों में अधिक शक्ति आ जायेगी और फिर वह गाना शुरू कर देगी। मस्त होकर खेलना शुरू कर देगी। लेकिन यह गुलदावदी का पत्ता कैसा था, उस के पाँव ही नहीं जमने देता था?

इस सब को रंगमंच पर कलाकार एक अत्यन्त सुन्दर ढंग से दिखा रही थी। हाल में दर्शकों की नज़रें उस की प्रत्येक मुद्रा पर, उस के अंगों की हर कँपन पर लगी हुई थीं।

सहसा मेरे पास बैठी मेरी पत्नी ने मेरा ध्यान मिसिज़ राम की ओर दिलाया। वह उठ कर और आगे जा रही थी। सब से अगली सीट पर।

"अब कहाँ जायेगी?" मेरी पत्नी के स्वर में व्यंग्य था।

"हाँ मैं बता सकता हूँ। अब यह मुख्य मंत्री के पास जायेगी। पहले उस की पत्नी को नमस्ते करेगी; फिर मुख्य मंत्री से बातें करना शुरू कर देगी।

मेरा अनुमान कभी भी इतना सही नहीं निकला, जितना मिसिज़ राम के संबंध में उस दिन ठीक निकल रहा था। मैं पिछले कई वर्षों से मिसिज़ राम को देख रहा था। उस के पति प्रोफ़ेसर राम के घर मेरा आना-जाना था। भला आदमी था बेचारा। अपने काम से काम। सारा समय पढ़ता रहता या लिखता रहता। पहले उस की तनख्वाह कम थी। अब उस की तनख्वाह बढ़ गई थी। उस को कोई फ़र्क नहीं पड़ा। उस ने अपने खर्च नहीं बढ़ाये थे। हाँ मिसिज़ राम की और बात थी। उसे बाल बनवाने के लिए भी जाना पड़ता था, उस के दर्जियों के बिल भी आये रहते थे, उस के जो दोस्त उस को साड़ियाँ आदि उपहार देते उन को भी तो कुछ न कुछ देना होता था।

इधर मिसिज़ राम मुख्य मंत्री के सोफ़े के पास जाकर खड़ी हुई, बात करने के लिए उसने गरदन झुकाई, उस के बालों की लटें उस के गुलाबी गालों पर आकर गिरीं, उधर रंगमंच पर तितली गुलदावदी के फूल से उड़ कर सुनहरी रंग के एक अत्यन्त प्यारे खिले हुए गुलाब के फूल पर जा बैठी। गुलाब की पत्तियों पर बैठते ही उस ने एक नशे में अपने होंठों से रस पीना शुरू कर दिया। गुलाब के फूल को देख कर तितली कितनी खुश हुई थी! उस की पत्तियों की मुलायम छाती पर बैठ कर वह किस तरह मचल-मचल उठी थी और फिर किस तरह उस ने रस पीना शुरू कर दिया था। यह सब कुछ उस निपुण कलाकार ने कुछ इस तरह दर्शाया कि दर्शकों को जैसे समझ नहीं आ रहा था, वह कैसे दाद दें, साँस रोके सब बैठे थे और आँखें फाड़े एक-एक हाव-भाव को, एक-एक मुद्रा को, एक नशे में देख रहे थे।

मिसेज़ राम एक क्षण भर के लिए मुख्य मन्त्री की पत्नी से बातें करने के

पश्चात् अब उस के पति के साथ बातों में खो गई थी। किस तरह अपनी आँखें उस पर जमाये हुए थी! एक गाल पर उँगली रखे किस तरह उस की ओर देख रही थी! उस की मुसकानें उस की आँखों के रास्ते फूट-फूटकर निकल रही थीं। उस के बलों की एक चंचल लट बार-बार उस के माथे पर आ पड़ती थी और बार-बार वह उस को पीछे करती थी। लट ने कुछ इस तरह ज़िद पकड़ ली थी कि फिर फिसल कर आगे आ जाती और हर बार जब लट यों उस के खुले माथे पर आकर गिरती, मिसिज़ राम कितनी प्यारी लगती थी!

मैंने मुड़ कर देखा, प्रोफ़ेसर राम के पास उस की पत्नी की खाली सीट पर लेट आया शराबी कभी का डट चुका था। "बाबू जी, जब आपकी पत्नी लौट आयेंगी तो मैं उठ जाऊँगा।" मेरी पत्नी ने मेरे हृदय की बात समझ कर कहा, "उस शराबी ने प्रोफ़ेसर राम को यही जवाब दिया होगा।" और हम दोनों हँसने लगे।

रंगमंच पर सब से बढ़िया, सब से सुन्दर, सब से अधिक प्यारी सुगन्ध वाले गुलाब का रस पी रही तितली मस्ती में जैसे झूम रही थी। उधर मिसिज़ राम मुख्य मंत्री के साथ बातें कर रही इस तरह खो गई जैसे उसे आस-पास की सुध-बुध ही न रही हो। क्या उसे इतनी बातें करनी थीं! बातें करते जैसे इस औरत का जी नहीं भरता था।

गुलाब का रस पी रही तितली जैसे लबालब भर गई थी और बदमस्त शराबी की तरह एक हिलोर में, एक नशे में वह वापस अपने ठिकाने की ओर चल दी। इस बार रंगमंच पर कलाकर ने कला के उन शिखरों को छुआ कि दर्शक सब के सब अवाक् रह गये। वाद्य संगीत की धुन अत्यन्त मधुर हो गई। तितली अपनी हर गति में रंग भर रही थी, उस को और अधिक सुन्दर बना रही थी।

"अब मिसिज़ राम कहाँ जायेगी!" मेरी पत्नी ने फिर सवाल किया। मुख्य मंत्री के पास से उठ कर मिसिज़ राम वापस आ रही थी- प्रसन्न, सफल!

"अब जिस ओर से यह गुज़र रही है, या तो किसी फ़ोटोग्राफ़र या किसी अख़बार वाले के पास बैठेगी।" मैंने एक बार फिर अनुमान लगाया।

हमारा ध्यान मिसिज़ राम की ओर से सहसा हट गया। स्टेज पर जी भर के रस पी चुकी तितली उड़ती हुई रास्ते में एक जंगली गुलाब के फूल को देख कर ललचाई हुई उस पर जा बैठी थी। उस का पेट भर गया था पर उस की आँखें नहीं तृप्त हुई थीं और न चाहते हुए भी वह उस पर जा बैठी थी। उसे आवश्यकता नहीं थी, फिर भी वह रस पीने की चेष्टा कर रही थी। जंगली गुलाब की पत्तियों पर बदमस्त गिरी पड़ रही थी।

हम देख-देख कर हैरान हो रहे थे। कैसे कलाकर मन के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को अत्यन्त प्रवीणता से व्यक्त कर रही थी।

रंगमंच पर रोशनी परिवर्तित होनी शुरू हुई! रात हो रही थी। गुलाब की पत्तियाँ बन्द होनी शुरू हो गईं। तितली बदमस्त, पत्तियों में मदहोश पड़ी थी और पत्तियाँ बन्द होती जा रही थीं। तितली अब भी वैसी की वैसी पड़ी थी। अधिक पेट भरा होने की ख़ुमारी। क़दम-क़दम बढ़ रही रात के साथ गुलाब की पत्तियाँ बन्द हो गईं।

तितली तो पत्तियों में बन्द हो गई थी। दर्शकों का साँस जैसे रुक गया।

मेरी पत्नी ने मेरे जोर से चुटकी ली। सामने मिसिज़ राम किसी के साथ बातें कर रही थी। नौजवान के हाथ में कैमरा था और मेरा अनुमान फिर एक बार ठीक निकला था।

नृत्य खत्म हो गया था। दर्शक तालियाँ बजा-बजा कर पागल हो रहे थे। मिसिज़ राम फोटोग्राफर के साथ क्षण भर खड़ी हो कर अब समाचार पत्र वालों के साथ हँस-हँस कर बातें कर रही थी। "नृत्य कितना बढ़िया था!" जैसे कह रही हो, "मैं तो हमेशा कहती थी, इस मंडली को बुलाना चाहिए! पिछले साल भी मैंने यही कहा था। कहीं हमारी कोई सुने भी तो?" कुछ इस तरह की बातें वह कर रही थी।

रंगमंच पर परदा गिर चुका था। लोग अभी तक वाह-वाह कर रहे थे। समाचार पत्र वालों से हट कर मिसिज़ राम एक और आदमी से बातें करने लगी।

उस आदमी का मुझे पता नहीं कि वह कौन था!

अंधेरा, सपना और सवेरा

यह कहानी उन दिनों की है जब मुझे खेलते हुए देर हो जाती तो घर वालों से डरता मैं साँस खींच कर अपने नाड़े में गाँठ डाल लिया करता और यह 'टोना' करके सोचता कि अब घरवाले मुझ पर ख़फ़ा नहीं होंगे।

यह कहानी उन दिनों की है जब टूटते हुए तारे को देख कर मैं अपने बालों में गाँठ देने की कोशिश करता और मुझे विश्वास होता था कि यदि मैं इसी प्रकार गाँठ डाल भी लूँ और खोल भी लूँ तो मेरे मन की मुराद पूरी हो जायेगी।

यह कहानी उन दिनों की है जब मैं यह मानता था कि क्रीड़ा करते हुए नागयुगल पर यदि कोई चादर डाल दे तो नाग अपनी मणि छोड़कर चला जाता है और जिसके पास साँप की मणि हो उसे कभी धन का अभाव नहीं रहता।

परन्तु धन का किसी को क्या करना, फिर मैं मन ही मन सोचता, सब से बड़ी बात यह है कि किसी के मन की मुराद पूरी हो जाये। मेरे मन की मुराद थीं-मैं लगातार खेलता रहूँ, कोई मुझे पूछने वाला न हो, न ही मुझ पर कोई ख़फ़ा हो।

ऐसे ही एक रोज़ हम मौसी जीवनी के आँगन में खेल रहे थे। मौसी जीवनी कई महीने हुए मर गई थी। आजकल उसका दालान और आँगन खाली पड़ा रहता था। मौसी जीवनी के दालान की छत में चिड़ियों, पाखियों आदि ने घोंसलें बना लिए थे। आँगन में हम 'लुका-छिपी' खेलते रहते, एकत्र होकर नाटक रचाते रहते।

एक दिन हम आँगन में खेल रहे थे कि चिड़ियों और कौवों आदि ने अचानक शोर मचा दिया। हम सब बच्चे दौड़कर ऊपर पहुँचे। देखते है कि एक नागयुगल परस्पर क्रीड़ा मग्न था। मेरे साथियों ने अपने अपने साफ़े उतार लिए ताकि खेल रहे जोड़े पर फेंक कर मणि प्राप्त कर सकें। परन्तु मेरे दिल में न जाने क्या आया कि हाथ में पकड़े डंडे को मैंने साँपों पर पूरे ज़ोर से फेंका। नागिन तो बच गई परन्तु नाग वहीं बल खाने लगा। डंडा ठीक उसके सिर पर जा लगा था। यह देखकर नागिन एक दम उछली। एक नज़र जैसे उसने मेरी ओर देखा और समीप के ही एक बिल में लोप हो गई।

मुझे नागिन की दृष्टि से ऐसा आभास हुआ जैसे वह मुझे निगल लेना चाहती हो, मानो एक दृष्टि में ही उसने मुझसे कहा हो कि मैं अपना बदला अवश्य लूँगी और बौखलाई हुई अदृश्य हो गई। फिर मेरे साथियों ने मुझे बताया कि नागिन अपना बदला हमेशा लेती है। यह सुनकर मैं भयभीत हो गया।

नागिन बदला अवश्य लेती है। मुझे मेरे साथियों ने कई कहानियाँ सुनाईं। वह मरती मर जायेगी परन्तु अपने साँप के हत्यारे को कभी माफ़ नहीं करेगी। कोई कहीं चला जाये वह अपने नाग के क़ातिल का पीछा ज़रूर करती है। वह अपने नाग के बैरी को जैसे सूंघ लेती है और दिन-रात ज़हर पालती रहती है, उसे डसने के लिए।

मैं चुप-चाप चिंताओं में डूबा अपने घर आ गया। मुझे लगता जैसे किसी कोने से, किसी किनारे से निकल कर नागिन, मुझ पर कूद पड़ेगी।

मेरी माँ को जब पता चला, उसने हाथ मलने शुरू कर दिए; उसके होश-हवास फ़ाख्ता हो गये। पड़ोसी स्त्रियां, जिस-जिस को यह ख़बर मिली, हमारे आँगन में आकर एकत्र हो गईं।

मैं सामने कमरे में पलंग पर औंधा पड़ा हुआ था। मुझे ऐसा लगता जैसे मुझे बुख़ार चढ़ रहा हो। मेरा अंग अंग जकड़ा जा रहा था।

बाहर ताई जमालो मेरी माँ को बता रही थी, इसी प्रकार एक नागिन एक जाट के वैर पड़ गई थी और हर साल उसी दिन जिस दिन उसने उसके नाग का वध किया था, आकर उसे डस जाती। पहले वर्ष डसा, दूसरे वर्ष भी डसा। फिर जाट सावधान रहने लगा। जिन दिनों नागिन ने वार करना होता वह बाहर न निकलता, किसी झरोखे में हाथ न डालता, हमेशा साफ-सुथरी जगह पर बैठता-उठता, परन्तु फिर भी नागिन किसी न किसी तरह तीसरे वर्ष भी उसे डस गई, चौथे वर्ष भी बदला ले गई। लाख मंत्र पढ़ने वालों से जाट ने पूछा परन्तु नागिन के वैर का इलाज किसी के पास न था। जब नागिन जाट को आकर काटती उसकी टाँग फूल कर ढोल हो जाती और कितने-कितने दिन वह चारपाई पर पड़ा रहता।

मंत्र पढ़ने वाले कहते, नागिन काटेगी अवश्य! उसके बाद उसके काटे का इलाज वे चाहे कर दें। इसी प्रकार ढूँढते-ढूँढते जाट को एक मन्त्र फूँकने वाला मिला जिसने दावा किया कि वह पलंग के गिर्द एक घेरा बना देगा और नागिन उस चक्कर में नहीं आ सकेगी। जब वर्ष पूरा होने को आया, जाट उसे अपने घर ले आया। उसने जाट की चारपाई के चारों ओर एक रेखा बना दी और स्वयं दरवाज़े में बैठ गया। कितने दिन जाट को चारपाई पर ही भोजन मिलता रहा; बाकी जरूरतों से भी वह घेरे के भीतर ही निबट लेता। परन्तु जब नागिन के बदला लेने का दिन आया तो जाट ने देखा कि वह छत में से आ निकली। जाट तड़प उठा। देख-भाल कर कोई साँप से अपने आपको कैसे कटवा सकता है?

मंत्र पढ़ने वाले ने आखिर उसे सलाह दी कि वह अपनी टाँग बाहर निकाल ले। जाट ने टाँग बाहर निकाली और नागिन काट कर चली गई।

मौसी लाजो कहती साँप तो देवता होता है। यदि पता लग जाये कि किसी

स्थान पर नाग का वास है तो वहाँ कच्ची लस्सी अवश्य रखनी चाहिए। साँप में तो किसी पूर्वज की आत्मा होती है; कई लोग मरने के बाद साँप बनकर अपने दबे ख़ज़ानों पर आ बैठते है और किसी को अपने धन पर हाथ नहीं लगाने देते। यदि किसी को मरते समय धन याद आये तो गुरुवाणी में भी कहा गया है कि वह साँप की योनि लेता है। जितना बड़ा कोई साँप हो उतना बड़ा ही उसमें कोई पूर्वज होता है। कई साँपों की आयु सैकड़ों वर्ष होती है। एक बार ऐसा ही एक साँप किसी बनिया के वैर पड़ गया। बनिये हर समय अपने पास कोई न कोई हथियार रखने लगा। साँप ने कई प्रयत्न किए परन्तु शिकार क़ाबू न आ सका। फिर एक दिन बनिया कहीं परदेश जा रहा था, मार्ग में उसने एक सुन्दर छड़ी देखी। बनिये ने उसे उठाकर हाथ में पकड़ लिया। दस कदम चलने पर उसे पीठ में खुजली महसूस हुई। जिस हाथ में छड़ी पकड़ी थी उसी हाथ से वह खुजलाने लगा कि छड़ी साँप बन गई और बनिये को डस कर साँप उसके हाथ से फिसल गया। साँप का बैर बुरा।

बुआ गुरो कहती उसके पिता के घर एक साँप हर रोज़ गाय के स्तनों से दूध पी जाया करता था। मारे डर के कोई सांप को कुछ न कहता कि कहीं गाय को डस ही न ले। गाय भी ऐसे हिल-मिल गई कि अपना सारा दूध उसे पिला दिया करती।

बाहर आँगन में स्त्रियां बातें कर रही थीं। साँपों की, साँपों की आदतों की, साँपों के विष की, बातें करती जा रही थीं।

नागिन मेरे बैर पड़ी हुई थी। मेरे लाख इलाज हो रहे थे परन्तु वह मेरा पीछा ही न छोड़ती थी। कई मंत्र मैंने स्वयं पढ़े, कई मंत्र लोगों ने मेरे पास बैठ कर पढ़े। कईयों ने आकर झाड़फूंक की। कई जादू हुए कई टोने-टोटके हुए। मेरी माँ दिन रात कच्ची लस्सी का कटोरा मेरी चारपाई के पास रखती परन्तु नागिन मेरे पीछे पड़ी हुई थी, मुझे चैन की सांस न लेने देती थी।

फिर एक मंत्र पढ़ने वाला मुझे गुग्गापीर की दरगाह पर ले गया। दरगाह के मुजावर ने मेरी कहानी सुनकर मुझे जुमेरात के रोज़ आने को कहा। जुमेरात के रोज़ इलाके के सभी साँप चाहे कोई बूढ़ा हो चाहे बच्चा, गुग्गापीर की दरगाह पर सलाम करने आते थे। पीर जी ने कहा कि नागिन से वह मेरा समझौता करवा देंगे।

जुमेरात के रोज़ सुबह-सुबह ही हम दरगाह पर जा पहुँचे। कई मंत्र पढ़ने वाले एक तख्त पर बैठे बीन बजा रहे थे। भांति-भांति के, रंग रंग के असंख्य साँप दरगाह की ओर बढ़े चले आ रहे थे। नाग, फनिअर, कौड़ियों वाले, दो-मुँह, हरे, चितकबरे, उड़ने वाले, मीठे पानी में रहने वाले, खारे पानी में रहने वाले लाल रंग के साँप, नीले रंग के साँप, सफेद रंग के साँप, छोटे-छोटे साँप, बालिश्त-बालिश्त

भर के साँप, गज-गज के साँप, चार-चार गज लम्बे साँप। साँप चाहें तो सिकुड़कर छोटे हो जायें, चाहें तो लम्बे हो जायें। साँप बाल जितने महीन। साँप चाहें तो बकरे को निगल जायें। साँप जिनके चलने पर घुँघरुओं की आवाज़ आती थी; साँप जिन के आने पर सायँ-सायँ की आवाज़ आती। साँप फुफकारते हुए। भोले-भाले दिखने वाले साँप, शांत, स्थिर, अलमस्त।

मुजावर कहता कि सब साँपों के काटे का इलाज यह है कि जिस को साँप काटे वह स्वयं या उसकी ओर से कोई दूसरा 'आमिल' को आकर खबर दे। खबर सुनने के बाद आमिल उस आदमी को एक चपत लगा देगा और चपत लगते ही साँप का ज़हर उतर जाता है। अगर 'आमिल' का नाम भी लिया जाये तो बीस मिनट में ज़हर उतर जाता है। लेकिन इस बात क़ी ख़बर सात दिन के अन्दर आमिल को देना ज़रूरी है।

साँप अभी भी आ रहे थे, क़तारों की कतारें। एक तरफ से आते, पीर के मज़ार की परिक्रमा करते और दूसरी ओर से निकल जाते। आखिर वह नागिन भी आई जिसके नाग को मैंने डंडे से मारा था। मुजावर ने आवाज़ लगा कर उसे अपने पास बुलाया और फूँक मार कर क्षण भर में ही उसे राख कर दिया।

यह देख कर मैं हैरान रह गया। मुजावर हँसने लगा।

जब मेरी आँख खुली; मैं खिलखिला कर हँस रहा था। मेरी माँ मेरे सामने मन्द मन्द मुस्करा रही थी। कार्तिक के अरुणोदय का प्रकाश इस प्रकार फैल रहा था जैसे अपनी पूर्ण सुगन्ध लुटा देना चाहता हो। मेरे कानों में संगीत की एक धुन पड़ रही थी, खेतों में जा रहे बैलों के गले में पड़ी घंटियों का संगीत, कुएँ से पानी भर कर लौटती झाँझरों का संगीत, आप ही आप उठ कर खेलते हुए, किलकारियाँ भरते हुए बच्चों का संगीत।

पुँछ के बेटे

मेरी इस दूसरी पत्नी का नाम अचला है। यह वह सब कुछ है, जो मेरी पहली पत्नी नहीं थी। पास बैठी सारा समय आप से आप तड़ातड़ बातें करती है। ओले बरसने के बाद जैसे पेड़ सिकुड़े हुए, झाड़े हुए लगते हैं, उसी तरह मेरी दशा होती है उठते समय।

मेरी यह पत्नी मुझ से स्नेह करती है, किन्तु ऐसे, जैसे मुझ पर एहसान कर रही हो! मैं एक गरीब आर्टिस्ट हूँ! दिन भर स्टूडियो में तूलिकाओं और रंगों के संसार में गुम रहता हूँ। उसे मुझ पर तरस-सा आता है और आँखें मटका कर देख लेती है! मेरी पत्नी बहुत सा प्यार मुझे इस लिये करती है कि पति से प्यार करना एक फैशन है! कई बार जब मैं तैयार होने में देर करता हूँ तो घर में मुझ से लड़-झगड़ लेती है, लेकिन बाहर क़दम रखते ही सड़क पर, मेरे साथ जिस्म से जिस्म सटा कर चलती है और दस कदम चलने के बाद अपना कोट मुझे पकड़ा देती है। माल रोड पर पहुँच कर मेरी बाँह में बाँह डाल लेती है।

मेरी पत्नी पड़ोसन के 'बेबी' को ला कर पुचकार लेती है, खिलाती है, लेकिन आप माँ बनने का नाम नहीं लेती! 'फ़ैमिली प्लानिंग' की हिमायती है!

'दो कौड़ी की है तेरी पत्नी, बेटा, मेरे नाना जी मुझे कहा करते थे, 'और दस-बीस की तू इसे साड़ी पहना देता है।'

मैं कलाकार हूँ-मैं जीवन के हर पहलू में रंगीनी के लिये तनिक उतावला रहता हूँ! यह मेरी एक कमज़ोरी है। मैं छोटी-छोटी बातों का ख्याल रखता हूँ। आधा उबला हुआ अंडा मैं कभी नहीं खा सकता। चाय बनाते समय यदि कुछ चाय भरी प्याली से प्लेट में गिर जाये तो मेरा चाय पीने का सारा आनन्द खत्म हो जाता है। सबसे बड़ी बात, जिस का मैं हर हालत में ध्यान रखता हूँ, वह यह है कि हमारा नौकर ज़रूर सुन्दर और हँसमुख होना चाहिए। पुंछ की ओर के 'मुंडू' इसीलिए मुझे बहुत अच्छे लगते हैं। गोरे-गोरे उनके चेहरे, अनार की तरह उनके गाल, कसे हुए मज़बूत उनके पुट्ठे! यदि आप उन्हें पहनने को साफ कपड़े दें, डाँट कर रोज़ नहलवा दें, तो घर का श्रृंगार बन जाते हैं, जिस तरह लोग अपने बैठने वाले कमरों में फूल लाकर रखते हैं, सजाने को, ठीक इसी तरह ही मैं चाहता हूँ, मेरा नौकर जो मेरा बिस्तर बिछाये, उसके हाथ साफ होने चाहिएं, उसके चेहरे पर खिली हुई मुस्कराहट होनी चाहिए।

एक बात में मैं बड़ा खुश-किस्मत हूँ। एक मेरे दोस्त पुँछ में पुलिस-अफ़सर हैं। जब कभी मुझे 'मुंडू' की ज़रूरत पड़ती है, मैं उन्हें लिख भेजता हूँ। वे मुझे नये से नया, और अच्छे से अच्छा, चुनकर एक हँसमुख नौकर भेज दिया करते हैं। किसी के घर के सीखे हुए नौकर भी मुझे नहीं भाते। नौकर को मैं अपने परिवार का एक सदस्य समझता हूँ।

मेरी पहली पत्नी दो दिन कम पूरे दस साल हमारे यहाँ जीवित रही। उसके राजय में मुझे एक भी 'मुंडू' नहीं बदलना पड़ा। ब्याह के लगभग पन्द्रह दिन बाद ही हमें अपना घर बसाना था। जिस नौकर को हमने रखा, वही उसके मरते दम तक हमारी सेवा करता रहा। कितना तेज़ था वह हर काम में! साफ-सुथरे कपड़े जब उसे पहनने को मिलते, अच्छा खाना खाने को मिलता, वह और भी अधिक निखरता और सुन्दर लगता। कभी-कभी मेरी पत्नी भी उसे देख कर हँसने लगती-'इसे कभी अपने माँ-बाप याद नहीं आते? इसे कभी अपने घर का ध्यान नहीं आता?' अपने शहर जाने का वह कभी नाम न लेता।

मेरी पहली पत्नी के मरने के लगभग तीन महीने बाद मुझे फिर ब्याह करना पड़ा। मेरे पिताजी मानते हैं, एक खास उम्र के बाद ब्याह इन्सान के लिये इतना ही ज़रूरी है जितनी खुराक या पोशाक! ब्याह के लगभग बीस या पच्चीस दिन बाद मेरा नौकर मुझे कुछ उदास-उदास सा लगा। वह हर समय चुप-सा रहता और एक दिन मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। उसकी आँखों में आँसू उभर आए थे।

मैंने पूछा-'क्यों? क्या हुआ तुझे, मुंडू?'

वह चुप रहा।

'घर जाने को जी चाहता है क्या?'

उसने सिर झुका लिया।

'अच्छा तुझे भेज देंगे।' मैंने टालते हुए कहा।

सारा दिन मैं स्टूडिओ में रहता था। इतवार या किसी दूसरे छुट्टीवाले दिन मेरी नई पत्नी का बाहर आवागमन रहता। कितने ही महीने मुझे कोई समय न मिला कि कभी मैं घर पर टिकसकूँ। शाम को देर से घर लौटता और सुबह फिर मुँह-अंधेरे घर से निकल जाता। लेकिन जब खाने पर या दूसरे किसी काम से मुंडू मेरे सामने आता, वह हमेशा कुछ मुरझाया, कुछ उदास, कुछ ढीला-ढाला-सा मालूम होता। मेरी पत्नी सारे का सारा समय मुझे बातों में लगाये रखती। कुछ मैं अपने आप भी उसके नित्य नये बातों के जाल और उसकी जवानी की फ़बन में गुम-सुम-सा रहता। मुझे कभी समय ही नहीं मिला मुँडू का हाल पूछने का। फिर भी एक दिन मैंने उसके फटे हुए कपड़े देख कर अपनी पत्नी की ओर यूँ देखा, जिस तरह मैं कह रहा हूँ कि नौकर की फटी हुई कमीज़ के चिथड़े उसके मालिक के वीरान दिल के सूचक है।

कई महीने इसी तरह गुज़र गए। एक दिन जब मैं सवेरे स्टूडियो के लिए घर से निकला ही था कि सामने से गुज़रता मेरा नौकर मिला। उसका रंग साँवला-सा हो गया था। उसकी हड्डियाँ बाहर निकल आई थीं। मुझे ऐसा लगा- जैसे उसका मुँह पिचक-सा गया हो। उसके होंठ और उसकी आँखें एक तरफ़ से तनिक टेढ़ी हो गईं। मैले-कीचट उसके कपड़े थे। दूध का बरतन उठाये तेज़-तेज़ आ रहा था। उसके हाथ, मुँह, माथा, सब पसीने से तरबतर हो रहे थे। उसे देखते ही मेरी कलावान आत्मा ने विद्रोह किया। इतना गंदा नौकर मेरी रसोई में काम करता है! मेरी पत्नी जब दिन में अपनी सहेलियों के साथ मिल कर बैठती है, तब उन्हें पानी लाकर देता है, उनके सामने आता है। इन्हीं पसीने से तर कपड़ों से, मैल से चिपके हाथों से इसने सुबह-तड़के मेरे चाय के बरतन साफ किए होंगे-यह सोचकर दिन भर मेरी तबीयत खराब-सी रही। उसी शाम मैंने अपने दोस्त को 'पुँछ' एक चिट्ठी लिखी, एक नौकर के लिये। उसे मेरी ज़रूरत का ठीक अनुमान था। कोई सात दिनों में नया नौकर आ गया और हमने पहले नौकर को वापस भेज दिया।

यह नया मुंडू उतना ही सुन्दर था, जितना हमारा पहला नौकर-जब वह पहाड़ से आया था। इसके गोल-गोल गाल, इसकी मोटी काली-काली आँखें, इसका भोला-भाला सहमा हुआ चेहरा बहुत प्यारा लगता था। मैंने अपनी पत्नी को राय दी कि उसे पीतल के चमकते बटनों वाला लाल मखमल का कोट बनवा दे। खिलौना-सा लगेगा!

लगभग तीन हफ़्ते बाद एक रियासत में मुझे महल की सजावट के लिये बुला लिया गया। बुलावाया तो मुझे कुछ-एक दिनों के लिए था लेकिन पूरे पाँच महीने मुझे वहाँ रहना पड़ा। वापस आकर मैं अपने काम में जुट गया। मेरे पीछे बहुत-सा काम इकट्ठा हो गया था। आखिर थक-टूट-कर एक इतवार को मैंने पूरा आराम करने का निश्चय किया। 'सारा दिन हम पास-पास बैठेंगे' अपनी पत्नी के साथ बैठे हुए, जैसे मेरी आँखों ने कहा। वह भी खुश थी। इससे बढ़ कर किसी लड़की के यौवन की प्रशंसा क्या हो सकती है?

बड़ी बेफिक्री से मैं उस इतवार को सुबह उठा। कितनी ही देर हम लेटे-लेटे बातें करते रहे। फिर कोठी के पिछवाड़े घूमने को मेरा जी चाहा। अपनी पत्नी के साथ वहीं घास पर लेटे-लेटे चाय पीने का फैसला किया। लेकिन जब चाय लेकर मुंडू आया, मैं हैरान-परेशान रह गया। चाहे मैं रियासत से कितने की दिन पहले आ चुका था लेकिन आज पहली बार मैंने उसे ध्यान से देखा। उसका रंग साँवला हो गया था, उसकी हड्डियाँ निकल आई थीं। पहले नौकर की तरह उसका मुँह एक तरफ से टेढ़ा-सा हो गया था। उसके होंठ और उसकी आँखें एक तरफ से ज़रा ज़्यादा मुड़ी हुई दीखने लगीं थीं। मैले-कीचट उसके कपड़े थे, जिन पर मक्खियां भिनभिना रही थीं। पायजामा बिल्कुल फटा हुआ। इस मुंडू को तो मैं इतना सुन्दर

छोड़ कर गया था। इसका मुँह भी पिचकगया था, पहले नौकर की तरह। मैं घबरा-सा गया। इतने बदसूरत, इतने गंदे हाथों की चाय! मेरे वहम ने मुझे चाय न पीने दी। गन्दे कपड़े पहनाने में चाहे मेरी पत्नी का दोष हो, वे तो एक मिनट में बदले जा सकते हैं, धोये जा सकते हैं, लेकिन मुँह का टेढ़ा हो जाना किसका दोष था?-मैं समझ न सका। जब भी मुझे उसकी बेढब शक्ल का ख्याल आता, मुझे खीझ-सी उठती। मेरा सारा आराम हराम होने लगा। आख़िर अपने दोस्त को चिट्ठी लिख कर 'पुंछ' से मैंने एक और नौकर मँगवा लिया और उस बदसूरत नौकर की छुट्टी कर दी।

यह नया नौकर चाहे दोनों नौकरों से छोटा था, लेकिन शक्ल में जितने भी नौकर हमने आज तक रखे थे उनसे कहीं ज़्यादा सुन्दर था। पके हुए लसोड़े की तरह क्रीम का-सा रंग, इसके गाल माल्टे की तरह सुर्ख़ थे।

"तुम अपनी माँ को क्या भेजा करोगे?" मैंने उससे पूछा। तनख़ाह का फ़ैसला मेरे दोस्त ने वहीं से कर दिया था।

"मेरी माँ ने कहा है-दस रुपये तुम आप खा लिया करना, बाकी मुझे भेज दिया करना हर महीने।" मालूम होता था, उसका बाप मर चुका है!

मेरे दोस्त ने नौकर के हाथ हमें गरमियों में दो महीनों के लिए 'पुँछ' आने का निमंत्रण बड़े जोश से लिख भेजा था। "पुंछ इतना सुन्दर इलाका है, इतना ठंडा मौसम रहता है; काम तो सारी उम्र खत्म नहीं होगें। एक बार जरूर आओ, चाहे अपना स्टूडियो भी यहीं बना लेना।" उसे पता था कि मैं स्टूडियो का बहाना करूँगा। बात हम दोनों को बहुत अच्छी लगी! हमारे मानने की सबसे बड़ी वजह असल में और थी। दस हजार रुपया जो रियासत से अभी दो दिन हुए आया था, हमारे अन्दर उछल रहा था!

कोई पाँच दिन बाद हम 'पुंछ' चले गये। हमारा नौकर हमारे साथ था। मुझे अपनी कमज़ोरी ज़ाहिर करने में कोई झिझक नहीं, रास्ते में जहां भी मोटर खड़ी होती, मुझे एक तरह का मज़ा-सा आता, नौकर को बार-बार काम के लिए कहकर! -'मुंडू! ज़रा एक पानी का गिलास लाना, मुंडू, यह पकड़ना! मुंडू, वह करना।'

पुंछ पहुँचकर मैंने अपने दोस्त के घर ठहरना मंज़ूर न किया। शहर से बाहर, दूर खेतों के बीच, बाग के एकान्त में, हमने तीन तम्बू गाड़े, और वहीं हम रहने लगे। मेरे स्टूडियो का तम्बू एक ओर, बीच में हमारा सोने का तम्बू और उसके परे रसोई थी। जिस जगह पर अब हम रह रहे थे, वह पुंछ की सब से अधिक रमणीय जगह समझी जाती है। हमारे उस घर के निचले भाग में एक बहुत गहरी घाटी थी, जिसमें जहाँ तक नज़र जाती, वृक्ष ही वृक्ष दीखते थे। सारा दिन उनमें से भेड़ों, बकरियों और गडरियों की आवाजें आती रहतीं। शाम को जब सन्नाटा होता, नीचे घाटी की तलहटी में बह रही नदी की संगीतमय 'शाँय-शाँय' अजीब सुहावनी लग़ती। कई चाँदनी रातों में अपनी पत्नी के साथ किसी पथरीले टीले पर बैठकर;

घंटों मैं इस संगीत को सुनता रहता।

लेकिन कुछ दिन वहाँ रह कर एक बात बार-बार मेरे कानों में खटकती रहती, दिन भर मेरी पत्नी नौकर को घूरती-झिड़कती रहती थी। पहले दिन के दिए हुए उसके कपड़े मैले-कीचट अब फटने लगे थे। मेरे कई बार कहने पर भी उसने उसे नया जोड़ा बनवा कर नहीं दिया था। सुबह मुँह-अंधेरे ही उसे उठा देती, 'अबे मुंडू! उठता क्यों नहीं रे! देख तो सही, दिन चढ़ आया है। कैसे सुरसुरी की तरह पड़ा हुआ है?' बेचारा अगर ज़रा देर करता, तो चीखने लग जाती। रात के ग्यारह बजे तक उसे किसी न किसी काम में उलझाए रखती। उसकी ज़रा-ज़रा-सी गलती पर उसे सौ-सौ गालियाँ देती। मैंने एक दिन देखा, खाने के नाम पर उसने सूखी रोटियों पर अचार रखा हुआ था। मैंने कई बार अपनी पत्नी को मना किया, लेकिन वह बाज़ न आती । मैं सोचता, यह पहले भी ऐसे ही करती होगी। मैं तो सारा दिन घर से बाहर स्टूडियो में रहता था। अगर हम सिनेमा या कहीं और जाते, चाहे मैं लाख कहता, वह उसे साथ न ले जाती। जब हम चलने लगते, हसरत भरी नजरों से वह देखता। उस बेचारे को मालूम नहीं था कि वह नौकर था, सिर्फ पचास रुपये माहवार का नौकर, और हम मालिक थे, अमीर मालिक!

एक दिन मेरे ज़ोर देने पर मेरी पत्नी उसे साथ ले चलने को राज़ी हो गई। हम एक पुराना किला देखने जा रहे थे। वहाँ दो रुपये प्रति-व्यक्ति हमें टिकट लेने थे। इस बात का उसे वहाँ जाकर पता लगा। 'मुंडू तो यहीं का है इसने कई बार देखा होगा-' उसने दो टिकटों के लिये ही बटुए से पैसे निकालकर मुझे दिए और फिर इस तरह से मुझे देखा कि बार-बार मुंडू की सिफारिश करने का मेरा हौसला जाता रहा।

जब हम गेट के अन्दर जाने लगे, बाहर खड़े मुंडू की आँखें कह रही थीं-'मैं अभी तक एक बार भी यहाँ नहीं आया। मेरी माँ के पास दो रुपये कहाँ से आते कि वह मुझे यहाँ भेजती? मेरा बहुत जी चाहता है इसे देखने को।' लेकिन उधर मेरे कानों में मेरी पत्नी का लैक्चर गूँज रहा था- 'हर बात में दखल देना अच्छा नहीं होता। नौकर आख़िर नौकर ही होते हैं, उन्हें कोई सिर पर तो नहीं चढ़ा लेता।'

दिन-प्रति-दिन मैं नोट कर रहा था, नौकर को जितनी ज़्यादा घुड़कियाँ-झिड़कियाँ मिलतीं, उतना ही कम खाना पेट भरने को, और उससे भी कम समय उसे आराम करने को मिलता था- केवल पाँच साढ़े पाँच घंटे। शुरू-शुरू में उस पर हो रही ज़्यादती पर मेरी और मेरी पत्नी में झपट हो जाती। लेकिन धीरे-धीरे उसने मुझे अपने साँचे में ढाल लिया। एक जानवर की तरह सारा-सारा दिन वह उसे उलझाये रखती, और ज़रा-सी गलती पर झिड़कियों और गालियों का तूफान खड़ा कर देती। वह घर साफ़ करता, हमारे नहाने का पानी गरम करता, चाय बनाता, बाज़ार सब्ज़ी लेने जाता, खाना बनाता, बनियाने और तौलिये धोता, और फिर हमारा

चाय का समय हो जाता, फिर वह बरतन साफ करता, फिर शाम के खाने के लिये बाज़ार से सब्ज़ी लाता, फिर खाना बनाता, फिर बरतन माँजता, और इसी तरह के कामों में रात के ग्यारह बज जाते। 'हम दोनों के बराबर खाता है', 'सब्ज़ी खरीदते समय बीच में से पैसे मार लेता है'–मेरी पत्नी की कुछ इस तरह की शिकायतें होतीं।

एक दिन दोपहर को कैम्प के बाहर हम खाना खा रहे थे। पानी भरते हुए काँच का गिलास तिपाई से नीचे गिरकर टूट गया। किसी का भी इसमें दोष नहीं था। गिलास असल में किनारे के साथ टिका होने के कारण आप ही लुढ़कगया था। लेकिन मेरी पत्नी ने इस तरह गज़बनाक आँखों से नौकर को देखा, कि उसका रंग साँवला हो गया और खौफ़ से उसका मुँह टेढ़ा होकर उसकी आँखें और उसके होंठ एक ओर को मुड़ गये। उसकी सूरत में ठीक पहले दो नौकरों की सूरत मुझे दिखाई दी। मेरा कलेजा काँप उठा। मेरे मुँह का कौर वहीं का वहीं रह गया। कितनी देर मैं चुपके से सोचता रहा, सोचता रहा। आख़िर बिना किसी से कुछ कहे अपने कैम्प से दूर गहरी घाटी के किनारे मैं जा खड़ा हुआ। पुँछ की धरती अपनी सुन्दरता समेटे महक रही थी। घास-पात में मुँह मार कर स्वतन्त्र चरनेवाली भेड़-बकरियाँ इधर-उधर दौड़ रही थीं, जिनके पीछे आज़ाद नन्हें-नन्हें फरिश्तों की तरह सुन्दर-सुन्दर, लाल-सुर्ख पुँछ के बच्चे घूम रहे थे, उछलते, कूदते, फुदकते और मिमियाते हुए।

मैं वहाँ कितनी ही देर खड़ा रहा, खड़ा रहा और देखता रहा।

टूटी कहाँ कमंद

गंडा सिंह के पिता, शिहाँ सिंह की जवानी की कई कहानियाँ प्रचलित थी। गंडा सिंह के सामने चाहे किसी को कुछ कहने का साहस नहीं होता था, लेकिन पीठ-पीछे लोग हज़ारों बातें बनाते थे।

लोग कहते, शिहाँ सिंह अपने समय का नामी डाकू था। जिस घर पर उसकी दृष्टि पड़ जाये, जिस वस्तु पर उसकी दृष्टि पड़ जाये, उसे कोई चाहे लाख परदों में छिपा ले, वह जैसे उड़ कर शिहाँ सिंह के पास पहुँच जाती थी। देवी की उपासना कर, मन्नतें मान, शिहाँ सिंह जिस ताले को हाथ लगाता, चाहे वह कितना भारी होता, चाहे वह कितना पक्का होता, खुल कर उसकी मुट्ठी में आ जाता। काटने को दौड़ पड़ने वाले खूँख़ार, भयानक कुत्ते शिहाँ सिंह की परछाईं देख कर, दुम टाँगों में दबाये 'च्याऊँ, च्याऊँ' करते उसके सामने बिछ-बिछ जाते, उसकी उंगलियों को चाट, उसकी परछाईं को सूँघ, गाँव से बाहर निकल जाते। जिस रात शिहाँ सिंह को किसी गाँव में डाका डालना होता, उस रात उस गाँव का चौकीदार बीमार पड़ जाता या कहीं बाहर निकल गया होता। ठीकरी पहरेवालों की आँख लग जाती। शिहाँ सिंह की अंगारों जैसी दहकती आँखों को देखकर घरों की स्त्रियाँ, कीलित-सी, मंत्र-मुग्ध-सी, अपने नेफ़ों में छिपाये गहने निकाल-निकाल कर उसके हवाले कर देतीं। उसके इस्पात जैसे पुट्ठों को देख, थर-थर काँपते साहूकार, चक्कियों के पाटों तले दबाई नोटों की गड्डियाँ शिहाँ सिंह को थमा देते। एक-एक रात में शिहाँ सिंह ने सात-सात जगह सेंध लगाई थी। कई गाँवों पर तो वह दस-दस दिन पहले सूचित कर, ढोल पीट कर, मशालें लेकर, धावा बोलता था।

सारे के सारे, उस इलाके में केवल शिहाँ सिंह ही कमंद फेंक सकता था। ऊंची से ऊंची हवेली हो, दुर्गम से दुर्गम स्थान हो, आँख झपकते वह रस्सी फेंक कर फंदा डाल लेता और देखते ही देखते ऊपर चढ़ जाता। बड़े-बड़े साहूकारों के चट्टानों जैसे महल, मनों भारी लोहे के दरवाजों वाले महल, वैसे के वैसे सिर उठाये रहते और शिहाँ सिंह भीतर का एक-एक कोना टटोल कर निकल आता।

इलाके भर के साहूकारों के दिल शिहाँ सिंह का नाम सुन कर डूबने लगते। पुलिस शिहाँ सिंह की तरफ आँख नहीं उठाती थी। निर्धन किसान, श्रमिक, मज़दूर कोई भी शिहाँ सिंह की ओर उँगली तक नहीं उठाता था-कोई कहता, इसलिए कि शिहाँ सिंह के आतंक से वे भयभीत थे, कोई कहता इसलिए कि शिहाँ सिंह लूट

का माल चोरी-छिपे गरीबों और अनाथों में बाँटता रहता था।

लालू मीरासी तो शिहाँ सिंह की सौगन्ध खाता था। बात ऐसे हुई। लालू का एक घोड़ा था। जिस पर सवार होकर वह गाँव-गाँव अपनी 'लाग' इकट्ठा किया करता था। एक रात वह भला-चंगा घोड़े को आँगन में बाँध कर सोया। सवेरे उठकर उसने देखा, घोड़ा अफ़ारे से मरा पड़ा था। लालू फूट-फूट कर चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा। बार-बार 'हाय ओ मेरे बड़े भाई' कहता और बार-बार मरे हुए घोड़े के शव पर गिरता, उसके गले लग कर विलाप करता, और उसके प्रेम की, उसकी वफ़ादारी की छोटी-छोटी कहानियाँ सुनाता, अविरल आँसू बहाता। लालू विलाप कर रहा था कि शिहाँ सिंह उस ओर से गुज़रा। घर पहुँच कर शिहाँ सिंह ने एक घोड़ा और पाँच सौ रुपये नकद लालू मीरासी को भिजवा दिए।

इसी तरह मीरू मोची को शिहाँ सिंह ने नया घर खरीद दिया था। मीरू की बीवी बड़ी मुँह-ज़ोर थी। मीरू के पहले घर के आँगन में बेरी का एक पुराना पेड़ था। फलों के मौसम में उस पर काने-बेर लगते और प्रति दिन उसके कारण आँगन में ढेर का ढेर कूड़ा जमा हो जाता। बेरी के काँटे, सूखी टहनियाँ, झड़े हुए पत्ते, पक्षियों की बीठें। मीरू की पत्नी यह सब बुहार-बुहार कर थक जाती और फिर भी जब देखती, उसका आंगन साफ न होता। कितने दिनों से वह अपने पति को बेरी काट देने के लिए कह रही थी, पर मीरू टालता रहता, टालता रहता। मीरू, जो उस बेरी के नीचे खेल-खेल कर परवान चढ़ा था, मीरू, जिसने अपने बचपन में उस बेरी के बेर बाँट-बाँट कर मित्र बनाये थे, दोस्तियाँ गाँठी थी। क्या हुआ जो अब उसके बेर काने हो गये थे, मकड़ियों ने उसकी टहनियों पर जाले बुन दिए थे, चीलों ने अड्डे बना लिए थे? मीरू जब भी अपनी पत्नी द्वारा विशेष रूप से तेज़ करवाई कुल्हाड़ी को देखता, उसके दिल को जैसे कुछ होने लगता और वह उसे टाल कर घर से निकल जाता। अगर उसकी पत्नी स्वयं कुल्हाड़ी उठा कर बेरी की ओर लपकती तो वह उससे लड़ने लगता। अन्त में एक दिन, विवश हो कर मीरू की घरवाली ने उसे एक कमरे में बन्द करके, बाहर से कुंडी चढ़ा दी और स्वयं कुल्हाड़ी लेकर बेरी को काटना शुरू कर दिया। जब वह थक जाती, तो किसी राह चलते मुसाफिर से सहायता ले लेती। कुल्हाड़ी की हर चोट से मीरू के हृदय पर आघात पहुँचता। मीरू चिल्लाता रहा, चीखता रहा, पत्नी को लाख-लाख गालियाँ देता रहा, पर पत्नी बेरी को काटती गई, काटती गई। कमरे में बन्द, बेबस मीरू के दिल पर पड़ती ये चोटें, फिर उसके दिमाग पर पड़ने लगीं। फिर बेरी को पूरी तरह काटकर जब पत्नी ने दरवाज़ा खोला तो पति अन्दर पागल हो चुका था। उसने अपने कपड़े फाड़ डाले थे और अपनी बाँहों, अपनी टाँगों को काट-काट कर अपने आप को लहू-लुहान कर लिया था। वह बार-बार अपने सूने आँगन को देखता और बार-बार अपने कपड़े फाड़ता, बार-बार दीवारों से टक्करें मारता। शिहाँ सिंह ने

जब यह सुना, मीरू को एक नया मकान ले दिया, जिसके आँगन में एक सुन्दर घना बेरी का पेड़ था, जिस पर शहद जैसे मीठे बेर लगते थे।

कई नई नवेली लड़कियाँ थी, जिन्हें यह पता नहीं चलता था कि रातों-रात उनके पिताओं के पास गहने कहाँ से आ गये हैं। उनकी माताएँ शिहाँ सिंह को आसीसें देती सुनाई देती थीं।

किसी के यहाँ किसी बढ़िया घोड़ी की खबर मिलती तो शिहाँ सिंह उसे खुलवा लेता। किसी की हवेली में, किसी भैंस या गाय के गुणों की चर्चा चलती, तो वह गाय-भैंस बीस-बीस कोस की दूरी तय करके शिहाँ सिंह के खूंटे से जा बंधती। तरंग में होता तो शिहाँ सिंह, खड़े लहलहाते खेत कटवा देता, उसके इशारे पर खलिहानों में से अनाज इधर-उधर हो जाता।

अपने गाँव, अपने गाँव के आसपास के सौ-पचास गाँवों का शिहाँ सिंह बेताज बादशाह था।

फिर शिहाँ सिंह के यहाँ एक बेटा हुआ-गंडा सिंह। फिर गंडा सिंह बड़ा होने लगा। कहने वाले कहते हैं, ज्यों-ज्यों पुत्र बड़ा होता गया, पिता और का और होता गया। मार-पीट, चोरी-डाका, शिहाँ सिंह ने यह सब छोड़ दिया। सुबह, दोपहर, साँझ, हमेशा पूजा-पाठ में मग्न रहता, सारा-सारा दिन वह हाथ में माला लिए रहता। अपनी हवेली के पास हज़ारों रुपये लगा कर, उसने एक मन्दिर बनवाया। गाँव की पाठशाला को वह हर महीने ढेर-सा दान देता। मन्दिर के पास उसने एक विधवा-आश्रम भी खोला। कोई भी ज़रूरतमंद उसके द्वार से खाली हाथ न जाता।

शिहाँ सिंह की एक ही चाह थी-उसका बेटा शरीफ़ज़ादों के साथ खेले, शरीफ़जादों के साथ पढ़े, बड़ा होकर शरीफ़ कहलाये। कोई उसे यह न कहे कि उसका बाप डाकू था। शिहाँ सिंह मास्टर रख-रख कर बच्चे को पढ़ाता, पंडित बुलवा-बुलवा कर उसे धार्मिक शिक्षा दिलाता। बच्चे में ईश्वर का डर और प्राणिमात्र के लिए प्यार देख-देख कर खुश होता।

गली में हँसते हुए, बाहर मैदान में खेलते हुए, कभी उसका बेटा यदि किसी से लड़ पड़ता तो उस लड़के की आँखें लाल अंगारों की तरह दहकनें लगतीं, उसके कान आग की तरह लाल हो जाते, उसके हाथ काँपने लगते, जैसे किसी ज़माने में स्वयं शिहाँ सिंह की दशा हो जाती थी।

शिहाँ सिंह को अपना बेटा किसी से डाँट खाता अच्छा लगता, मार खाता अच्छा लगता, घर रोता हुआ आता अच्छा लगता।

इस तरह गंडा सिंह बड़ा होता गया। अच्छे से अच्छे साथियों के साथ घूमता, अच्छे से अच्छे स्कूल-कालेज में वह पढ़ा, और ऊँची से ऊँची शिक्षा उसने प्राप्त की।

जब गंडा सिंह की पढ़ाई समाप्त हो गई तो उसके पिता को उसके लिए काम

की चिन्ता हुई। कोई कहता, शिहाँ सिंह का बेटा नम्बरदार बनेगा, कोई कहता, ज़ैलदार बनेगा, कोई कहता, तहसीलदार बनेगा, कोई कहता, शिहाँ सिंह कह-सुन कर उसे कहीं बड़ा अफ़सर लगवा लेगा। पर शिहाँ सिंह, जब आप स्वयं कभी गंडा सिंह के बारे में सोचता तो उसका जी चाहता, काश, उसका बेटा किसी तरह 'कलकत्ता दफ़्तर' में भरती हो जाये। कलकत्ता दफ़्तर, जहाँ बाबुओं के ऊपर हेड क्लर्क, हेड क्लर्क के ऊपर सुपरिंटेंडेंट, सुपरिंटेंडेंटों के ऊपर अफ़सर, उनके ऊपर और अफ़सर, जहाँ इन दरजों के बोझ के नीचे इंसान जैसे दब कर रह जाता है, और सीढ़ी पर सीढ़ी चढ़ते हुए, काले बाल सफेद हो जाते हैं। 'कलकत्ता दफ़्तर' के बाबू, जो सवेरे दफ़्तर जाते और शाम को अंधेरा होने पर कहीं वापस लौटते। शिहाँ सिंह सोचता कि उसके बेटे को लोग 'बाबू' पुकारा करेंगे, 'कलकत्ता दफ़्तर' का बाबू, गरीब-सा, चुप-सा, शरीफ-सा जो किसी के लिए अंग्रेजी में चिट्ठी लिख कर खुश हो लेता है, जो समय पर दफ़्तर पहुँच कर ईश्वर का लाख-लाख धन्यवाद करता है, जो अपने अफसर की मुसकान के लिए जान देने को तैयार रहता है।

शिहाँ सिंह अभी सोच ही रहा था कि उसके बेटे ने एक दिन उसे आकर बताया कि वह "भूमिदान" आन्दोलन में सम्मिलित हो गया है। उसने निर्णय कर लिया था कि वह अपना सारा समय इस यज्ञ को भेंट करेगा। भूमिदान आन्दोलन-भूमिपतियों से भूमि लेकर उनमें बाँट देना, जिनके पास भूमि नहीं। शिहाँ सिंह इस आन्दोलन के बारे में बहुत दिनों से सुन रहा था।

यह सुनते ही जैसे शिहाँ सिंह के सिर से लाखों मन बोझ उतर गया। शान्त, स्थिर, कितनी ही देर उस रात, वह मन्दिर में मूर्ति के समने कृतज्ञ भाव से माथा रगड़ता रहा।

फिर उसके बेटे के बारे में लोग आकर शिहाँ सिंह को समाचार सुनाने लगे। कैसे वह गाँव-गाँव में घूम कर, प्रेम से, धीरज से अपने ध्येय के बारे में लोगों को बताता। कितने ही और नवयुवक उसके साथ मिल गए थे। उसकी वाणी में कुछ ऐसा जादू था कि जिनके पास भूमि थी वे उसे भूमि देते, जिनके पास हल थे, वे उसे हल देते, जिनके पास बैल थे, वे बैल उसे सौंप देते। स्त्रियाँ अपने गहने उतार-उतार कर उसे निर्धनों में बाँटने के लिये देती रहतीं।

भूमिदान आन्दोलन के नेता की तरह गाँव-गाँव गंडा सिंह घूमता हुआ लोगों से कहता, "अगर आपका एक बेटा है तो मुझे दूसरा समझें, अगर दो हैं तो मुझे तीसरा समझिए, अगर तीन हैं तो चौथा, अगर सात हैं तो आठवाँ, और मेरा हिस्सा मुझे दे दीजिए।" लोग उसके सामने बिछ-बिछ जाते, कोई इनकार न करता। अधिक भूमि वाले अधिक देते, थोड़ी-वाले थोड़ी। कोई नहरी ज़मीन देता, कोई कुएँ वाली, कोई बारानी, कोई ऊसर। गंडा सिंह को सब कुछ स्वीकार था। अपने देश की धरती, वह कहता, जैसी भी हो उसे प्यारी है। वह किसी भी भू-खंड को लेने

से इनकार न करता। सारे के सारे इलाके में धूम-सी मच गई।

फिर शिहाँ सिंह को किसी ने आकर बताया कि पड़ोसी गाँव के एक चौधरी ने अपनी सारी भूमि दान कर दी है, जिसे पिछले दो साल मुक़दमा लड़कर अपने चचेरे भाइयों से उसने जीता था। शिहाँ सिंह को पता था कि उस भूमि के लिए कितनी मार-पीट हुई थी, कितना ज़हर-सा फैल रहा था सारे के सारे इलाके में। शिहाँ सिंह को जैसे यह समाचार आत्म-विभोर कर रहे थे। अपने बेटे के बारे में इस तरह की कहानियाँ सुनता, तो उसका जी चाहता कि इस तरह की कहानियाँ सुनते-सुनते वह आँखें मूंद ले।

फिर शिहाँ सिंह को किसी ने आकर बताया कि मीरू मोची ने अपना पहला घर गंडा सिंह को दे दिया है। मीरू कहता, मेरे पास एक घर जो है, दूसरे को क्या मैं साथ ले जाऊँगा? उस घर में गंडा सिंह ने किसी शरणार्थी को लाकर बसाया था। बार बार शिहाँ सिंह सोचता कि मीरू ने अपने बाप-दादा का मौरूसी घर दान कर दिया था, उस मीरू ने, जो कभी अपने आंगन की बेरी नहीं काटने देता था। मौरूसी जायदाद के लिए तो गाँव में सिर फट जाते थे। लोग भूखों मर जाते थे पर मौरूसी जायदाद की तरफ किसी को आँख उठा कर नहीं देखने देते थे।

शिहाँ सिंह को, मीरू मोची के इस दान का समाचार सुनकर आज उस दिन से भी अधिक आनन्द मिला था, जिस दिन कि उसने स्वयं मीरू को बेरी वाला नया घर खरीद दिया था, या जिस दिन लालू मीरासी के लिए उसने घोड़ा भेजा था।

शिहाँ सिंह प्रसन्न था, बहुत प्रसन्न।

उन्हीं दिनों चक्कर लगाता हुआ गंडा सिंह अपने गाँव की तरफ आ निकला। ढोलक, बाजे-गाजे के साथ गाँव वालों ने धूमधाम से उसका स्वागत किया। गंडा सिंह ने अपने गाँव वालों से भूमि माँगी, सम्पत्ति माँगी! शिहाँ सिंह ने अपनी निजी आवश्यकता के लिए कम से कम भूमि, धन, ढोर-डंगर बचा कर, शेष सब कुछ बेटे के हवाले कर दिया। शिहाँ सिंह को देख कर बाकी लोग भी अपने बूते से बाहर दान देने लग गये। सारा दिन गाँव में गरमा-गरमी रही। पर एक बात गंडा सिंह को बार-बार हैरान कर रही थी कि गाँव का नम्बरदार कहीं भी दिखाई नहीं दे रहा था। सवेरे स्वागत के लिए वह सबसे आगे था, पर उसके बाद उसे किसी ने भी नहीं देखा। कहीं आधी रात को पता चला कि नम्बरदार घर लौट आया है। गंडा सिंह अपने पिता को साथ लेकर, नम्बरदार के घर पहुँचा।

नम्बरदार ज़मीन देने के लिए तैयार नहीं था। उसके दस बच्चे थे। उसकी ज़मीन भी बहुत अधिक नहीं थी। पिछले साल उसकी फसल ख़राब हो गई थी। स्वयं वह अब बूढ़ा हो रहा था। अपने बेटों की स्वीकृति के बिना...। इस तरह की बातें वह करता रहा।

आखिर चुपचाप गंडा सिंह उसके घर से उठ आया। जब नम्बरदार के आंगन से वे बाहर निकले, शिहाँ सिंह ने देखा, उसके बेटे की आँखें लाल अंगारों की तरह दहक रही थीं, उसके कान आग की तरह लाल हो गये थे, उसके हाथ काँप रहे थे, उसकी आवाज़ भर्रा गई थी।

शिहाँ सिंह के पाँव तले से जैसे ज़मीन निकल गई। रात ज़्यादा बाकी नहीं थी। जितनी रात बाकी थी, शिहाँ सिंह मन्दिर में मूर्ति के सामने औंधा पड़ा रहा। उसकी आँखों से अविरल आँसू बह रहे थे और बार-बार उसके सामने उस रात का दृश्य आता, जब एक नव-विवाहित जोड़े को उसने लूटा था। उछल-उछल पड़ते दूल्हे को उसने ज़मीन पर दे पटका था, और उसकी पत्नी के गहने उतारते समय उसकी आँखें बिल्कुल उसी प्रकार लाल अंगारों की तरह दहक उठी थीं, कान आग की तरह लाल हो गए थे, उसके हाथ काँपने लगे थे और उसकी आवाज़ भर्रा गई थी।

अगले दिन जब गाँव वालों को नम्बरदार की इस हरकत का पता चला तो लोगों ने बढ़-चढ़ कर, दान में भूमि देनी शुरू कर दी। ग़रीब जिनके पास दो-दो, चार-चार बीघे ज़मीन थी, उन्होंने भी इस भूमिदान में भाग लिया, और 'इंकलाब ज़िन्दाबाद" के ऊंचे-ऊंचे नारे लगा-लगा कर, नम्बरदार और नम्बरदार के सम्बन्धियों को लज्जित करते रहे। जनता के उत्साह की इस उमड़ती बाढ़ को देख कर शिहाँ सिंह को फिर एक नशा-सा आ गया, फिर एक मस्ती-सी छा गई।

गंडा सिंह आंधी की तरह आया और बगूले की तरह चला गया।

शिहाँ सिंह को प्रति दिन अपने बेटे के समाचार मिलते रहते और इन समाचारों को सुन-सुन कर शिहाँ सिंह के भीतर का पिता ईश्वर का लाख-लाख धन्यवाद करता। हर सवेरा, उसके जीवन को एक नई शान्ति, एक नई ठंडक, एक नई गरिमा प्रदान कर रहा था।

शिहाँ सिंह प्रसन्न था, बहुत प्रसन्न। उसे किसी चीज़ की लालसा नहीं थी, न भूमि की, न मकान की, न धन की। उसका बेटा सत्य मार्ग पर चल रहा था, धर्म के मार्ग पर चल रहा था। शिहाँ सिंह प्रसन्न था, बहुत प्रसन्न!

इस प्रकार जीवन हँसी-खुशी बीत रहा था कि एक साँझ, बातें करते हुए किसी ने कहा, शहर की ओर एक गाँव के नम्बरदार ने गंडा सिंह को उसी प्रकार भूमि देने से इनकार कर दिया था जैसे कि उसके अपने गाँव के नम्बरदार ने किया था। सारा दिन वह गाँव के बाहर कहीं छिपा रहा, और बहुत रात-बीते चुपके से घर लौट कर, उसने हवेली का दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर लिया था। गंडा सिंह और उसके साथियों ने बहुत पुकारा, बहुत देर तक दरवाज़ा खटखटाया पर अन्दर से कोई उत्तर नहीं मिला। आखिर गंडा सिंह ने एक रस्सी मंगवाई और लोगों के देखते-देखते कमंद फेंक, वह गिलहरी की तरह नम्बरदार की पुरानी पत्थर की हवेली

पर चढ़ गया। हवेली के अन्दर जाकर नम्बरदार के साथ उसने विवाद किया, उसके भीतर की नेकी, न्याय और ईश्वर के भय को जागृत किया और फिर उससे भूमि का एक भाग ले लिया। जो ज़मीन उसने नम्बरदार से ली, वह उसी गाँव के गरीब लोगों में बाँट दी।

बताने वाला, शिहाँ सिंह को यह बात बताता रहा पर शिहाँ सिंह जैसे गहरी खाई में खो गया हो।

साँझ, रात में बदल गई। शिहाँ सिंह अभी तक विचारों में डूबा हुआ, गुम-सुम, सोच रहा था, सोचता जा रहा था। शिहाँ सिंह के बेटे ने कमंद फेंकी थी। कमंद तो सारे इलाके में केवल शिहाँ सिंह ही फेंक सकता था। आख़िर किसने गंडा सिंह को ऐसे कमन्द फेंकना सिखाया था? किसने सिखाया था? शिहाँ सिंह को याद आया, इसी तरह एक अंधेरी रात को स्वयं उसने, उस हवेली पर कमंद फेंकी थी, चट्टान की तरह अचल दीवारों वाली, मनों भारी लोहे के दरवाजों वाली वह हवेली वैसी की वैसी खड़ी थी और वह अन्दर सोये हुए नम्बरदार की कौड़ी-कौड़ी समेट लाया था।

शिहाँ सिंह सोच रहा था, सोचता जा रहा था। उसके स्कूलों-कॉलेजों में पढ़े, सभ्य, ग़रीब किसानों के लिए अपनी जवानी अर्पण कर देने वाले पुत्र को ऐसे कमंद फेंकना किसने सिखाया?

रात आधी बीत गई। उसका हृदय एक लावे की तरह जल रहा था। चारों ओर फैली चाँद की चाँदनी उसे शूलों की तरह चुभ रही थी। आख़िर व्याकुल-सा वह अपने आँगन में टहलने लगा।

फिर शिहाँ सिंह को लगा जैसे आँगन के सामने वाले अंधेरे कोने में कुछ हलचल सी हो रही है। शिहाँ सिंह के पाँव बरबस उधर मुड़ गये। उसने देखा कि उसकी पंच-कल्याणी भैंस बियाई गई थी। पंच-कल्याणी भैंस ने पंच-कल्याणी पड़िया दी थी। एक चाँद माथे पर, एक-एक चाँद चारों टाँगों पर। जैसी माँ थी, बिल्कुल वैसी ही बेटी थी। शिहाँ सिंह पंच-कल्याणी माँ की पंच-कल्याणी पड़िया की ओर कितनी देर देखता रहा, देखता रहा।

चिन्ताओं की दलदल में फँसे हुए शिहाँ सिंह की पलकें अभी भी वैसी की वैसी ऐंठी हुई थी।

'ओह, शिहाँ सिंह सरदार!' फिर शिहाँ सिंह ने अपने पेट पर मुक्का मारते हुए कहा, 'ओह, शिहाँ सिंह मूर्ख! तू क्यों व्यर्थ तड़प रहा है? जो गहने तू नम्बरदार की हवेली से लूट कर लाया था, तूने कौन से अपने पास रख लिए थे? तूने भी उन्हें दान ही कर दिया था, बाँट ही डाला था!'

वह पंच-कल्याणी पड़िया की पंच-कल्याणी माँ को गुड़ की भेली चटाने लगा।

पहला और आख़िरी ख़त

मेरे बच्चे,

तेरे नाम यह मेरी पहली चिट्ठी है। पहली भी और आखिरी भी। है न अजीब बात! अपनी जान के टुकड़े से कभी कोई ऐसे कहता है?

तेरे नाम यह मेरी पहली चिट्ठी है। अभी तो कल की बात है जब मुझे तेरे होने के बारे में बताया गया। कल ही की तो बात है जब हम पति-पत्नी, सनत्ता की बाड़ की ओट में खाना खा चुके थे, तेरी माँ ने झिझकते हुए मुझे यह खबर दी। मेरे हाथ से नारंगी की फाँक उचक कर नीचे जा गिरी। मेरा मुँह खुला का खुला रह गया। तेरी माँ की नज़रें कह रही थीं- मैंने जान बूझ कर पहले नहीं बताया, कहीं आपका खाना न ख़राब हो और वही बात हुई। एक अपराधी की तरह वह मेरी ओर देख रही थी, जैसे कोई अपने दोष को स्वीकार कर रहा हो।

दोष तो यह हैं कि बिना सोचे समझे हमारे देश में एक और मुँह बढ़ रहा है। बत्तीस दाँतों वाला एक सुन्दर मुँह। जिसे अन्न की आवश्यकता होगी, कपड़े की आवश्यकता होगी, मकान की आवश्यकता होगी-रहने के लिए। उस देश में जो आबादी की दृष्टि से दुनिया में दूसरे नम्बर पर है, पर क्षेत्रफल के लिहाज़ से कहीं सातवें स्थान पर। जिस देश में दुनिया के पन्द्रह प्रतिशत लोग हैं और जिनके रहने के लिए केवल दो दशमलव दो प्रतिशत भूमि है। जवाहर लाल नेहरू ने एक बार कहा था- जिस तेज़ी से हम इस देश में अपनी गिनती बढ़ा रहे हैं, हमने तो पशुओं को भी शर्मिन्दा कर दिया है। तुम सोचते होगे कि मैं कैसी बातें कर रहा हूं। जैसे कोई दहलीज़ पर खड़े मेहमान को भीतर ले जाने की जगह इधर-उधर की हाँकने लगे। कोई सैकड़ों मील चल कर आया हो, कोई युग युगान्तर से मिलन के लिए आतुर हो और कोई द्वार पर खड़ा गिनती गिनना शुरू कर दे।

यह बदतमीज़ी है। बदतमीज़ी सी बदतमीज़ी। लेकिन वेहयाई तो नहीं, गैरतमंद आदमी की आँखों की शरम। मेरे लाड़ले! मैं तुझे एक आप बीती सुनाता हूँ और फिर तुम फैसला कर लेना कि मेरी जगह किसी को क्या करना चाहिए।

उस दिन हमारे स्कूल में एक विदेशी महिला आई थी, किसी पश्चिमी राजदूत की पत्नी। बड़ी मिलनसार, बड़ी उदार, बड़ी मधुर-भाषी। कितनी देर निरीक्षण करते हुए स्कूल की छोटी-छोटी ज़रूरतों का जिक्र करती रही। बड़ी हमदर्द। फिर उसे स्कूल के बच्चों के साथ मिलाया गया। सारे स्कूल के बच्चे एक स्थान पर इकट्ठे

हुए। इससे पहले कि वह भाषण देने के लिए उठती, हमारे स्कूल के एक अध्यापक ने उनके एहसानों का बच्चों को परिचिय कराया–

'बच्चों! तुम्हें मालूम है कि जो अन्न तुम खाते हो, वह कहाँ से आता है?'

बच्चे चुप!

'बच्चों। तुम्हें मालूम है कि जो रोटी तुम खाते हो, उसके लिए गेहूँ कहाँ से आता है?'

बच्चे चुप।

'वह अनाज उस देश से आता है जिस देश से हमारी आज की यह मेहमान आई हैं। अगर वह देश हमें अन्न देना बन्द कर दे तो हम भूखे मर जायें...।

मंच पर एक ओर बैठा, मैं पानी-पानी हो रहा था। मंच पर, और मंच के सामने तालियाँ पीट-पीट कर मेहमान का स्वागत किया जा रहा था। मुझे लग रहा था कि अगर धरती जगह दे तो मैं उसमें समा जाऊँ। विदेशी मेहमान स्वयं भी लज्जित हो रही थी पर बच्चे तालियाँ पीटे जा रहे थे। स्कूल के अध्यापक तालियाँ प ी ट रहे थे।

चुल्लू भर पानी में डूब मरने की बात है या नहीं! मेरे बेटे। तू खुद बता! तू जो एक गैरतमन्द बाप की औलाद है। तू खुद ही बता...। इस से तो कोई मर जाये, इससे तो कोई भूखा रह ले।

हम भूखे रह रहे हैं। सप्ताह में एक बार हमारे घरों में, हमारे होटलों में अनाज नहीं पकता। अनाज के दाने-दाने का राशन कर दिया गया है। गेहूँ और चावलों के लिए हमारे यहाँ जो क्यू लगते हैं, उनमें कोई घिर जाये तो उसका दम घुट के रह जाये।

ऐसी जिन्दगी कौन जीना चाहेगा?

'क्या? फिर भी जी सकना एक अनमोल उपलब्धि है?' यह तेरी माँ है। तेरी माँ तेरे भीतर से बोल रही है। बिल्कुल वही शब्द।

उलटे-सीधे पाठ तुम कब सीखते रहे हो? नहीं, वह नहीं हो सकती। वह तो ख़ुद बेचारी परेशान है। जिस क्षण से उसे पता चला, उसके तो होश-हवास उड़े हुए हैं। कई दिनों से वह खोई-खोई लग रही थी। मैं सोचता था कि इसे हो क्या गया है? वह नहीं हो सकती । उसने तो अपनी आँखों से बंगाल का अकाल देखा है। हज़ारों लोग कीड़ों की तरह तड़प-तड़प कर मर गये। जब आदमियों ने कुत्तों को खाया, कुत्तों ने आदमियों को खाया। आजकल सूखे के कारण बिहार में क्या हो रहा है? उत्तर प्रदेश पर क्या हो रहा है? उन दिनों रोयल सीमा में क्या हुआ था!

सामने तुम्हारी बहन अपनी आया की उंगली पकड़े पार्क में सैर के लिए जा रही है।

'उसे संगी की ज़रूरत है। उसे भाई की ज़रूरत है जिसे गोद में लेकर वह खिलाया करेगी। जिसके लिए वह बन्ने गायेगी, जब वह दूल्हा बन कर बारात के साथ निकलेगा। जिसे पंछियों के द्वारा वह सन्देश भेजेगी अपने ससुराल से। जिंदगी के हर पड़ाव पर जिसे किसी की याद आयेगी। हर मुश्किल में अपनी मां का सहारा ढूंढेगी। औरत माँ बन सकती है-जितनी बार उसकी इच्छा हो। लेकिन औरत बहन' नहीं बन सकती अपने आप से। एक मासूम बच्ची से उसका बहन बनने का अधिकार छीन लेगा, उसके साथ अन्याय है।'

तोबा! तोबा! कितनी बातें तुम्हें आ गई हैं। इतनी बातें तुम कहाँ से सीखते रहे हो?

'अपनी माँ से।'

झूठी बात। उसके मुँह में तो ज़बान नहीं। बेचारी गाय जैसी है।

'अपनी हर अनकही बात की अभिव्यक्ति, एक और अपने बच्चे से करती है। मैं तो वह हूं जिसके साथ वह अपने खिलौनों से खेलती रही-अपने बचपन से। मैं तो वह हूँ जिसका अरमान अपने सीने में छिपाये वह दुलहन बनने की तैयारियाँ करती रही। मैं तो वह हूँ जिसे अपने सपनों में उसने लाकर चूमा है। उठा-उठा कर अपनी आँखों से लगाया है।'

तुम भावुक हो रहे हो मेरे बच्चे! पुरानी दक़ियानूसी बातें। इस तरह की बातें न कोई आजकल करता है और न सुनता है।

'मैं बेटा हूं! हर मां के कलेजे में बेटे के लिए उमंग होती है।'

आजकल बेटे और बेटी में क्या फ़र्क है। बेटी डाक्टर बन सकती है, इन्जीनियर बन सकती है। फ़ौज में भरती हो कर अपने देश की रक्षा कर सकती है। हवाबाज़ बन कर हवाई जहाज़ उड़ा सकती है। अन्तरिक्ष की यात्रा कर सकती है। समुद्रों की सीमा लाँघ कर एक देश से दूसरे देश तक तैर सकती है।

'बेटी सब कुछ हो सकती है लेकिन खेती नहीं कर सकती। मैं किसान बनूँगा। चिलचिलाती धूप में, खेतों में हल जोतना, बीज बोना, रात-रात भर जाग कर खेतों की रखवाली करना। फिर अनाज को गाड़ियों में लादकर मंडी ले जाना-यह एक मर्द का बूता है। अपने देश में अन्न की कमी को दूर करने में, मेरा एक सबल कदम होगा।'

हर बच्चा जो इस देश में जन्म लेता है वह यही सोच कर पैदा किया जाता है। हम कहाँ से कहाँ पहुँच गये हैं।

"मैं आपकी सूरत हूँ। आपकी तरह मोटी-मोटी काली आँखें। आप जैसा मुँह, आपसा माथा, आप के जैसी उंगलियाँ-कोमल और नरम। आप की हँसी, निर्मल

और उन्मुक्त। आपके हर अरमान, आपके हर सपने का रूप लेकर मैं आ रहा हूं। आपके नाम को पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलाने के लिए।"

तू फिर भावुक हो रहा है। नहीं, मेरे बच्चे तुझे यह शोभा नहीं देता। सोच तो सही कि तू किस बाप का बेटा है? तुझे इस तरह भावुक नहीं होना चाहिए।

क्या मैं स्वयं भावुक हो रहा हूं? मेरी आवाज़ भर्रा-सी रही है। मेरा कंठ रुद्ध हो रहा है? नहीं तो। मेरी पलकों से आँसू टपक रहे हैं? नहीं तो, नहीं तो!

मैं अपने आप को तेरे भीतर देख रहा हूं! क्यों कि तू मेरे अंग का अंग है, मेरे लहू का लहू। मेरे कलेजे का टुकड़ा, मेरी जान की जान!

नहीं, नहीं, नहीं मेरे लाड़ले, यह सब व्यर्थ, बेकार की बातें हैं। वह देख! सामने कोठी के गेट पर एक मोटर आई है। अब समय हो गया। हम फिर मिलेंगे। कभी फिर। किसी और नक्षत्र में। किसी और युग में। जहां इस तरह का अभाव नहीं होगा, इस तरह की कमी नहीं होगी, इस तरह की बन्दर-बाँट नहीं चलेगी, फिर कभी...।

अच्छा, मेरी जान अलविदा। मोटर अब सामने पोर्च में आ चुकी है। उसमें से सफेद कोट पहने हुए लेडी डाक्टर अपना बैग उठाये ठक-ठक क़दम रखती तेरी अम्मी के कमरे की ओर बढ़ती जा रही है।

अब उसके क़दमों की आवाज़ रुक गई है। अलविदा मेरे लाड़ले! तू और मेरी तरफ़ इस तरह मत देख। खुदा हाफ़िज़!

तेरा
बदनसीब हिन्दुस्तानी बाप

कौन है वह?

बाबा नानक से किसी ने पूछा, "चमत्कार क्या है?" गुरु नानक बोले, "इंसान स्वयं सबसे बड़ा चमत्कार है।"

सचमुच मनुष्य का जन्म, उसका बढ़ना, फूलना-फलना, उसकी उपलब्धियां-इनसे बढ़कर चमत्कार क्या हो सकता है?

मैं जब अपनी ज़िंदगी पर नज़र डालता हूं तो क़दम-क़दम पर मुझे चमत्कार दिखाई देते हैं। ऐसी-ऐसी घटनायें, जिनके बारे में सोचकर मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। गूंगे का गुड़-यह बातें, की नहीं जातीं।

तो भी।

पाकिस्तान बन रहा था। उन दिनों मैं लाहौर रेडियो स्टेशन पर एक कार्यक्रम अधिकारी था। एक दिन बैठे-बैठे मुझे ध्यान आया कि जब पाकिस्तान बन जायेगा, और जैसा प्रतीत हो रहा था कि यदि लाहौर भारत से छिन गया तो पूर्वी पंजाब के पास कोई रेडियो-स्टेशन नहीं होगा। मैंने तुरंत सरदार स्वर्ण सिंह को टेलीफोन किया। वे अविभाजित पंजाब में एक मंत्री थे। उन्होंने कहा कि मैं उनसे किसी समय मिल लूं। मैंने गाड़ी ली और झट उनके यहाँ पहुँच गया। मेरी बात सरदार स्वर्ण सिंह को जँच गई। उन्होंने मुझे सरदार पटेल के नाम एक चिट्ठी ड्राफ्ट करने को कहा। सरदार पटेल दिल्ली में उन दिनों कामचलाऊ सरकार के सूचना और प्रसारण विभाग के मंत्री थे।

दफ़्तर लौटकर मैंने चिट्ठी ड्राफ्ट की, टाइप करवाई, और सरदार स्वर्णसिंह की कोठी पर ले गया। वह चिट्ठी उसी दिन सरदार पटेल को भेज दी गई।

फिर भारत आज़ाद हुआ। पाकिस्तान बना। जैसी हमें आशंका थी, लाहौर हमारे हाथ से जाता रहा। हम लोग इधर आ गये। विभाजन के दिनों में हुए सांप्रदायिक दंगों और दिल्ली रेडियो स्टेशन की ज़िम्मेदारियों में डूबा, मैं इस बात को भूल गया था कि कभी मैंने पूर्वी पंजाब के लिए रेडियो स्टेशन स्थापित करने की तजवीज़ भी रखी थी। मुझे सिर खुझाने की फुरसत नहीं होती थी। दिन-रात, रात-दिन अपने काम में व्यस्त रहता।

लाहौर से तबदील होकर आये हमें कुछ दिन ही हुए थे कि एक दिन सुबह प्रोग्राम-मीटिंग में एक साथी अफ़सर से मैंने पूछा- "फलाँ अधिकारी कुछ दिनों

से नज़र नहीं आ रहा है।" उसने मेरी ओर हैरान होकर देखा और कहा, "तुम्हें मालूम नहीं, उसे तो पिछले सप्ताह जालंधर भेजा गया है ताकि पूर्वी पंजाब के लिए नया रेडियो स्टेशन चालू करे।"

मैंने सुना और जैसे कोई बम फटा हो, मेरे चेहरे का रंग बुझ गया। वह अफसर जिसे जालंधर भेजा गया, हर तरह से मुझसे जूनियर था। फिर मैंने तो उस रेडियो स्टेशन की कल्पना की थी। सरदार स्वर्ण सिंह की ओर से, मेरी ड्राफ्ट की हुई चिट्ठी का ही परिणाम था-कि बँटवारे के तुरंत बाद जालंधर रेडियो स्टेशन को स्थापित करने का फैसला किया गया। अब, जब कि रेडियो स्टेशन खुलने का समय आया तो किसी दूसरे को इस काम के लिए तैनात कर दिया गया था।

मुझे जैसे चारों-कपड़े आग लग गई। यह कैसा आज़ाद भारत था? इस आज़ाद देश में क्या इस तरह के ही फैसले हुआ करेंगे?

ज्यों-ज्यों मैं सोचता, मुझे और बुरा लगता। अपने-आप पर रह-रहकर तरस आता। बेघर-बार शरणार्थी! आगे-पीछे कोई भी नहीं था जिसके सामने जाकर मैं अपना दुखड़ा रोऊं? जिसके पास जाकर इंसाफ माँगू। यह अन्याय था, घोर अन्याय।

सारा वह दिन, मैं परेशान रहा। सारी वह रात, जैसे मैं भट्टी में भुनता रहा। मुझे चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा दिखाई देता। बार-बार मुझे इस बात का ख्याल आता कि मुझसे अन्याय किया गया था। एक ही दफ्तर में काम करते हुए, मुझसे यह बात छिपाई गई थी। जाने से पहले वह अफसर मुझसे मिलने तक नहीं आया था। अपने कार्यालय में मैं पंजाबी का विशेषज्ञ माना जाता था।

आख़िर यह अन्याय मुझसे क्यों किया गया? मेरी समझ में नहीं आ रहा था।

अगली सुबह अपने नित्य के नियमानुसार मैं दफ्तर जाने से पहले गुरुद्वारा बंगला साहब माथा टेकने के लिए गया। बचपन से मैं ऐसा करता चला आ रहा था; सुबह पहला काम : ईश्वर की शरण!

उस दिन बंगला साहब गुरुद्वारे के बाहर जब मैं पहुंचा तो मेरी आँखों में आँसू छलक आये। गुरुद्वारे के बाहर, सीढ़ियों पर ही मेरा सिर झुक गया। अपने बेसहारों के सहारे के सामने जैसे मैं गिर ही तो गया। मुझे याद है, जिस जगह उस दिन मैंने माथा टेका था, वह जगह गीली हो गई थी।

कुछ देर बाद मैं अपने दफ्तर पहुँचा। मुश्किल से अपनी कुर्सी पर बैठा ही था कि हमारे डायरेक्टर जनरल का चपरासी आया और सैल्यूट मारकर बोला, जनाब को डी.जी. याद कर रहे हैं।

तुरंत मैं महानिदेशक के पास गया। डायरेक्टर जनरल का यूं किसी अफसर को बुला भेजना बिना मतलब के नहीं होता।

डी.जी. के कमरे में मैंने क़दम रखा ही था कि वह कहने लगे-दुग्गल। यह

फैसला किया गया है कि तुम्हें जालंधर रेडियो स्टेशन चालू करने के लिए भेजा जाये। जिस अफसर को पिछले सप्ताह इस काम के लिए तैनात किया गया था, यूँ लगता है कि उससे यह काम नहीं हो सकेगा। तुम्हें कल सुबह ही जाना होगा। तुम्हें जालंधर ले जाने के लिए एक हवाई जहाज़ चार्टर कर लिया गया है। आज कल रेलगाड़ी का भरोसा नहीं किया जा सकता...।

मैंने सुना और जैसे मुझे अपने कानों पर विश्वास न आ रहा हो।

गज़ब ख़ुदा का

गज़ब खुदा का, राय बहादुर की कोठी की तलाशी हो रही थी। पुलिस ने बंगले को चारों ओर से घेर लिया था। तभी तो राय बहादुर के अलसेशियन यूँ काटने को दौड़ रहे थे। राय बहादुर की कोठी में हर रोज़ पुलिस के तथा दूसरे सरकारी अफ़सर आते रहते थे। कोई उनके गरम पानी के तालाब में नहा रहा होता, कोई खाने की दावतों में शामिल हो रहा होता, कहीं शराब के दौर चल रहे होते। राय बहादुर की इच्छा थी – सड़क चौड़ी कर दी गई, उस पर रोशनी के लिए ट्यूबें लगा दी गईं। सामने ख़ाली पड़े मैदान को पार्क में बदल दिया गया। राय बहादुर की इच्छा थी- सारी कालोनी में झुग्गियों को उठा दिया गया। झुग्गी-झोपड़ी वाले सुअर पालते थे, और सुअरों के झुंड राय बहादुर के बगीचे का सत्यानाश कर देते थे। राय बहादुर की इच्छा थी। उनकी कोठी के सामने किसी न किसी बहाने संतरी तैनात रहता। राय बहादुर की इच्छा न होती तो उसे हटा लिया जाता। राय बंहादुर की बहू-बेटियों के फैशन; अड़ोस-पड़ोस के लड़के-लड़कियाँ देखने के लिए उत्सुक रहते।

पुलिस के सिपाहियों ने कोठी को घेरा डाला हुआ था। वही पुलिस के अफसर, जिन्हें इस कोठी में दावतों से फ़ुरसत नहीं मिलती थी, तलाशी के वारंट लेकर आये हुए थे। राय बहादुर की आँख से आँख नहीं मिला रहे थे। जब तलाशी शुरू हुई तो पुलिस की आँखे खुली की खुली रह गईं। मनों सोना, हीरे और मोती, सौ-सौ रुपये के नोटों की गड्डियों की गड्डियां। अलमारियाँ ठूंस-ठूंस कर भरी हुई। विदेशी बैंकों में हिसाब-किताब के काग़ज़, देसी बैंकों में लाकरों की चाभियाँ, उनमें रखे ज़ेवरों के ब्योरे। एक कमरा तो तरह-तरह की विदेशी शराब से ही भरा हुआ था। एक दीवार से दूसरी दीवार तक ईरानी कालीन; किसी कमरे, किसी बरामदे का फर्श नंगा नहीं। बार-बार पुलिस के अफ़सर एक दूसरे से कहते, यह तो मालूम था कि राय बहादुर अमीर है, लेकिन इतने अमीर हैं, इसका इल्म नहीं था। इस सारे धन और सम्पत्ति का कोई हिसाब नहीं था। कोई कर अदा नहीं किया गया था।

जब राय बहादुर के तलाशी शुरू हुई, उनके पड़ोस में सेठ जी के खलबली मच गयी। जो हाल राय बहादुर का हो रहा था, थोड़ी देर बाद सेठजी का भी होने वाला था। सेठ जी का तो घर का व्यापार था। उन्होंने तो कभी आयकर का हिसाब-किताब रखा ही नहीं था। उधर राय बहादुर के तलाशी शुरू हुई, इधर पुलिस

के एक सिपाही ने, सेठ जी के नौकर को आँख मार कर सचेत कर दिया। फिर कुछ देर बाद चुपके से वह आया और अपना इनाम खरा करके ले गया। दस हज़ार रुपया इस तरह की चेतावनी के लिए थोड़ा था, पन्द्रह हज़ार होना चाहिये। सेठ जी की पत्नी ने जो कुछ उसके मुँह से निकला, देकर जान छुड़ाई। सिपाही कहता, यह रकम वह अकेला थोड़े ही खायेगा, वह तो सारी पुलिस-पार्टी में बांटी जायेगी। उसके हिस्से में तो कुल सौ-दो सौ ही आयेंगे।

पुलिस के संतरी की हिदायत के अनुसार, सेठ जी ने अपना सारा धन, सारा माल कोठी के बाहर भेजना शुरू कर दिया। संतरी कहता कि वह कोशिश करेगा कि उनके यहाँ तलाशी ही न हो, लेकिन अगर कानूनी कारवाई करनी ही पड़ी तो उनके यहाँ एतराज़ वाली कोई चीज़ नहीं होनी चाहिए। सेठ जी ने घर के सारे गहने, अपने ड्राइवर को दे दिए। वह कोठी में नहीं रहता था। ट्रंक भर कर वह ले गया। जब खतरा टल जायेगा, बंद का बंद ट्रंक वह वापस ले आयेगा। एक और अटैची में नोटों की गड्डियां जमायी गईं, और उसे बच्चों को ट्यूशन पढ़ाने आये मास्टर जी के साथ कर दिया। मास्टर जी अटैची को अपने स्कूटर के पीछे बांध कर ले गये। एक और संदूकची में, विदेशी मुद्रा और ट्रैवलर-चैक थे। वह भैंस का दूध दुहने आये ग्वाले के हवाले कर दी गई। शराब की बोतलों को खोलकर नालियों में बहा दिया गया। सेठ जी की समझ में यह नहीं आ रहा था कि हर कमरे में लगे एयरकंडीशनर का वह क्या करें। सेठानी पूजा के कमरे में बार-बार जा बैठती, सेठ जी को यह अच्छा भी लगता, बुरा भी। "भगवान क्या करेगा? ईश्वर तो इन मामलों में हमेशा दगा देता है।" बार-बार वह यह कहते, और आगे-पीछे थूकने लगते। कोई इस तरह की बात हो जाती तो सेठ जी का बलगम उछल पड़ता था।

सारा दिन राय बहादुर के घर तलाशी होती रही। सारा दिन सेठ जी के घर की एक-एक कीमती चीज़ को इधर-उधर किया जाता रहा। पुलिस का संतरी बीच-बीच में आता, खा-पीकर कोई न कोई हिदायत देकर खिसक जाता। हर बार आता और सेठ जी उसकी खातिर करते।

फिर यूँ लगता, जैसे बला टल गयी हो। दोपहर ढल रही थी।

" जो अभी तक नहीं आये, अब क्या आयेंगे?" सेठानी कहती।

"आने को आ भी सकते है। पुलिस और मौत का कोई वक्त नहीं होता।" सेठ जी अभी भी डरे हुए थे।

"आयें तो बेशक आयें। हमारी कोठी में अब क्या धरा है?" सेठानी लापरवाही से कहती।

"यूं मत कहो, दीवारों से संगमरमर तो तू हटाने से रही और तेरी रसोई में जो कुकिंग-रेंज है, उसका हिसाब किसे देगी?" सेठ जी ने उसे खबरदार किया।

सहमकर सेठानी फिर पूजा वाले कमरे में जा घुसी। उसने ज़ोर-ज़ोर से पाठ करना शुरू कर दिया। डरी सहमी हुई, मन कहीं का कहीं, वह पन्नों के पन्ने उलटती जा रही थी।

इस तरह साँझ हो गयी। पुलिस अपनी जीपों में बैठ कर चली गयी। चलने से पहले वही संतरी उनके यहाँ आया और कह गया-मैंने सब कुछ ठीक कर दिया है। आप चिन्ता न करें। सेंठानी ने शुक्राने के तौर पर एक सौ रुपये का नोट और उसकी मुट्ठी में थमा दिया।

"यह काहे को?" संतरी कहने लगा, "पहले आपने क्या थोड़ा दिया है ?"

"रास्ते में चाय-पानी के लिए।" सेठानी ने तनिक मुँह बिचका कर कहा।

और संतरी चल दिया।

पुलिस को गये ज़्यादा देर नहीं हुई थी कि राय बहादुर छड़ी पकड़े सेठ जी के यहाँ आये। पीला-ज़र्द चेहरा, बिखरे हुए बाल, थर-थर काँप रहे हाथ। उन्होंने सोचा, पड़ोसी के यहाँ बैठ कर एक पैग स्काच का पियेंगे। लेकिन सेठ जी ने तो रखी-रखाई सारी शराब नालियों में बहा दी थी।

"लेकिन आपने यह क्या किया?" राय बहादुर कहने लगे।

"अगर आप के बाद हमारे यहाँ आ जाते तो क्या होता?" सेठानी ने कहा।

"यूं भी कभी हो सकता है? बगैर तलाशी के वारंटों के पुलिस किसी के घर में घुस नहीं सकती।"

"क्या मतलब", सेठ साहब की ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की नीचे रह गयी।

"हां, हमारे यहाँ आये, पहले उन्होंने तलाशी के वारंट मुझे दिखाये फिर वह कोठी के अंदर घुसे। जाने से पहले सारी पूंजी का ब्योरा बना कर, मुझसे कागज़ पर तसदीक करवा ली।"

"हाय किस्मत, हमने तो हज़ारों संतरी को लुटा दिये।" सेठानी हाथ मलने लगी।

"कौन सा संतरी?" राय बहादुर ने पूछा।

"आप के घर से आया था। दिन में कई चक्कर वह लगाता रहा।" सेठ जी ने बताया।

"तो फिर आप को वह उल्लू बनाता रहा है। कितनी रक़म आपने उसे दी थी?"

"पन्द्रह हज़ार...।" और सेठ जी की ज़बान हकलाने लगी।"

"आप को अभी पुलिस में रिपोर्ट करनी चाहिए।" राय बहादुर ने कहा।

"लेकिन रिपोर्ट भी क्या करोगे?" अगले क्षण आप ही आप राय बहादुर कहने लगे। फिर छड़ी पकड़े, वह उठकर चल दिए।

सेठ जी और सेठानी के, काटो तो खून नहीं। कितनी देर बिट-बिट एक दूसरे के मुँह की ओर देखते रहे।

"अच्छा वह तो जो हुआ सो हुआ। अब मेरे गहने और बाकी माल तो वापस मंगवाओ।" सेठानी में जब कुछ शक्ति लौटी तो वह बोली।

"एक दो रोज़ और देख लेते है।" सेठ जी की राय थी।

"आप मेरे गहने तो मंगवा दीजिए, बाकी माल जब चाहे मंगवाते रहना।" सेठानी को गहनों से सारी उम्र बड़ा लगाव रहा था।

सेठजी सेठानी की जिद पर मोटर में बैठ कर ड्राइवर के घर चल दिए।

ड्राइवर तो घर नहीं पहुंचा था। उसकी पत्नी कहने लगी-वह तो सुबह से कोठी, ड्यूटी पर गये हुए हैं। साधारण सी औरत अपने गोदी के बच्चे को खटिया पर बैठी खिला रही थी।

सेठ जी ने सुना और उनके सोते सूख गये। किशनचंद घर क्यों नहीं पहुँचा था? वह तो कभी का कोठी से चला हुआ था।

मोटर में बैठी सेठानी को तो जैसे गश आ गयी हो। सेठ जी मोटर लेकर मास्टर जी के घर गये, जिसे उन्होंने नोटों से भरी हुई अटैची थमाई थी। मास्टर जी के क्वाटर को ताला लगा हुआ था। पड़ोसी ने बताया, वह तो बेचारा सुबह का निकला हुआ रात को लौटता है। सारा दिन एक कोठी से दूसरी कोठी में बच्चे पढ़ाता रहता है। अब उसे कैसे ढूंढ़ा जाये? सेठ जी माथा पीट कर रह गये।

वहाँ से सेठ जी ग्वाल मंडी गये जहाँ उनका ग्वाला रहता था। ग्वालिन ने सेठ जी की मोटर देखी और रोने-पीटने लगी। वह तो कब से अपने घरवाले की बाट देख रही थी। कोठी में भैंस दुहने गया था, अब तक नहीं लौटा। ज़रूर कोई हादसा हो गया होगा। सुबह जब उसने साइकिल पर पाँव रखा तो इसे छींक आयी थी। कहने लगा, वहम न किया करो, तुम बहुत वहमी हो। ग्वालिन की बात सुनकर सेठ जी ने उससे और कोई सवाल नहीं किया।

मोटर लेकर वह सीधे थाने पहुंचे। वह तो लुट-पिट गये थे। बरबाद हो गये थे। जो हाल उनका हुआ था, ईश्वर दुश्मन का भी न करे। ग़ज़ब खुदा का, एक पल के पल में वह मिट्टी में मिल गये थे।

थाने पहुंचे तो सेठ जी ने देखा, ड्राइवर भी, और मास्टर जी भी, और ग्वाला भी सामने सीखचों वाले कमरे के अंदर बैठे थे। सेठ जी की मोटर देख कर उनकी जान में जान आई।

पुलिस के अफसर ने सेठ जी को देखते ही अपने अहलकार से कहा-सेठ

जी तो खुद ही आ गये हैं, इन्हें गिरफ्तार करने के लिए भेजी पार्टी को वापस बुला लो। हवालात में सेठ जी को बताया गया, जैसे-जैसे कोई माल लेकर कोठी से बाहर निकलता था, अगले मोड़ पर तैनात पुलिस की टुकड़ी उसे धर पकड़ती और उसका माल ज़ब्त कर लेती थी।

"माल बरामद करने का यह भी एक तरीका है।" पुलिस अफसर ने हंसते हुए, सेठ जी को बताया। उसके पास वह संतरी खड़ा था जिसके कहने पर वह अपनी सारी पूंजी यूँ इधर-उधर करते रहे। रिश्वत के तौर पर ली गयी रकम सामने मेज़ पर पड़ी थी।

ठेकेदार

वर्षा मूसलाधार हो रही थी। जब हम जालन्धर से चले तो वर्षा हो रही थी, हम जम्मू पहुंचे तो वर्षा हो रही थी, हम जम्मू से चले तो वर्षा हो रही थी, जब कुद्द पहुँचे तो हमने देखा मोटरों, ट्रकों, लारियों, बसों, ठेलों की एक रेखा सी जैसे खिँची हो। दो दिन की लगातार वर्षा से पुल बह गया था। हमें मजबूर होकर कुद्द में रुकना पड़ा।

डाक बंगले का बाबू जैसे खाने को दौड़ता था। यात्री बरामदों में बैठे हुए थे, गुसलखानों में घुसे हुए थे, बाबू के दफ्तर से निकलने का नाम न लेते थे। निकलते भी कैसे, वर्षा भी तो थमने का नाम नहीं ले रही थी। आसमान जैसे फट कर बह रहा था, पागल हो रहा था। डाक बंगले के एक एक कमरे में दस-दस कुटुम्ब उतरे हुए थे। चप्पा-चप्पा जगह के लिए ब्लैक हो रही थी। हमारा ड्राइवर अपना-सा मुँह लेकर पानी में भीगता-निचुड़ता वापस आ गया।

सामने खालसा होटल था, हिन्दु वैष्णव होटल था, नया कश्मीर मुसलिम होटल था, हमने सोचा कि इनमें से कोई सिर छिपाने के लिए हमें जरूर जगह दे सकेगा। बन्द खड़ी मोटर में बैठे-बैठे बच्चा जब ऊबने लगा तो ड्राइवर फिर साहस करके सामने वाले चबूतरे पर चढ़ गया।

खालसा होटल, हिन्दु वैष्णव होटल, नया कशमीर होटल, सब के सब वास्तव में ढाबे ही थे। रहने की जगह किसी में भी नहीं थो। पर हमारा ड्राइवर जब अपनी मुसीबत की कहानी सुना रहा था, मेरी सरकारी पदवी का वास्ता दे रहा था, मेरी नौजवान, सुन्दर, लेडी-डाक्टर पत्नी और हमारे नन्हें मुन्ने फूल जैसे सुकुमार बच्चे के बारे में कह रहा था तो खालसा होटल में आग तापता, सिकुड़ा हुआ पतला-सा पहाड़िया हमारे ड्राइवर के मुँह की ओर ताकने लगा।

नरेन्द्रपाल सिंह, हमारा ड्राइवर, कितनी ही देर आस भरी नज़रों से मैले कुचैले गाढ़े से कपड़े पहने, पतले से नौजवान पहाड़िए को देखता रहा, पर फिर वह पहाड़िया चूल्हे में राख हो रहे अंगारों में जैसे खो गया। आशा की जो किरण हमारे ड्राइवर को उस पहाड़िये की आँखों में नज़र आई थी उसे लुप्त होता देख कर वह निरीह-सा फिर वर्षा में भीगता, मोटर की ओर चल दिया।

सोच में खोया अभी वह मोटर के पास पहुँचा ही था कि पीछे से एक आवाज़ आई। होटल से इस ओर, एक मोची की दुकान पर खड़ा वही पहाड़ी लड़का, ड्राइवर

को पुकार रहा था। नरेन्द्रपाल सिंह जैसे खिल उठा। भागा-भागा उसके पास पहुँचा। उस पहाड़ी लड़के के पास एक कमरा था, साथ गुसलखाना था, कमरे के दोनों ओर बरामदे थे। कमरे में तीन चारपाइयाँ थीं, एक मेज़ थी, दो लकड़ी की कुरसियाँ थीं, किराया तीस रुपये रोज़ था।

हम जल्दी-जल्दी मुँह सिर लपेटे कमरे में जा पहुँचे।

कमरा हमें कोई बहुत बुरा न लगा। वर्षा में बन्द मोटर की उमस से छुटकारा पाकर, कमरे के कोनों में पड़े सिग्रेट और बीड़ी के टुकड़े हमें दिखाई न दिए। जगह-जगह से टूटे कच्चे मिट्टी के फर्श की धूल हमें बुरी न लगी और न ही छत से लटक रहे मकड़ी के जालों की ओर हमारा ध्यान गया।

"क्यों भई तुम्हारा क्या नाम है?" जब सारा सामान आ चुका, मेरी पत्नी ने लकड़ी की मैली सी कुर्सी पर बैठते हुए नौजवान पहाड़िए से पूछा।

"जी मेरा नाम बसन्त है।" और वह दूसरी कुरसी को अपने कंधे पर पड़े अंगोछे से साफ करने लगा।

"अच्छा बसन्त! अब हमें तुम नीचे होटल से चाय ला दो।" पहाड़ी नौजवान ने मोटर से सामान उतारने में हमें बिना कहे पूरी सहायता की थी और अब मेरी पत्नी ने अगला काम उसे ऐसे कहा, जैसे जो कुछ वह कर रहा था उस सब की कीमत चुकाई जा सकती थी।

पहाड़ी नौजवान का मुंह लाल सुर्ख हो गया। उसके शरीर की कँपकँपी उसके मैले कुचैले गाढ़े के कपड़ों में से व्यक्त हुई, पर सहसा अपने आप को संयत करके यह कहता हुआ वह बाहर निकल गया, जी मैं नीचे होटल वाले से कहे देता हूं, उनका छोकरा चाय दे जायेगा।

जब हम चाय पी रहे थे तो भीगता सिकुड़ता बसन्त फिर आया। कितनी देर चुप चाप खड़ा रहा जैसे कोई बात कहना चाहता हो। होटल के नौकर ने बरतन इकट्ठे किए। दो रुपये प्रति व्यक्ति पैसे लिए, 'जय हिन्द' की और चला गया।

'क्यों भई तुम्हारा नाम बसन्तराम है या बसन्त लाल?' अभी तक उसे चुप खड़ा देखकर मैंने बात छेड़ी।

'जी मेरा नाम बसन्त...राम ही समझो' इस तरह रुककर उसने जवाब दिया जैसे क्षणमात्र के लिए अपने पूरे नाम का उसे निर्णय करना पड़ा हो।

फिर उसने हमें बताया कि होटलवाले ने चाय के पैसे हमसे आम भाव से दुगने लिए थे। हमें चाहिए था कि आगे से चीजें बसन्त राम की मार्फत मँगवाया करें। पुल बहुत बुरी तरह से टूट चुका था, साथ में 150 फुट सड़क भी बहा कर ले गया था। जहाँ पुल टूटा था, वह जगह कुद्द से एक मील आगे थी। पी डब्ल्यू डी वाले कहते थे कि सड़क बनाने में कमसे कम तीन दिन लगेंगे। अभी तो वर्षा हुए जा रही थी। इस तरह सितम्बर में पहले कभी वर्षा नहीं हुई थी। जब वर्षा

रुकेगी तो सौ डेढ सौ मज़दूर एक दम काम में लग जायेंगे। बसन्तराम के पड़ोस के कई लड़के काम के लिए बुलाये गए थे। इस तरह का काम सरकार ठेकेदार को नहीं देती। बसन्तराम के पास वह सारी बिल्डिंग ठेके पर थी, बस एक हमारे वाला कमरा उसने अपने मेहमानों के लिए रखा हुआ था, शेष सब कमरे कभी के किराये पर उठ चुके थे। सब ठेकेदारों में से सबसे बढ़िया काम बसन्त राम का था...।

"बसन्ते, ओ बसन्ते, बसन्ते ओ।" नीचे कोई आवाज़ें लगा रहा था। पर ऐसे लगा जैसे वह किसी और को बुला रहा हो। बसन्तराम वैसे का वैसा हमारे साथ बातों में लीन रहा।

"अच्छा तो यह मकान तुम्हारा अपना नहीं" मेरी पत्नी ने बसन्त राम से इधर-उधर की बातें जारी रखते हुए पूछा।

"जी नहीं, मैं तो ठेकेदार हूं" बसन्तराम ने एक झटके से जवाब दिया और फिर अपने आप ही बताना शुरू कर दिया कि उसका अपना मकान तो नीचे शहर के बाहर था। उसका अपना मकान तो इस मकान से कहीं बड़ा था। उस मकान में उसकी माँ रहती थी। अपने रहने के मकान को उसने कभी किराये पर नहीं चढ़ाया था। बसन्तराम की माँ परदा करती थी। अपने माँ-बाप का वह एकलौता बेटा था। उसका बाप मर चुका था।

"बसन्तराम तुम सिग्रेट पीते हो या बीड़ी?" कमरे में अब बीड़ी सिग्रेट के पड़े हुए टुकड़े मेरी पत्नी को दिखाई देने लग गए थे।

"नहीं जी, परमात्मा बचाये। मैंने कभी कोई बुरी आदत नहीं पाली" बसन्तराम ने मेरी पगड़ी और दाढ़ी की ओर देखते हुए कहा। फिर उसने हमें बताया कि वह जाति का ब्राह्मण है। उसकी माँ प्रति दिन नियम से पूजा-पाठ करती है और उसने घर में कभी तम्बाकू नहीं घुसने दिया।

नीचे सड़क के पार, टमाटरों का एक ढेर, पानी में भीग रहा था। कमरे में आते हुए हम सब की नज़र उस पर पड़ी। मैंने फिर उस पहाड़ी नौजवान से कुछ टमाटर लाने को कहा।

"टमाटरों का क्या है जी, टमाटरों का तो मेरा अपना ठेका है, चाहे आप मोटर भर कर ले जायें। यह भी कोई टमाटर हैं, मैं आपको अपनी दुकान से टमाटर लाकर दूँगा। पहले यहाँ टमाटर 2 रु० किलो बिकते थे, फिर एक रुपये किलो। मैं तो नीचे भेज देता हूँ। ठेले वाले ले जाते हैं और दुगना चौगना बना कर ले आते हैं। आपको कौन से टमाटर पसन्द हैं, गोल, लम्बूतरे या सेब-टमाटर..."

"बसन्ते, बसन्ते! अरे बसन्ते!" नीचे से फिर कोई पुकार रहा था। बसन्तराम उसी तरह बातों में व्यस्त रहा।

"बसन्ते! हम पुल पर जा रहे है। मुंशी जी बुलाकर चले गये हैं।" आवाज़ें अभी तक आ रही थीं।

बाहर वर्षा बन्द हो चुकी थी। बसन्तराम ने मेरी पत्नी को बच्चे के लिए एक अंडा लाकर देने का वचन दिया, अपने सामने गाय का ताजा दूध भी निकलवाकर पहुँचाने का वचन दिया। यह भी कहा कि खाने के समय वह स्वयं आकर हमारे खाने का प्रबन्ध करेगा। और भी कई सहूलियतों का वायदा करके वह चला गया।

शाम तक बसन्तराम ने अपने सब के सब वायदों को पूरा कर दिया। केवल अंडा गन्दा निकला, पर और अंडा सारे के सारे कुद्द में कहीं नहीं मिला था। सवेरे के रुके हुए यात्रियों ने खाने-पीने की हर अच्छी चीज खत्म कर डाली थी। बसन्तराम हमारे लिए जो टमाटर लाया उन्हें देखकर हमारे मुंह में पानी भर आया। लाल सुर्ख़ सेब जैसे मोटे, रस से भरे हुए।

अगले दिन वह पहाड़ी नौजवान सवेरे तड़के ही आ गया। उसके कपड़े धुले हुए थे। उसके सिर के बाल सँवरे हुए थे।

"क्या बात है बसन्तराम! तुम तो बहुत सवेरे उठते हो?" मेरी पत्नी ने उसे बरामदे में खड़े देख लिया था।

"ज़ी मैं बतोट जा रहा हूँ। वहाँ मेरा कुछ माल पड़ा है। मैंने सोचा उसे ठिकाने लगा आऊँ।" और फिर उसने हमारी चाय और खाने आदि का सारा प्रबन्ध हमें समझाया और कहा कि शाम को लौट कर बाकी सब प्रबन्ध वह स्वयं कर देगा।

हम सब बसन्तराम के बहुत आभारी थे। मेरी पत्नी को उसकी यह बात विशेष रूप से पसन्द आई कि उसने गन्दे अंडे के पैसे नहीं मांगे थे और न ही टमाटरों के दामों की बात छेड़ी थी।

"पहाड़िए कोई इतने बुरे नहीं होते।"

"यह और पहाड़ियों जैसा पहाड़िया नहीं।"

"खाते-पीते घर का कोई शरीफ लड़का मालूम होता है।"

"हमारे लिए तो जैसे देवता बन कर आकाश से उतरा हो।"

"छोटी-छोटी बात का इसे ध्यान रहता है।"

हम कितनी देर तक चाय पीते हुए बसन्त राम की सराहना करते रहे। जहाँ तक सम्भव होता वह स्वयं अपने हाथ से हमारा काम करता था। बाहर से जो कुछ भी मँगवाना होता, सस्ते दामों वह ले आता। हमारी हर छोटी-छोटी आवश्यकता का उसे ध्यान रहता। फिर सड़क के बारे में हमें बताता रहता। कितना काम हो चुका है, कितना काम होना है, पुल कब तक तैयार हो जायेगा। रेडियो से ख़बरें न आता और अपनी बुद्धि के अनुसार हमें आकर बता जाता।

जब अगले दिन शाम को बसन्तराम आया तो मेरी पत्नी ने बैठने के लिए उसे कुरसी दी। हम फल खा रहे थे। एक प्लेट में फल रखकर बसन्तराम को दिए गये। कितनी देर तक वह हमारे साथ बैठा हँस-हँस कर पहाड़ियों के रीति-रिवाज, स्वभाव और रहन-सहन के बारे में बातें करता रहा। बसन्तराम ने बताया कि अगले वर्ष उसका विवाह होना निश्चित हुआ है। उसके विवाह में कितना खर्च होगा। काश हम भी उसकी शादी में शामिल हो सकते। उसने वचन दिया कि हर महीने हमारी आवश्यकता के अनुसार वह हमें पहाड़ी घी भेजा करेगा। हमारे कहने पर सर्दियों में जालन्धर आकर, हमें मिलने के लिए भी तैयार हो गया। इस नये परिचित से मैं प्रसन्न था, मेरी पत्नी प्रसन्न थी।

अगले दिन सवेरे एक काला कलूटा लड़का हमारे आँगन में टहल रहा था।

क्यों साहब आपने कितना किराया इस कमरे का दिया है? मैंने जब उस लड़के की ओर देखा तो उसने मुझ से प्रश्न किया।

"तीस रुपये रोज़ पर! तुझे इससे क्या मतलब?"

"आपको किराया मुझे देना होगा।" लड़का दृढ़ता से बोला "बसन्ता तो कुली है, इस मकान का किराया मैं इकट्ठा करता हूं।"

हम हैरान थे।

"अच्छा जब बसन्त राम आयेगा तो हम उस से बात करेंगे।" उस लड़के को टालते हुए हमने कहा।

"बसन्त राम कौन है?" लड़के ने हैरान होकर हमसे पूछा।

"वही जिसने हमें यह कमरा दिया है।" हमारे इस जवाब पर वह काला कलूटा लड़का अपने दूध से सफेद दाँत निकालते हुए हँसा और चला गया।

शाम को जब पहाड़ी नौजवान आया तो हमने सारी बात उसे बताई। एक झुँझलाहट-सी उसके चेहरे पर आई और फिर उसने उस काले कलूटे लड़के को लाख लाख गालियाँ देनी शुरू कर दीं।

"जी बात यह है कि जो पहले ठेकेदार था, उसका यह नौकर था। ठेकेदार कबाइलियों के हमले के समय इसकी तनखाह मार कर भाग गया। अब यह मकान मेरे पास है। यह साला कालू अपनी तनखाह आजकल के किराये में से पूरी करना चाहता है। कहता है मैं कुली हूं। मैं साले का कचूमर निकाल दूंगा।"

उस शाम बसन्तराम ने हमारी और अधिक ख़ातिर की। हमें बाहर सैर के लिए ले गया। एक खेत में से हमें भुट्टे तोड़ दिए। एक पेड़ पर से मेरी पत्नी के लिए खट्टे अनार उतारे। रात को खाना बड़े चाव से हमें पास खड़े होकर खिलाया। हमारे लिए कहीं से तीन दिन पुराना अखबार ले आया। रात को गरम पानी मँगवा कर मेरी पत्नी ने कॉफ़ी तैयार की। हमारे साथ बैठ कर बसन्तराम काली-कड़वी कॉफ़ी पीता रहा मानो प्रतिदिन वह ऐसी कॉफ़ी पीता हो। मेरी पत्नी का उसे कॉफ़ी

देते हुए झिझकना मुझे व्यर्थ प्रतीत हुआ।

सड़क और दो दिन ठीक न हुई। जितने दिन हम वहाँ रहे वह काला कलूटा लड़का फिर हमें कभी मिलने न आया। उसकी सच्चाई में हमारा सन्देह यकीन में परिवर्तित हो गया।

"कोई बेईमान था।", मेरी पत्नी ने उसके बारे में बात करते हुए कहा।

"पहाड़िया कोई ही अच्छा होता है।" मैंने उसकी हाँ में हाँ मिलाते हुए कहा।

"देखो कैसे हमारे बसन्तराम को उसने ब्लैकमेल करन की कोशिश की?"

मैं और मेरी पत्नी कितनी देर तक इस बात पर हँसते रहे।

फिर मैंने अपनी पत्नी को प्रो. बुखारी की एक कहानी सुनाई। प्रायः रात को वह देर से घर आया करते थे। दफ्तर से ही उठ कर वह क्लब चले जाते। उनके बच्चे और पत्नी उन दिनों बाहर गये थे। एक दिन उनकी तबीयत ठीक नहीं थी। सर्दियों के दिन थे। दफ्तर से सीधे वह घर आये। गोल कमरे में उन्होंने देखा कि उनका नौकर उनका गरम सूट पहने, उनका एक सिगार सुलगाये, लात पर लात धरे, अंगीठी के पास सोफे पर बैठा आग ताप रहा है। प्रोफेसर साहब ने उसी नौकर के साथ बैठ कर उसी कमरे में उस शाम चाय पी और वह सूट और सिगारों का वह डिब्बा उसे बखशीश देकर रात को उसे नौकरी से अलग कर दिया।

इतने में खबर आई कि पुल ठीक हो गया है, पर बसन्तराम की राय थी कि हमें एक रात ठहर जाना चाहिए ताकि सड़क की छोटी मोटी खराबियां दूसरे लारियों वाले, ट्रकों वाले ठीक कर लें। हमने बसन्तराम की बात मान ली। उसे एक दिन के किराये का क्या लालच हो सकता था। बसन्त राम जैसे ठेकेदार को इस तरह की छोटी बातों का क्यों ध्यान होने लगा था।

उस रात भी आधी रात तक हम बसन्तराम से बातें करते रहे।

मेरी पत्नी बार बार ठेकेदारी के पेशे की श्लाघा करती और नौकरी के पेशे की निन्दा करती। ठेकेदारी में बस किस्मत अच्छी होनी चाहिए और मेरी पत्नी बसन्तराम का हाथ देखने लगी। पहले उसने एक हाथ देखा फिर दूसरा। बसन्तराम के हाथों में गड्ढे पड़े हुए थे जैसे सारी आयु कोई कुदाल चलाता रहा हो। गड्ढे भी कोई पुराने नहीं थें। अभी भी जैसे उसके हाथ लाल हो रहे हों।

हमने लेकिन इस पर कोई ध्यान न दिया। मेरी पत्नी ने सोचा कि शायद उसे कोई बीमारी है।

अगले दिन सवेरे मुँह-अंधेरे ही हमें चले जाना था। तय यह हुआ कि बसन्तराम बहुत पहले आकर सारा प्रबन्ध कर देगा।

अभी अंधेरा ही था कि वह आ गया। नरेन्द्रपाल सिंह हमारे ड्राइवर और बसन्तराम दोनों ने मिल कर हमारा सामान बांधा। दिन-चढ़े, सामान मोटर में रखा

जाने लगा। बसन्त राम सामान नीचे ले जा रहा था और ड्राइवर तरतीब से उसे बांध रहा था। अचानक हमारी दृष्टि सामने एक बुढ़िया पर पड़ी। लोग उसे घेरे हुए हँस रहे थे। "नौकर हो कर जा रहा है।" बार-बार लोग उसे समझाते। "मोटर में बैठ कर चला जायेगा। उस सरदार के साथ जा रहा है।" बुढ़िया उनकी हर बात को सुन रही थी, साथ-साथ यह भी कह रही थी, "यह कहाँ जा रहा है?"

"यह कहां जा रहा है?" की रट लगाती वह बुढ़िया लोगों के जमघट से निकल कर आगे बढ़ी। पतली-लम्बी एक पहाड़िन, पांव से नंगी, सिर की मैली लटों को एक फटी चादर से ढके, मैला-कुचैला छलनी-सा कुरता, कीचट जैसा चूड़ीदार पाजामा पहने यह कहाँ जा रहा है, यह कहाँ जा रहा है, कहती वह मोटर की ओर आ रही थी। उसके एक हाथ की उंगली में सिग्रेट जल रहा था जिसके कभी कभी वह इस तरह कश लगाती जैसे पुराना नशा करने वाला कोई हो। मोटर के पास खड़े हमने वसन्त राम से पूछा, "यह कौन है? क्या कहती है?" वसन्तराम ने जैसे हमारी बात सुनी ही नहीं। फिर हमने दूर खड़े एक पहाड़िए से उस बुढ़िया के बारे में पूछा।

जी यह बसन्ते, आपके कुली की माँ है। बेचारी पागल है। इन लोगों ने इसे कह दिया है कि बसन्ता आपके साथ नौकर होकर जा रहा है। यहाँ होता है तो मेहनत मज़दूरी करके माँ-बेटा गुज़ारा कर लेते हैं।

यह पुल टूट गया था तो बसन्ते ने कुछ पैसे कमा लिए हैं। ऐसा काम यहाँ निकलता ही रहता है..."

वह पहाड़िया कितनी ही बातें वसन्तराम के बारे में बता गया। मोटर में सामान लाकर जमाता बसन्त, सब कुछ सुन रहा था।

फिर जब ऊपर कमरे में सामान लेने के लिए गया तब बसन्ते ने बरामदे में खड़े होकर नीचे अपनी माँ की ओर देखा जैसे वह आँखों ही आँखों में उसे खा जायेगा, भस्म कर डालेगा। जैसे उसकी माँ वह दुर्दैव हो जिसने एक पल में बसन्तराम ठेकेदार को बसन्ता कुली बना दिया था।

इस बार जब वह नीचे आया, बसन्ते ने कुलियों की तरह सामान को पीठ पर लादा हुआ था। एक ही फेरे में सब छोटा-मोटा सामान वह बांध लाया था।

"यह कहाँ जा रहा है? यह कहाँ जा रहा है?" मोटर से दस कदम की दूरी पर खड़ी पागल बुढ़िया बोले जा रही थी।

बसन्ते ने न उसकी ओर ध्यान दिया न उसकी ओर दृष्टि उठा कर देखा। अन्त में जब सारा सामान बंध गया। मेरी पत्नी ने कमरे का किराया गिन कर उसके हाथों पर रखा! किराये के पैसे लेकर उसके मुँह पर साधारण कुलियों जैसा असन्तोष सा झलका। 'साहब कोई बखशीश।' वह बोला।

मेरी पत्नी ने दस रुपये उसे और दिए। ड्राइवर ने मोटर चालू की। इतने में दौड़ कर बसन्ता आगे बढ़ा, "और मेम साहब उस अंडे के पैसे?" उसने गंदे अंडे के पैसे मांगे।

मेरी पत्नी ने दो रुपये और उसे दिए।

'और मेम साहब वह जो टमाटर मैं लाया था?'

मेरी पत्नी ने और दो रुपये दिए।

'नहीं मेमसाहब चार रुपये होने चाहिएँ।' उस ने आम कुलियों की तरह झगड़ा किया।

मोटर चल चुकी थी। मेरी पत्नी ने एक नोट और बाहर फेंका।

कुद्द से निकल कर कितनी देर मैं और मेरी पत्नी चुप रहे।

जब नया पुल हम पार कर रहे थे तो मेरी पत्नी कहने लगी, 'प्रो. बुख़ारी की बाकी कहानी तो शायद ठीक होगी, पर बैरे के साथ चाय पीने वाली बात गढ़ी हुई मालूम होती है।'

मैंने कहा कि प्रोफेसर बुखारी जैसे विनोदी मनुष्य ने ज़रूर वैसे ही किया होगा जैसा कि कहा जाता है।

फिर हम अपने बच्चे में खो गए।

मेरी धूप की ऐनक पहन कर अपनी मां से वह कह रहा था, 'अम्मी। मैं डैडी, अम्मी! मैं डैडी!'...

एक शराफत का सदका

जितने मुँह उतनी बात।

जब से वह इस दफ़्तर में आई थी, किरण की कहानियां चल निकली थीं। कभी कोई शोशा, कभी कोई। किसी की सगाई टूट गई क्योंकि उसके ससुरालवालों को किसी ने जा बताया कि वह किरण नाम की लड़की के साथ, हर चौथे रोज़, सिनेमा देखने चल देता है। किसी की पत्नी उसे छोड़कर मायके चल दी क्योंकि उसने किरण के साथ उठना-बैठना शुरू कर दिया था। उसके एक साथी कर्मचारी ने नींद की गोलियां खा कर आत्महत्या करने की कोशिश की, मुश्किल से उसकी जान बची थी। कारण, किरण से उसकी कोई गलत-फहमी हो गई थी। एक अफसर की तबदीली कर दी गई क्योंकि वह किरण पर लट्टू था। एक अफसर का ओहदा घटा दिया गया; उसके साथियों ने देखा, किरण उसकी मेज़ पर बैठी उसे कोई फाइल दिखा रही थी।

अगर कोई अभी तक नहीं डोला था तो वह किरण का अपना अफसर था। और सब एक-एक करके ढेर हो गये थे। कुछ फंस गये थे, कुछ फँसने वाले थे। बस, एक उसका तुरन्त-ऊपर का अफसर था, जो अभी तक अचल था, जैसे बर्फ की शिला हो। कंवल मोहन चट्टान की तरह था।

किरण थी, जैसे उसने ज़िद पकड़ ली हो। जीवन में उसने कभी हार नहीं मानी थी। एक हसीन औरत की ज़िद। सुन्दर भी तो कितनी थी। हसीन, और जहाँ चाहे पहुँच सकती है, जो चाहे पा सकती है। कोई सोच नहीं सकता था कि यह नौकरी उसे मिल सकेगी, लेकिन किरण ने जब अपना मन बना लिया तो फिर नौकरी उसके कदमों में थी। एक सिफारिश, दूसरी सिफारिश, तीसरी सिफारिश, और महकमे वालों के लिए इनकार करना मुश्किल हो गया। उसके यहाँ खास-तौर पर किसी को भेज कर उसे बुलवाया गया। झूठ-सच इंटरव्यू किया गया और फिर उसे सीधी राजपत्रित नौकरी पेश कर दी गई।

बड़ा शोर मचा। लेकिन कौन सरकार के साथ माथा टकराये? फिर किरण इतनी मिलनसार, इतने अच्छे स्वभाव की थी, एक बार उससे मिल कर किसी के लिए उसके विरूद्ध बोलना कठिन हो जाता। जहाँ बैठती खुशियाँ लुटाती रहती, जहाँ से गुज़रती मुसकानें बिखेरती रहती।

और फिर काम में भी निपुण। जो भी ज़िम्मेदारी उसे सौंपी जाती उसे किरण

पूरी मुस्तैदी के साथ निभाती। कभी किसी को शिकायत का अवसर न देती। जैसी उजली-उजली वह रहती थी, वैसा ही साफ-सुथरा उसका काम होता था। समय की पाबन्द। कभी देर से दफ़्तर न आती। कभी वक्त से पहले खिसकने की कोशिश न करती, जैसे दूसरी लड़कियाँ किया करती थीं, और न ही दूसरी औरतों की तरह वह बेहूदा तरीके से सज कर काम पर आती। लिपस्टिक के लेप और मुट्ठी-मुट्ठी भर काजल। गहरे-गिरेबान की चोलियाँ, ऊंचे कुरते, अंगों की नुमाइश ज्यादा, उनका ढकना कम।

किरण के आकार को पटड़ेवाले सैंडलों की जरूरत नहीं थी, जैसे कोई चबूतरे पर पंजों के बल खड़ा हो। किरण के रंग-रूप को किसी पाउडर की अपेक्षा नहीं, कोई लाली दरकार नहीं थी। उसके रेशम के लच्छों जैसे सुनहरी बाल, जैसा भी जूड़ा बनाती, हर किसी को मोह लेती। बालों में फूल ज़रूर लगाती थी। कभी अनखिली कली, कभी अधखिली, कभी खिली हुई कली।

सलवार-कमीज, साड़ी, स्लैक, जो लिबास पहनती, वही उस पर खिलता। जैसे कोई तसवीर हो। जहां बैठती, वही जगह अच्छी-अच्छी लगने लगती।

सबसे हसीन किरण की आँखें थी। जैसे मुस्करा रही हो। एक सोया-सोया-सा खुमार जैसे-जैसे वह पलकें खोलती कई खामोश नगमें, आस-पास मचलने लगते।

लेकिन कंवल मोहन पर इसका कोई जादू नहीं चला। कभी उसने इसके साथ कोई फालतू बात नहीं की। कई-कई दिन बीत जाते और उनकी मुलाकात न होती। किरण फाइल भेजती, इससे पहले कि उसे याद दिलाने की जरूरत पड़ती, फैसला उसकी मेज़ पर आ जाता। आते-जाते बरामदे या गैलरी में कभी भेंट हो जाती। कंवल मोहन किरण के हाथ जोड़ने से पहले अपने हाथ जोड़ देता और आगे निकल जाता। जब कभी किरण को उसके कमरे में जाने की जरूरत पड़ी, मतलब की बात करके, कंवल मोहन अपने काम में लग जाता। कभी टेलीफोन कर रहा होता, कभी टेलीफोन सुन रहा होता, कभी चिट्ठियाँ लिखवा रहा होता, कभी मुलाकातियों को निपटा रहा होता, किरण ने एक बार उसे चाय पर बुलाया, वह फारिग नहीं था। किरण ने एक बार चार हफ्ते की छुट्टी माँगी। दफ़्तर में ढेरों काम पड़ा था, कंवल मोहन ने एक बार भी उसे बुलाकर नहीं कहा कि वह छुट्टी फिर कभी ले ले या छुट्टी कम कर दे, इधर से अर्ज़ी गई उधर उसने मंज़ूर कर दी। किरण हक्की-बक्की रह गई। उसने तो जान-बूझकर, बढ़ा-चढ़ाकर छुट्टी माँगी थी। इतने दिन वह घर बैठकर क्या करेगी? कंवल मोहन के पास कोई मामला जाता, दूध का दूध और पानी का पानी, दो-टूक फैसला दे देता। कोई लाग-लपेट नहीं।

उसके दफ़्तर वालों को असलियत का पता चल गया। इतने बड़े खाते-पीते घर की बहू-बेटी किरण को नौकरी की क्यों ज़रूरत पड़ी थी? उसकी अपने घरवाले से अनबन हो गई थी। दो, उसके छोटे-छोटे बच्चे थे। किरण कहती, मैं किसी के

मुँह की ओर नहीं देखूँगी, मैं किसी के सामने हाथ नहीं फैलाऊँगी, किसी न किसी तरह अपने बच्चों का पालन पोषण खुद ही करूँगी।

प्रायः कार में आती। इतनी बड़ी कोठी में से निकलते ही, कोई न कोई पड़ोसी उसे लिफ्ट दे देता और दफ्तर के गेट के बाहर उतार जाता।

लेकिन वह लौटती कैसे थी?

एक दिन दफ्तर से छुट्टी के बाद कंवल मोहन ने देखा कि किरण फाटक से निकाल कर यूँ कदम रख रही थी, जैसे पैदल चलना किसी को आता ही न हो। आगे-पीछे कोई सवारी नज़र नहीं आ रही थी। अचानक कंवल मोहन की मोटर रुक गई और उसने किरण को अपने साथ बिठा लिया। किरण को जैसे अपनी आँखों पर विश्वास न हो रहा हो। कितनी देर किरण से यह भी न बताया गया कि उसे कहाँ उतरना है? फिर जब उसके होंठ हिले, घबराहट में उसके मुँह में जो कुछ आया उसने बक दिया और कंवल मोहन उसे गलत स्थान पर उतार कर चला गया। मोटर में बैठे हुए, सारा समय कंवल मोहन बोलता रहा। मौसम के बारे में, दिल्ली शहर के यातायात के बारे में, महँगाई के बारे में, दैनिक उपयोग की वस्तुओं की कमी के बारे में।

फिर प्रायः यूँ होता, दफ्तर छूटने पर जब कभी किरण उसे नज़र आ जाती, कंवल मोहन उसे मोटर में बिठा कर, जहां भी वह चाहती उसे उतार जाता। इतनी कोमल, इतनी छुई-मुई वह लगती थी कि ऐसा प्रतीत होता कि सड़क पर चलते हुए वह मैली हो जायेगी। फिर जब से उसने उसके पति के साथ उसकी गलत-फहमी का सुना था, कंवल मोहन को किरण पर एक तरस-सा आने लगा था, खास-तौर पर जब वह उसे फाइलों का पुलिंदा उठाये हुए, एक कमरे से दूसरे की ओर जाते हुए देखता।

कुछ दिनों बाद, कंवल मोहन को यूँ लगता, जैसे किरण के लिए उसके दिल में एक उन्स सी पैदा हो रही हो। लेकिन किरण तो उसकी मातहत थी। अफसर और मातहत का रिश्ता। वह अपने आपको और सिकोड़ लेता और मोहतात हो जाता। बिन मतलब कोई बात न करता। जब मुँह खोलता, नपी-तुली बात करके ख़ामोश हो जाता।

कंवल मोहन की यही अदा तो किरण को खास-तौर पर पसन्द थी। जैसे कोई बाड़ के उस ओर खड़ा हो। किरण का जी चाहता कभी वह फलांग कर उस-पार जा पहुँचे।

लेकिन यह मंज़िल कितनी दूर थी। कभी-कभी किरण को लगता, जैसे चलते-चलते उसके टख़ने जवाब दे जायेंगे। जैसे-जैसे कंवल मोहन उसे अच्छा लगने लगा, सारी दुनिया पीछे छूटती जा रही थी। बहन-भाई, दोस्त-रिश्तेदार, दफ्तर में काम करने वाले साथी। हर रोज़ सुबह-सुबह, कंवल मोहन का मुँह देखने के लिए

किरण पलकें खोलती। हर रोज़ कंवल मोहन को अच्छा लगने के लिए सजती। हर राह उसे, कंवल मोहन की ओर ले जा रही महसूस होती।

लेकिन कंवल मोहन तो कहीं भी नहीं था। किरण की दुनिया एक हुजरे की तरह खाली-खाली थी।

एक बार छुट्टी के दिन किसी ज़रूरी काम से कंवल मोहन को दफ्तर आना पड़ा। उसके अमले में किरण के अलावा किसी और के यहां टेलीफोन नहीं था। उसने उसे मदद के लिए बुला लिया। सारा दिन वे फाइलें देखते रहे, ब्योरा तैयार करते रहे, कंवल मोहन लिखता रहा और वह टाइप करती रही। शाम हो गई, रात पड़ गई। अच्छा-खासा अंधेरा हो गया और कंवल मोहन थकी-मांदी किरण को उसके घर उतार कर चला गया।

एक दिन छुट्टी के बाद किरण को अपनी मोटर में बिठाये जब वह छोड़ने जा रहा था कि एकदम बारिश होने लगी। आँधी और तूफान। एकदम जैसे घड़ों पानी पड़ने लगा हो। आंधी उड़ा-उड़ा कर फेंकती। सड़क पर कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। पेड़ टूट-टूटकर औंधे गिर रहे थे। कंवल मोहन ने अपनी मोटर सड़क के एक किनारे रोक दी। बारिश भी कहे जैसे आज ही आज है। तूफान भी कहे जैसे आज ही आज है। कितनी देर वे यूँ मोटर में बंद बैठे रहे। किरण कभी हँसने लगती, कभी उसे डर लगने लगता। बिजली कैसे चमकती थी। बादल कैसे गरजते थे। कंवल मोहन वैसे का वैसा बैठा रहा। जब तूफान थम गया, वह किरण को उसके घर पहुँचा कर चल दिया। वह उसको धन्यवाद तक न दे पाई।

एक बार किरण से अपने काम में कोई भूल हो गई। भूल गंभीर थी। जो भी सुनता उसे किरण पर तरस आता। इस तरह की गलती पर तो चाहे उसे नौकरी से भी अलग कर दिया जाये। कम-से-कम तरक्की तो ज़रूर रुक जायेगी। हो सकता था कि उसे उसके पद से नीचे उतार दिया जाये । जो कोई उससे मिलता, हाथ मलने लगता। उसके साथ काम करने वाले कर्मचारियों के चेहरे उतरे हुए थे।

फाइल कंवल मोहन के पास गई हुई थी। पता नहीं क्या कहर ढहने वाला था? कंवल मोहन का गुस्सा बुरा। फाइल बाहर आई। सारे अमले की ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की नीचे थी। दौड़कर एक अफसर ने फाइल को चपरासी से लिया और फिर सबके चेहरे खिल गये। फाइल पर कंवल मोहन ने लिखा था-इस तरह की गलती कभी हो जाती है। इस मामले को यहीं खत्म कर दिया जाये।

मेहरबान था, उदार था, लेकिन कंवल मोहन उस से कोसों दूर था। कभी-कभी किरण को यूँ लगता जैसे उसकी मंज़िल का कोई ठौर-ठिकाना न हो। जब उसे यह महसूस होता, अपनी ज़िंदगी उसे फीकी-फीकी सी लगने लगती-जैसे कोई हारा हुआ खिलाड़ी हो। न उसे खाना अच्छा लगता न पीना। एक हसीन औरत की ज़िद।

इसी भटकन में वह थी कि किरण की अपनी पति से सुलह-सफाई हो गई।

ग़लत-फ़हमी थी, दूर तो उसे होना ही था; लेकिन इस बार समय कुछ ज़्यादा लग गया था। कई महीने बीत गये थे। एक बार उसकी अपने पति से अनबन दूर हो गई तो किरण को नौकरी करने की कोई ज़रूरत नहीं रही। लाखों का, उसके घरवाले का व्यापार था। किरण के वेतन के बराबर तो कई कर्मचारी उसकी फर्म में काम करते थे। पहले किरण ने छुट्टी ली, लम्बी छुट्टी। फिर त्यागपत्र दे दिया।

अपने बच्चों की ज़िम्मेदार माँ, अपने पति की चहेती पत्नी, अपने घरवालों की सुशील बहू-बेटी, किरण हर समय हँसती रहती, खेलती रहती। उठते-बैठते मुसकानें बिखेरती रहती। छोटा-बड़ा हर कोई उसे यूँ सिर पर उठाये रहता, जैसे कभी कुछ हुआ ही न हो।

किरण जब अपने दिल के आईने में देखती, उसका अंग-अंग कंवल मोहन के लिए कृतज्ञता से ओतप्रोत हो जाता। जैसे उसके अंतःकरण की किसी तह में एक शिवालय ढका पड़ा हो। एक नया पूजा-गृह। ज़िंदगी के अंधेरे-से अंधेरे पड़ाव पर वह एक नज़र अन्दर झाँक कर देख लेती और किरण की राह रोशन हो जाती। उसका अंग-अंग विभोर हो उठता।

एक शराफत का सदका, किरण ने फिर कभी हालात से हार नहीं खाई। ज़िंदगी फिर कभी उसे पछाड़ नहीं सकी।

जैसा जैसा सिर, वैसा वैसा सिरदर्द

'अरे कमबख्त लब्भू। तू सारी उम्र गधे का गधा ही रहा।' बाबू लब्भू राम ने कुर्सी से उठकर सुराही का पानी पिया और फिर खाली गिलास सुराही पर औंधा रखते हुए अपने आपसे कहा। जैसे किसी ने कड़वा ज़हर उगला हो, पूरे के पूरे कमरे में एक बू सी फैल गई।

उनके दफ्तर के अमले ने फैसला किया था, अफसरों को पानी पिलाना चपरासियों का काम नहीं। जिस किसी को ज़रूरत हो वह आप उठकर पानी पी ले। चपरासी केवल सरकारी काम करेंगे। अस्थायी रूप में रखा गया एक चपरासी, सुबह सुराहियाँ भर देता, वह भी इसलिए कि उसके मन में ईश्वर का भय था। सारा दिन यार-लोग, चाहे कोई बड़ा अफसर हो, चाहे छोटा अफसर, ज़रूरत पड़ने पर आप गिलास भरते और पानी पी लेते।

एक अजीब हवा चल रही थी। बाबू लब्भू राम दस बार सोचता और फिर अपने मातहत से काम करने को कहता। प्रायः आगे से टका-सा जवाब मिलता। अगर कोई फ़ाइल जल्दी निपटानी होती, नीचे काम करने वाले हमेशा कहते, "अफसर लोग आप तो कागज़ दबाकर हफ्ता-हफ्ता बैठे रहते हैं, ऊपर से क्लर्क के पास फाइल आई तो उन्हें जल्दी मच जाती है। अफसरों को पूछने वाला कोई नहीं।" जब कभी उसको दफ्तर आने में देर हो जाती, उसके मातहत इस तरह उसकी ओर घूर कर देखते कि धरती जगह दे तो लब्भूराम उसमें समा जाये। जैसे कोई नज़रों हो नज़रों से आरोप लगा रहा हो। कई तो उसको सुनाकर एक दूसरे से कहते – भई, साहब आ गये हैं, डाक कब से आई पड़ी है, अन्दर भेज दो। फिर चपरासी डाक भीतर ले आता। शरारत भरे लहज़े में कहता- "साहब, आज फिर आपका स्कूटर..."

"खराब हो गया।" बाबू लब्भूराम वाक्य पूरा करता और अपने काम में व्यस्त हो जाता।

कुछ देर बाद उसको सुनाइ देता – "साहब का स्कूटर आज फिर बिगड़ गया था।" चपरासी बाकी लोगों को बता रहा होता। अपने कैबिन में बैठे हुए उसको लगता बाकी अमला जैसे सामने से मुस्करा रहा है। जैसे उन सबको मालूम हो, दफ्तर जाने से पहले बाबू जी अपने बेटे-बेटी को स्कूल पहुँचाते थे। इस तरह प्रायः बाबूजी को दफ्तर पहुँचने में देर हो जाती थी।

बाबू लब्भूराम को याद आ रहा था, सारी उम्र वह अपने अफसर के बच्चों को स्कूल पहुँचाता रहा था। घर से साइकिल पर अफसर की कोठी पर पहुँचता। एक एक करके तीन बच्चों को उनके स्कूल पहुंचाता। शाम को फिर उनको स्कूल से घर लाता। छोटी-मोटी क्लास में पढ़ रहे बच्चों को वह होम-वर्क भी करवाता था। फिर अफसर की बीवी को कोई न कोई फरमाइश भी धरी रहती। सारे काम निपटाकर अपने घर पहुँचते-पहुँचते उसको रात हो जाती थी।

अफसर का डर, तोबा तोबा। उधर अफसर की घंटी बजती, इधर लब्भूराम अपनी पगड़ी को संभालने लगता। पाँव में चप्पल अटका लेता। ऐसी उसकी आदत थी, काम करते समय चप्पल पाँव से उतार देता था, चाहे गर्मियाँ हो चाहे सर्दियाँ। नंगे पाँव रहना उसको अच्छा लगता था। सारी उम्र उसने नंगे पाँव काटी थी।

आजकल दस बार घंटी बजाने पर एक बार चपरासी आता था। सारा दिन अफसरों की घंटियाँ बजती रहतीं, घंटियाँ सुन रहे चपरासी लापरवाही से सामने बैठे रहते। कभी कोई गप सुनने में तल्लीन होता तो कभी बीड़ी खत्म होने के इंतज़ार में।

बाबू लब्भूराम को याद आता, मजाल है उन दिनों में कोई मातहत, दफ्तर में बीड़ी पी सके। बड़े बाबू की नाक इतनी तेज़ थी, बाथरूम तक में जाकर बीड़ी पीने वाले को पकड़ लेता और वहीं खड़े खड़े उसकी इज्ज़त उतार देता। स्वयं लब्भूराम ने पगड़ी बांधना शुरू कर दिया था, क्योंकि अफसर के पास नंगे सिर जाना बदतमीजी थी और टोपी महँगी पड़ती थी। हर चौथे दिन मैली हो जाती। मैली टोपी साहब को बुरी लगती थी।

आजकल उसका चपरासी कलमें बढ़ा रहा था। लम्बे बाल, जैसे फिल्म स्टार हो। सप्ताह में एक बार अवश्य उसको सिनेमा देखने के लिए छुट्टी चाहिए। भले मानस, अगर तुझे सिनेमा जरूर देखना है तो दफ्तर बंद हो जाने के बाद जा। नहीं, वह तो मैटिनी शो ही देखता था। साथ-साथ काम, साथ-साथ मनोरंजन। अगर मनोरंजन नहीं होगा तो काम कौन करेगा। हमेशा यही दलील देता और सामने वाले को लाजवाब कर देता। जिस दिन सिनेमा जाना होता, उस रोज़ इस तरह सजकर आता कि बाबू लब्भूराम को उसे काम बताते हुए घबराहट होती, बेचारे के हाथ मैले हो जायेंगे।

एक दिन बाबू लब्भूराम को दौरे पर जाना था। उसने अपने चपरासी को रेल का टिकट लेने को भेजा। सुबह का गया हुआ शाम को छुट्टी के समय लौटा। आते ही उसने बड़बड़ाना शुरू कर दिया – क्यू इतना लम्बा था, खड़े खड़े टाँगे दुखने लग गईं। फिर टिकट बाबू जी के सामने रखा। बाकी पैसों में से स्कूटर का आने-जाने का किराया वसूल कर लिया। बाबू लब्भूराम उसके मुँह की ओर देखता रह गया, मजाल नहीं कि सामने से बोल सके।

उस दिन के बाद जब भी चपरासी को किसी काम पर भेजना होता, इस डर के मारे कि फिर उसकी जान न उधड़े बाबू लब्भूराम पहले से आगाह कर देता, फलाँ फलाँ बस पकड़ लेना। कुछ दिन बाद बाबू जी ने सोचा, क्यों न चपरासी को साइकिल पर भेजना शुरू करें। बहुत दिन नहीं बीते थे कि चपरासी ने हिसाब की एक चिट बाबूजी के सामने ला रखी। जहाँ-जहाँ वह साइकिल पर जाता था, वहाँ-वहाँ साइकिल रखने का टैक्स वह भरता था। अब तक पूरे पाँच रुपये हो गये थे। कई बार एक काम के लिए चार बार जाना होता तो चार बार ही साइकिल स्टैंड पर पैसे देने पड़ते। बाबू लब्भूराम ने देखा तो उसे चारों कपड़े आग लग गई।

उसे याद आया, अपने अफसर के काम के लिए वह हमेशा अपनी निजी साइकिल इस्तेमाल करता था। दस दुकानें पूछ कर उनके लिए सौदा-सुल्फ खरीदता था। जिस कीमत पर वे कोई चीज़ खरीदते, उससे आधे पैसों में वही चीज़ उनके सामने ला रखता। वे देख-देख कर हैरान होते। एक बार लब्भूराम की बाज़ार में जेब कट गई। उसने अफसर को थोड़े ही जाकर बताया था? किसी भी तरह मुश्किल काटकर उसने सब पैसे भर दिए। बार-बार अपने आपसे कहता, "दोष मेरा अपना है, उनको यह जुर्माना क्यों पड़े?" हमेशा यही चिन्ता कि क्या किया जाये जो अफसर खुश रहे।

अब तो उसको यही चिन्ता रहती थी, कहीं उसके मातहत न ख़फा हो जायें। कई बार हस्ताक्षर करते समय उसे कोई नई बात सूझ जाती - एक से दूसरी बार कोई चिट्ठी टाइप करवानी होती - पर वह टाल जाता, मातहत कहीं बदतमीज़ी न कर बैठे। "साहब, आप पहले सोचकर डिक्टेशन दिया करें।" एक बार उसके स्टेनों ने कहा था और उसके कानों में से धुआँ निकलने लगा था। जैसे उसके मुँह पर किसी ने थप्पड़ दे मारा हो। इसको ऐसा लगा जैसे एक बार उसके अफसर ने टाइप की हुई चिट्ठी में एक गलती निकाली थी। केवल एक गलती पर उसने लाल स्याही से क्रॉस लगाकर चिट्ठी इसके मुँह पर दे मारी थी। उस दिन के बाद टाइप की हुई चिट्ठी अपने अफसर के सामने रखने से पहले बाबू लब्भूराम किसी न किसी को दिखाकर तसल्ली कर लेता था। इस तरह कभी इसे किसी को चाय पिलानी पड़ती, कभी किसी को पान खिलाना पड़ता।

अब बाबू लब्भूराम के सामने दस्तखत के लिए एक चिट्ठी पड़ी थी। चिट्ठी तीन पार्टियों को जानी थी। कायदे की बात यह थी कि चिट्ठी को तीन बार टाइप किया जाता। लब्भूराम ने चिट्ठी लिखवाते हुए खासतौर पर इस बात के लिए सावधान किया था। कार्बन-कापी किसी को भेजना, एक तरह से उसका निरादर करना है। जिन पार्टियों को ये चिट्ठियाँ जा रही थीं, बहुत ही ऊंचे क़िस्म की थी। पूरी बाद-दोपहर उसके स्टेनों ने बस एक ही चिट्ठी टाइप की थी और अब दफ्तर बंद होने से आधा घंटा पहले उसके मेज़ पर ला रखी थी। बाबू लब्भूराम सोचता, अगर यह उसे चिट्ठी

दोबारा टाइप करने के लिए कहेगा तो वह अवश्य ओवरटाइम मांगेगा। ओवर-टाइम की इजाज़त के लिए डायरेक्टर के पास जाना पड़ेगा। उसको वह क्या जवाब देगा, दफ्तर के वक्त में काम क्यों नहीं हो सका। सोच-सोच कर बाबू लब्भूराम ने फैसला किया, जब उसके मातहत छुट्टी करके चले जायेंगे, वह स्वयं चिट्ठी टाईप कर लेगा। कौन मुँह लगाये स्टेनों को? क्या पता कोई बदतमीज़ी ही कर बैठे।

बाबू लब्भूराम अपने कैबिन में बैठा इंतज़ार करने लगा। कब छुट्टी हो, कब लोग जायें, और वह खुद आप चिट्ठियाँ टाइप करे। आप ही उनको लिफाफों में बंद करे। आप ही रजिस्टर में दर्ज करे। डाक में डालना कोई मुश्किल नहीं था, डाकखाना उसके रास्ते में था।

बैठे-बैठे लब्भूराम को याद आया, ऐसा वह प्रायः किया करता था, जब यह स्वयं स्टेनो होता था। काम खत्म करने के लिए वह दफ्तर में रुक जाया करता था ताकि अफसर खुश रहे। अब उसे यह चिन्ता रहती थी, कहीं मातहत ख़फ़ा न हो जायें।

ओवर-टाइम

हवा बहुत तेज़ थी। जैसे फुँकार रही हो। कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। रात के ग्यारह बजे थे। चारों ओर लोग सो चुके थे। उसने सोचा, स्टाफकार नहीं आयेगी। कहाँ तो दफ्तर था और कहाँ उसका घर? फिर उसे जाना भी फरीदाबाद था। कोई पंद्रह कोस का सफ़र। उसका जाना ज़रूरी था। सरकारी प्रैस में एक रिपोर्ट छप रही थी, जिसे देख कर उसे प्रिंट-आर्डर देना था। उसने सोचा, आज रात मुझे अपनी गाड़ी में जाना पड़ेगा। रात को इतना फासला, आप मोटर चलाना उसे ज़हर लगता था। पर ऐसे लग रहा था कि और कोई चारा भी नहीं। उसका काम था, उसे ही करना होगा। स्वर्ग जाना है तो मरना भी पड़ेगा।

पर नहीं, अभी वह नकटाई की गाँठ ही लगा रहा था कि बाहर स्टाफकार का हार्न बजा। ड्राइवर हाज़िर था। अब आगे उसकी इच्छा, जब भी चले। ड्राइवर ने मोटर एक ओर लगा कर, आँखें मूंद लीं। अब चाहे कोई रात भर न आये। उसने अपना फर्ज़ पूरा कर दिया था। जिस मिनट से उसने मोटर में पाँव रखा था, उसका ओवर-टाइम शुरू हो गया था। एक तो रात और उस पर छुट्टी का दिन। सुच्चासिंह सोचता, मेंह-पानी का भत्ता और मिलना चाहिए और एक दम उसकी बाँछें खिल गई। इस बात की ओर तो कभी किसी का ध्यान ही नहीं गया था। अब इस माँग को लेकर एजीटेशन करनी होगी। पिछली मीटिंग में किसी को कोई नया मसला नहीं सूझा था। सोच-सोच कर मीटिंग बरख़ास्त करनी पड़ी थी। सरकार ने अपने नये फैसले में अमले की सभी माँगें पूरी कर दी थीं, कोई माँग नहीं छोड़ी थी।

पर यूनियन का काम तो चलना था। सुच्चासिंह की लीडरी तो क़ायम रहनी थी। इस सरकार का क्या ठिकाना, कल कोई नया शोशा छोड़ दे। नौकरशाही की गरदन दबा कर ही रखनी चाहिए। स्वयं पंडित नेहरू ने कहा था, आज़ादी की कीमत-आठों पहर आदमी को चौकन्ना रहकर अदा करनी पड़ती है। नेहरू की बात और थी। उसके सामने किसी की मजाल नहीं थी जो आँख भी उठा सके। चाहे कोई तीस मार-खाँ क्यों न हों। बादशाह आदमी था। फिर सुच्चासिंह की आँखों के सामने बांग्ला देश की आज़ादी की जंग के दृश्य घूमने लगे, पाकिस्तान से हुई लड़ाई में, भारतीय फौज ने जो जौहर दिखाये थे उनके चित्र एक फिल्म की तरह उसकी आँखों के सामने तैरने लगे। यूँ जब होता, तो सुच्चासिंह को लगता जैसे शराब की पूरी

बोतल का नशा उसे चढ़ गया हो। आज तो उसने घूँट भी नहीं भरा था, बोतल की ओर देखा तक नहीं था। जब ड्यूटी होती वह कभी कोई एतराज़ वाली बात नहीं करता था। यूनियन वालों के साथ बैठा चाहे लाख डींगें हाँके, पर सुच्चासिंह के भीतर से हमेशा सच्ची बात निकलती, हमेशा यही कहता, नौकरी में नख़रा कैसा?

इतने में अफसर तैयार हो कर आ गया। सुच्चासिंह ने मोटर का दरवाज़ा खोला। इस अफसर की आदत थी, हमेशा आगे ड्राइवर के साथ बैठता। जितनी देर मोटर चलती रहती, ड्राइवर को बातों में लगाये रखता। इधर-उधर की बातें। भला मानस। आजकल जहाँ-तहाँ बात मंहगाई से ही शुरू होती, फिर चाहे कहीं पहुँच जाती।

बात चलते-चलते आज ओवर-टाइम पर पहुँच गयी थी। सुनने में आ रहा था, सरकार ओवर-टाइम बंद करने वाली थी।

"ओवर-टाइम बंद हुआ तो सरकार के सारे काम ठप्प हो जायेंगे।" सुच्चासिंह कह रहा था।

"वह कैसे?" उसने सुच्चासिंह से पूछा।

"बस, आप यही ड्यूटी ले लें, आपको इस वक्त कौन प्रैस ले जायेगा?"

"कोई ड्राईवर तो रहेगा, जिसकी ड्यूटी रात की होगी। इस तरह ज़्यादा लोगों को रोज़गार मिलेगा। जिसकी ड्यूटी रात को होगी, उसे दिन में छुट्टी रहेगी।"

"तो फिर मतलब यह हुआ कि पुरानों को भूखा मारा जाये और नयों को काम पर लगाया जाये।"

"आजकल ज़माना बाँट कर खाने का है, सुच्चासिंह।" सुच्चासिंह जैसे लाजवाब हो गया।

कितनी देर मोटर चलती रही, सुच्चासिंह जैसे विचारों में डूब गया हो।

कुछ इस तरह की सोच में डूबा हुआ, वाई.डी. पुरी भी था। कितनी रात बीत चुकी थी और उसे नींद नहीं आ रही थी। बार-बार करवटें बदल रहा था। बग़ल की चारपाई पर उसकी पत्नी कब से गहरी नींद में सो रही थी। उसकी छाती से लगा उनका बच्चा सो चुका था। वाई.डी. पुरी को नींद ही नहीं आ रही थी।

उसने नये कंसलटैंट से कहा - "सर, इस विभाग में आपके स्तर के अफसरों के साथ जो अमला तैनात होता है, क्या चपरासी, क्या पी.ए., सीनियर, जूनियर सब को ओवर-टाइम मिलता है।"

"चाहे अफसर ओवर-टाइम पर बैठे या न बैठे।"

"जी फिर भी उनको ओवर-टाइम मिलता है। उनको सुबह एक घंटा पहले आना पड़ता है।

"वह क्यों?"

"आपके दफ्तर पहुँचने से पहले आपके अमले का दफ्तर में होना ज़रूरी है। फिर आधी छुट्टी के वक्त भी आपका अमला हाज़िर रहता है।"

"जब अफसर आराम कर रहा होता है, उसका अमला नौकरी पर क्यों हाज़िर रहता है?"

अफसर ने पिछले महीने के ओवर-टाइम के रजिस्टर पर हस्ताक्षर कर दिए, लेकिन उसी समय आदेश जारी किया कि उसके अमले के लोग वक्त पर सुबह आयेंगे और वक्त पर शाम को घर जायेंगे। आधी छुट्टी को बाकी कर्मचारियों की तरह आराम करेंगे। ओवर-टाइम के लिए जब किसी की ज़रूरत होगी उसे कंसलटैंट की ओर से लिखित निर्देश दिया जायेगा।

कंसलटैंट का फरमान पढ़कर उसके अमले के जैसे सोते सूख गये। पहले भी वे कब सुबह जल्दी आते थे और कब शाम को देर तक बैठते थे? जब से नया कंसलटैंट आया था, ठीक समय पर वह दफ्तर में आता और ठीक समय पर छुट्टी करके चल देता। इसका मतलब हुआ कि हर किसी की तनखाह में सौ, डेढ़ सौ रुपये की काट हो गयी। इतने अर्से से वे यह फालतू रकम पा रहे थे। यह रकम तो उनकी तनखाह का हिस्सा बन गई थी। उन्होंने इसके अनुसार दस खर्च बांध लिए थे। अब एक दम जैसे किसी कि सिर पर बम आ फटा हो। अमले के सारे कर्मचारी भोंचक्के-से रह गये।

बेचैन, करवटें बदलते हुए वाई.डी. पुरी को लगता जैसे रात कभी खत्म होने को ही न आयेगी। लम्बी, और लम्बी होती जा रही थी। उसे अपनी चारपाई में से सेंक आ रहा था। सामने गहरी नींद में सो रही उसकी पत्नी निश्चिंत थी। निश्चिंत तो इसे होना चाहिए। ओवर-टाइम की मिली फालतू रकम वाई.डी. पुरी ने उसे कभी दी थोड़े ही थी। उस बेचारी को तो इसने कभी बताया भी नहीं था कि इतनी सारी रकम उसे हर महीने ओवर-टाइम के रूप में मिलती है। ये पैसे वाई. डी. पुरी खर्च करता था दारू पीने-पिलाने में, थियेटर-सिनेमा देखने में, सिग्रेट-पान और इस तरह के बेकार खर्च। अब न वह शराब पी सकेगा, न घर आ कर अपनी बीबी के आगे सौ झूठ बोलेगा, न पराई लड़कियों के साथ सिनेमा जायेगा, न अपनी पत्नी, अपने बच्चों के सामने शर्मिंदा होगा। दफ्तर में अब चाय-कॉफी के दौर नहीं चलेंगे। कभी किसी की बारी होती, कभी किसी की। कभी कोई बहाना, कभी कोई। चाय पी-पीकर उसके मुँह में छाले पड़ जाते थे।

वाई.डी. पुरी के भीतर से धीमी-सी कोई आवाज़ आती, यह मुसीबत भी कटी। ओवर-टाइम का समय जो अब तक वह बेकार बेहूदगियों में गँवाता था, घर आकर अपने बच्चे और बच्चे की माँ के साथ बिताया करेगा या फिर शाम के कालेज में दाखिला लेकर, बी.ए. पास कर लेगा। कंसलटैंट ने भी उसे यही कहा था। नौजवान कर्मचारियों को इस तरह केओवर -टाइम का लालच छोड़कर अपनी पढ़ाई-लिखाई

करनी चाहिए। वाई.डी.पुरी को अपनी पत्नी के गले से चिपटा हुआ अपना बच्चा अच्छा लगने लगा। उसने हाथ बढ़ाकर उसे अपनी गोद में उठा लिया, जैसे उसका कलेजा ठंडा हो गया हो। कुछ ही देर में वाई.डी. पुरी को नींद आ गई, गहरी नींद।

गहरी नींद में सोये हुए थे चपरासी, एल.डी.सी., यू.डी.सी., असिस्टैंट, दफ्तर का बाकी अमला। अपने-अपने घर में पहुँच कर सब मज़े से सो रहे थे। गर्मियों की बाद-दोपहर, बाहर कड़ाके की धूप पड़ रही थी। उन्होंने अपने दफ्तर का टाइम सुबह का करवा लिया था। सात से डेढ़ बजे तक। दोपहर के बाद उनका ओवर-टाइम लगता था। जो काम किसी को करवाना होता, उसे जवाब मिलता, यह तो ओवर-टाइम में होगा। अफसरों को काम तो करवाना होता। कभी कोई तो कभी कोई ओवर-टाइम के लिए राज़ी हो जाता। कर्मचारी काम दफ्तर के वक्त में ही करते। जाते समय टाइप किए कागज़ या कोई हिसाब-किताब की फाइल अफसर को थमा जाते और ओवर-टाइम के रजिस्टर में दस्तखत करवा लेते।

आज दोपहर दफ्तर में कोई भी नहीं था सिवाय एक अफसर के, जिसकी ड्यूटी थी कि ओवर-टाइम लगाने वाले अमले की निगरानी करे। जिनका ओवर-टाइम लग रहा था, वह तो सारे अपने अपने घरों में मज़े से आराम कर रहे थे और बेचारा अफसर पीछे दफ्तर में बैठा था। बिजली बंद हो गयी थी। उसके पसीने पर पसीने छूट रहे थे। पानी तक पिलाने वाला उसे कोई न था। एक चौकीदार छुट्टी कर गया था। दूसरा अभी आया नहीं था। चौकीदार को ओवर-टाइम थोड़े ही मिलता था जो वह ज़्यादा वक्त ड्यूटी देता। अफसर के मुँह का ज़ायका कड़वा हो रहा था। बार-बार वह ओवर-टाइम की रीति चलाने वालों को सलवातें सुनाने लगता। पर अफसर का दफ्तर में रहना ज़रूरी था। उनका डायरेक्टर सच्चा था। किसी न किसी अफसर का दफ्तर में रहना जरूरी है। इतने लोग जिस दफ्तर में ओवर-टाइम ले रहे हों, उनकी निगरानी के लिए ज़रूरी है कि कोई पीछे रहे। सीनियर अफसरों को रोस्टर बन गया था। हर रोज़ दोपहर बाद इस दफ्तर का एक न एक अफसर पीछे रुक जाता। ओवर-टाइम लगाने वाला अमला अपने अपने घर चला जाता। कई तो छुट्टी से पहले ही खिसक जाते। पर ओवर-टाइम लेने वालों की निगरानी ज़रूरी थी। अफसर का ड्यूटी पर रहना बेहद जरूरी था।

तप रहे कमरे में, बोर हो रहा, अकेला अफसर सोचता, "काश ओवर-टाइम अफसरों को भी मिलता ताकि बाकी अमले की तरह वह भी घर जा सकता।"

कुदसिया

कुदसिया की यह हरकत उसके शौहर को अजीब लगती थी। शाम होते ही ड्राइवर को खास तौर पर बुलवा भेजती, गैराज में से गाड़ी निकलवाती, बन सँवर कर सैर को निकलती। ब्लश-आन, रैप-अराउंड पैडस्टल सैंडल और दो फ़र्लांग दूर, सिटी वुड के बॉर्डर, कार रुकवा कर, जूते उतार, हरे घास के मैदान पर नंगे पाँव चलने लगती। एक चक्कर, दो चक्कर, चार चक्कर और थक-हार कर गाड़ी में जा बैठती। "भई ड्राइवर, जल्दी-से घर चलो, हमें तो बहुत प्यास लगी है।" हर रोज़ इस तरह से कुछ कहती और थकी हारी घर लौट जाती। बेगम साहिबा की सैर हो जाती।

अकरम हमेशा कुदसिया पर हँसा करता। लेकिन फिर वह सोचता, शायद उसी की समझ में कोई फ़र्क़ था। कुदसिया की कई बातें उसे अजीब-अजीब सी लगतीं। फिर वह अपने आपको समझाता - क्या यह बात अजीब नहीं कि एक नवाबज़ादी ने एक आम सरकारी अफसर से शादी की है। शादी ही नहीं, एक के बाद एक, दो बच्चे भी पैदा किए थे। तीसरा कुदसिया के पेट में था। कुदसिया हँसती "मैं तो बच्चे पैदा करने की मशीन हूं।" वह हमेशा यही कहा करती। बसों के पीछे परिवार नियोजन वालों की खानदानी मंसूबाबंदी के बारे में "दो या तीन बच्चे! होते हैं बड़े अच्छे!" - इस चेतावनी को दो या चार बच्चे होते हैं बड़े अच्छे, कह कर पढ़ा करती थी और उसका शौहर उसके मुँह की ओर देखता रह जाता। अभी उसकी बीवी, तीसरे बच्चे से नहीं निपटी थी कि उसने चौथे बच्चे की चर्चा शुरू कर दी थी।

उस दिन तो जैसे अकरम के पाँव तले ज़मीन निकल गई हो। कुदसिया का एक मामू था, विलायत पास। पहले बरेली में वकालत करता था। बरेली में उसका अपना घर-बार था, बीवी-बच्चे थे। आजकल दिल्ली में आबाद था। सुप्रीम कोर्ट में उसे चेम्बर अलाट हो गया। वकालत भी करता, यूनिवर्सिटी में भी पढ़ाता। उस जैसी योग्यता और अनुभव के लोग आजकल कहाँ मिलते हैं। कुदसिया ने बातों ही बातों में अकरम को बताया, "दिल्ली में मामूजी ने एक और घर बसा लिया है।" किसी गाने वाली के साथ उनकी आशनाई थी। दिल्ली के घर में उन्होंने उसे बिठा लिया। और फिर उनके बच्चे होने लगे। हर साल एक, एक साल छोड़ कर एक। एक बीवी और उसके बच्चे बरेली में, दूसरी बीवी और उसके बच्चे दिल्ली

में। मामूजान जुम्मे की नमाज़ पढ़कर बरेली चले जाते। हफ्ता और इतवार वहाँ रहकर, सोम की सुबह दिल्ली लौट आते। कुदसियां कभी दिल्ली वाली मामी, कभी बरेली वाली मामी का यूँ ज़िक्र करती, जैसे एक आदमी की दो बीवियाँ कोई साधारण-सी बात हो। बल्कि दिल्ली वाली मामी के यहाँ उसका आना-जाना, बरेली वाली मामी से कहीं ज़्यादा था।

एक दिन, अकरम ने जब उसकी इस हरकत का ज़िक्र किया तो कुदसिया हँसने लगी। बोली - बरेली वाली मामी तो हमारे नानाजान ने हमारे मामू के गले मढ़ दी थी। किसी दोस्त से, बचपन में उन्होंने वायदा किया था, अपना इकरार उन्होंने निभा दिया। असली मुहब्बत तो मामूजान को दिल्ली वाली मामी से थी। हमेशा चोरी-छिपे उसके कोठे पर जाते थे। कई बार रात को, जब सब सो जाते, चुपके से वह बाहर निकल जाते। सुबह मुँह-अंधेरे लौट आते। प्रायः कुदसिया की ख़ाला उनकी मदद करती थी। उनकी हरकतों पर परदा डालती रहती थी। जोड़-जोड़कर रखी अपनी पाकेट-मनी, मामूजान को देती ताकि वह अपना इश्क निभा सकें। कई बार जब नानाजान पूछ बैठते तो वह कहती - भैया मेरी सहेली के यहाँ गये हैं। मैंने भेजा है कोई किताब लाने। या कोई इस तरह का और बहाना। नानाजान के अतिरिक्त सारे परिवार को मामूजान के इश्क का पता था और हर कोई उनकी करतूतों पर परदा डालने की फिक्र में रहता था। कोई बड़ी बात नहीं, नानाजान को भी इस बात का एहसास हो। शायद वो भी यूँ ही शराफत का भरम बनाये हुए थे। शाम को खाना खाकर, साधारण कपड़ों में मामूजान, बाहर टहलने के लिए निकलते, अंधेरा ही रहा होता। इधर वह बाहर कदम रखते, उधर नानीजान उनकी शेरवानी में दस का नोट रखकर खिड़की में से उन्हें थमा देती। गली के अंधेरे में वह शेरवानी पहन कर, जेब में पैसों को टटोल कर, अपनी महबूबा के कोठे पर जा बैठते। सारी रात गाना सुनते। सुबह इससे पहले कि घर वाले सोकर उठें, वह अपनी चारपाई पर आकर लेट जाते और दोपहर तक पड़े रहते। सारे मोहल्ले को, सारे शहर को उनकी इस हरकत का पता था।

उन दिनों का ज़िक्र करते हुए, कुदसिया के मुँह में जैसे पानी आ जाता। कई बार अकेली बैठी, इस तरह की ज़िन्दगी के चटपटेपन के बारे में सोचती रहती। सोच-सोच कर सरशार होती रहती। स्वाद-स्वाद।

अब तो उसका जीवन बिल्कुल फीका हो गया था - फीका और नीरस। कोई झूठ नहीं, कोई चोरी नहीं, कोई फरेब नहीं।

बेशक कुदसिया को झूठ से नफरत थी, चोरी से परहेज़ था, फरेब से वह बचती रहती थी। लेकिन कोई मासूम गुनाह भी होते हैं। इस तरह की हरकतों में एक अजीब रंगीनी होती है। कुदसिया इस तरह की ज़िन्दगी के लिए कभी-कभी तरसने लगती। इस तरह जैसे कोई सज-सजकर हरी घास पर नंगे पाँव टहलने लगे।

कॉफी क्लब में, अड़ोसिनों-पड़ोसिनों के साथ उठते-बैठते, गली-मुहल्ले में मुलाकात के दौरान जब कुदसिया-बी को सहेलियाँ अपने घरवाले की बेहूदगियों का ज़िक्र करतीं तो कुदसिया का जी चाहता – काश इस तरह की कोई शिकायत वह भी अपने शौहर के बारे में कर सकती। कमबख्त उस पर जान देता था। क़ुर्बानी का पुतला। जैसा जवानी में मुहब्बत के दिनों में था, बिल्कुल वैसा ही अब तक है। क्या मजाल जो किसी की ओर आँख उठाकर देख जाये। दफ्तर जायेगा, दफ्तर से सीधा घर लौटेगा, और फिर सारे का सारा प्रोग्राम बीवी के साथ। "एक आत्मा दो शरीर" कुदसिया सोचती, उसका बेटा जवान हो रहा है। इतना सुन्दर लड़का, उस पर तो लड़कियाँ जान छिड़केंगी। बेटा, पढ़ा-लिखा, जवान भरपूर। लेकिन वह तो अपने बाप से भी चार क़दम आगे था। क्या मजाल जो किसी से कोई फालतू बात करे। कभी इसकी कोई शिकायत नहीं आई। जो कोई कुदसिया से इसके बेटे के बारे में बात करता, इसकी तारीफ़ करते-करते उसकी ज़बान न थकती। पढ़ाई के दौरान पढ़ने से मतलब। अब, जब से नौकर हुआ है, आठों पहर अपने काम से काम।

कुदसिया सिनेमा देखने की शौकीन था। कभी उसका घरवाला उसका साथ देता, कभी उसका बेटा उसके साथ जाता। मेहमानों को सिनेमा दिखाने ले जाती। हर चलचित्र में कोई न कोई त्रिकोण बन जाती। कभी कोई मर्द पराई औरत पर डोरे डाल रहा होता, कहीं कोई और पराये मर्द का पीछा कर रही होती। उलाहने, ताने, रोना-धोना, गाली-गलौज। फिर प्रायः सब कुछ ठीक हो जाता। आखिर में हर किसी को होश आ जाती। ज़िन्दगी में एक रंगीनी पैदा होती, एक चटपटापन उजागर होता और फिर ज़िन्दगी अपनी डगर चलने लगती। इस तरह का हंगामा कुदसिया की ज़िन्दगी में कभी नहीं आया था। उसकी इच्छा होती, कभी उसका शौहर शाम को देर से घर लौटे, वह उसका इंतजार करे, इंतजार करते हुए थक जाये। उसका जी चाहता, कभी उसका जवान, जहान बेटा बेवक्त घर से बाहर निकले और वह हरगिज़ उससे ने पूछे कि वह कहाँ जा रहा है, कब लौटेगा। क्यों कोई किसी पर सवाल करे और दूसरे को झूठ बोलने के लिए मजबूर करे? कुदसिया सोचती और उसे अजीब-अजीब लगता। एक खोयापन सा उसे कभी भीतर ही भीतर कचोटने लगता। यूँ लगता जैसे उसकी कोई चीज़ गुम हो गई हो और वह झुँझलाई-सी रहने लगी। हर समय चिढ़ी हुई सी, ख़फ़ा-ख़फ़ा।

लेकिन अब कुछ दिनों से कुदसिया असाधारण तौर पर खुश थी। हर समय हँस रही, हर समय मज़ाक कर रही, जैसे पहले कभी उसकी आदत होती थी। कुदसिया को स्वयं इसका कारण नहीं मालूम था। फिर एक रात अचानक उसे जब यह राज़ मालूम हुआ तो वह पानी-पानी हो गई।

बात यूँ हुई, उनकी बेटी का कुत्ता जवान हो गया था। पिछले कुछ दिनों से उस पर मुसीबत आई हुई थी। जब दाव लगता वह बाहर निकल जाता और पता नहीं कहाँ-कहाँ झक मारता फिरता। हर रात चुपके से खिसक जाता और मुँह-अंधेरे दुम हिलाता लौट आता। उनकी बेटी को जब पता चला तो उसने कोठी का गेट बन्द रखना शुरू कर दिया। कुत्ते ने घर की चारदीवारी में एक सुराख ढूँढ़ लिया। कुछ दिन वह इस रास्ते से गायब होता रहा। जब उसकी यह चोरी पकड़ी गई तो घर वालों ने ईंटों से वह सुराख बन्द करवा दिया। अब कुत्ता बहुत परेशान था। कोठी के गेट के पास बैठा, एकटक बाहर झाँकता रहता। कुदसिया से यह न देखा गया! जब घर वाले सो जाते तो वह चुपके से गेट को खोलकर कुत्ते को बाहर निकाल देती और इससे पहले कि परिवार का कोई आदमी जागे, सुबह ही सुबह फाटक खोलकर वह कुत्ते को अन्दर ले आती।

हर दूसरे-तीसरे महीने जब कुत्ते पर मुहब्बत सवार होती, कुदसिया चुपके से हर रात उसे बाहर निकाल देती और यह राज़ कुत्ते का, और कुदसिया का, किसी और को कभी पता नहीं चलता।

अपने बच्चों की दुलारी माँ, अपने घर वाले की महबूब बीवी, अपने पड़ोसियों की हर-दिल-अज़ीज़ पड़ोसिन, कुदसिया की ज़िन्दगी यूँ गुजरने लगी जैसे सोये-सोये पानियों पर किसी सुघड़ नाविक की नाव फिसलती जा रही हो।

पसन्द अपनी अपनी

इन्सान के शरीर का सबसे कोमल अंग है उसका चेहरा, और चेहरे पर कोमलतम् अंग है कदाचित् नाक। नाक की त्वचा कितनी नरम-नरम, कितनी मुलायम होती है!

नाक की त्वचा को यदि ध्यान से देखें तो इसमें अनेक सूक्ष्म छिद्र दिखाई देते हैं। ये छिद्र श्वेत चरबी से भरे होते है। यदि नाक के किसी भाग को दो उँगलियों में लेकर दबाया जाये तो पिचककर चरबी की नोक-सी निकल आती है।

"बस, नाक के किसी कोमल से, नरम-से हिस्से को दो पोरों में लेकर दबाना, और बारीक-बारीक छिद्रों में से चरबी की नोक का पिचककर निकल आना कितना प्रिय लगता है," यों बात करते-करते उसकी आँखों में एक नशा-आ जाता-"हाय! यदि कुछ क्षणों के लिए आप अपनी नाक मेरे हवाले कर दें..." ऐसा प्रतीत होता, जैसे उसका कोई सब से सुन्दर स्वप्न साकार हो जायेगा, जैसे उसे कोई सबसे अमूल्य वस्तु मिल जायेगी, जैसे उसकी कोई भूख मिट जायेगी।

"हाय! यदि कुछ क्षणों के लिए अपनी नाक..." और वह उसकी बात को बीच में ही टोक देता। उसकी इस विचित्र इच्छा पर उसे हमेशा विस्मय होता।

जब कभी वह अपनी प्रेयसी से कोई कठिन-से-कठिन, कोई असंभव-से-असंभव काम कहता, उत्तर में वह सदैव एक ही बात कहती - "अपनी नाक में से आप मुझे चरबी निकालने देंगे?"

कई बार वह कुछ क्षणों के लिए यह मान भी जाता, पर जब वह अपने होंठों से मुसकानें बि ेरती, अपनी पलकों को नशे में न मूँद सकती न खोल सकती, मधुर भावनाओं में ऐंठ रही उँगलियों को दिखाती, उसे अपना वचन पूरा करने को कहती, तो वह हमेशा वचन से फिर जाता, कई बार भाग जाता, कई बार नाराज़ हो उठता।

प्रायः उसके पास बैठी अनायास ही उसकी उंगलियाँ उसकी नाक पर जा पड़तीं और वह धीरे-धीरे उसकी नाक से खेलती रहती। अपनी मृदु उँगलियों को उसकी नाक पर कोमलता से फेरती और बातें करती रहती। कई बार यों बातों में तल्लीन एकदम जैसे उसके मुख से निकल जाता - "हाय! यदि अपनी नाक. ..." बोल अभी उसके होंठों पर ही होते कि वह चौंक कर परे हट जाता।

कई बार उसका जी चाहता कि वह उसे अपने घुटनों के नीचे दबा कर उसकी नाक को अपनी सुगंधित उँगलियों के पोरों से धीरे-धीरे भींचती जाये, भींचती जाये

और सारी-की-सारी चरबी बाहर निकाल दे। उसके घुटनों के नीचे फँसा वह तड़पता रहे, चिल्लाता रहे। कई बार उसे लगता जैसे उसकी भुजाओं में ऐसा करने की शक्ति है। अकेली बैठी अपने होंठों को दाँतों से चबाती कभी-कभी वह सोचती कि किसी दिन वह उसे धर दबोचेगी।

पर वह तो पुरुष था। उसका प्रेमी स्कूल का 'ड्रिल मास्टर'। उसके पुट्ठे कसरत करते-करते इस्पात की तरह हो गये थे। वह स्वयं केवल एक नर्स थी जिसे आयु भर मीठी-मीठी बातें करना सिखाया गया था। उसे बताया गया था कि स्पर्श फूल-पंखुड़ियों जैसा सरस होना चाहिए। वह भला यह सब कुछ कैसे कर सकती थी? उसे जीवन फीका-फीका, रूखा-रूखा सा लगने लगता।

पर प्रेम में, जीवन फीका भी कैसे लग सकता है?

वह खुश थी, बहुत खुश! पर काश! यदि उसका प्रियतम अपनी नाक...।

कई बार जब वह सामने सो रहा होता तो कितनी ही देर पास बैठी वह उसकी नाक को निहारती रहती। कितनी लम्बी, कितनी तिरछी उसकी नाक थी। नरम-नरम! और ड्रिल मास्टर तो इतनी मालिश किया करता था। जितनी ज्यादा मालिश कोई करवाये, वह सोचती, उतनी ही चरबी उसकी नाक की जिल्द में अधिक होती होगी।

एक बार उसे सोते हुए को यह निहार रही थी कि एक मक्खी आ कर उसकी नाक पर बैठ गई। कितनी ही देर तक वह मक्खी एक जगह पर बैठी रही। फिर आगे सरकी और एक और जगह नाक पर जम कर बैठ गई। उसे ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे काली मक्खी उसकी नाक की सारी-की-सारी श्वेत चरबी निकाल कर खा जायेगी। वह दाँत पीसती रही, बल खाती रही। 'मैं यदि हाथ लगाऊँ तो झपट कर उठ जायेगा और मक्खी चाहे सारी-की-सारी नाक खाली कर दे,' रह-रह कर वह क्रोध में बुड़बुड़ाती। उसका प्रियतम उसके पास बैठकर खुश होता, उसके साथ बातें करके खुश होता, उसके केशों से खेल कर खुश होता। उसे भी यह सब कुछ अच्छा लगता पर वह सोचती – हाय! कभी नाक उसके हाथ में आ जाये, बिना इसके तृप्ति न होती।

एक बार ड्रिल मास्टर को खेलते-खेलते चोट आ गई। चोट सख़्त लगी थी। एक बाँह टूट गई, दो दाँत उखड़ गये, गाल के नीचे एक घाव भी आ गया। जब उसे वह हस्पताल में देखने गई तो वह बेसुध पड़ा था। उस पर उसे असीम प्यार आने लगा। किस प्रकार निढाल-सा वह पड़ा था। डाक्टर को पट्टी बाँधने में सहायता करते हुए, बार-बार उसका हाथ उसकी नाक पर पड़ता। लम्बी, तीखी- उसके प्रियतम की नाक पर।

विवाह के उपरान्त उसका ड्रिल मास्टर पति उसे भ्रमण के लिए काश्मीर ले आया था। लारी में बैठे हुए सारा समय वह उसे काश्मीर की घाटी की सुन्दरता के चित्र खींच-खींच कर बताता रहा। डल झील का बिल्लौरी पानी, चिनारों की छाया

में अलसाये हुए शिकारे, उछलती-कूदती जेहलम नदी, जेहलम के जल पर थिरक रहे हाउस बोट, हाउस बोटों में से लटक रही गोरी-गोरी पिंडलियाँ, मछलियों की तरह चंचल, पानी से खेलती कलाइयाँ, निशात और शालीमार के विस्तृत उद्यान, घास की मोटी मख़मली तहें और ऐसी तहों के लम्बे-लम्बे, फैले हुए लॉन जिनमें बैठ-बैठ कर, चल-चल कर, लेट-लेट कर किसी की तुष्टि नहीं होती। फूलों से भरी हुई हरियाली, फलों से लदे हुए वृक्ष, पानी के उमड़ते हुए स्त्रोत, कहीं गरम पानी, कहीं ठण्डा पानी, कहीं नीम-गरम पानी। ऊंचे-ऊंचे पहाड़ हिम से ढके हुए, छोटी पहाड़ियाँ जिन पर पगडंडियाँ घूमती जातीं, बल खाती जातीं...।

उसका ड्रिल मास्टर पति कहता कि चाँदनी रात में वह उसे शिकारे में बिठा कर झील की सैर करवायेगा। निशात और शालीमार के घास के मैदानों में लेटे-लेटे उनको आधी-आधी रात हो जाया करेगी। नसीम बाग के चिनारों के घने झुण्ड, जिनके नीचे हमेशा संध्या बनी रहती है।

श्रीनगर पहुँच कर, काश्मीर की घाटी के सौन्दर्य को देख-देख कर उसे हमेशा एक नशा-सा चढ़ा रहता। नशा चढ़ता और उतर जाता-और फिर एकदम चढ़ जाता। चाँदनी रात को डल के पानी में उतरे चाँद को वह देखती तो उसकी आँखें एक उन्माद के बोझ से मुँद जातीं। ऐसे ही जब कभी उसकी दृष्टि अपने पति की नाक पर जा पड़ती तो उसका अंग-अंग पुलकित हो जाता, अकड़ जाता, ऐंठ जाता।

उसका पति कभी प्रोग्राम बनाता - कल चश्माशाही चलेंगे। फिर चश्माशाही के पानी की कहानियाँ वह उसे सुनाता रहता। चश्माशाही का पानी जो पत्थरों को भी पचा सकता है। फिर वह चश्माशाही की धारा का वर्णन करता, फूलों का वर्णन करता, फलों का वर्णन करता, घास के एकान्त छोरों का वर्णन करता जिनके चारों ओर बेलों ने परदे बना रखे थे। वह सुनती रहती, सुनती रहती। कई बार जब वह कभी कोई ऐसा प्रोग्राम बना रहा होता तो बरबस उसकी पत्नी के मुख से निकल जाता-"हाय! अगर वहाँ थोड़ी देर के लिए अपनी नाक...।" और उसके ड्रिल मास्टर पति को अपनी नर्स पत्नी पर कभी हँसी आती, कभी क्रोध आता, कभी अफ़सोस होता, कभी हैरानी।

एक दिन एक बाग़ के कोने में, एक पेड़ के नीचे लेटे-लेटे उसका पति सो गया। पेड़ सेब का था। कुछ देर के बाद एक सेब टूट कर ठीक उसकी नाक पर आ लगा। सेब बहुत ज़ोर से उसकी नाक पर गिरा था और उसकी नाक की हड्डी टूटते-टूटते ही बची थी। इसका पति टीस से तड़प उठा, पर पत्नी की हँसी ऐसे छूट रही थी कि रुकने का नाम ही न लेती थी। पति पीड़ा से बेहाल, अपनी नर्स-पत्नी के मुख की ओर बार-बार देखता और उसकी हँसी रोके न रुकती। बार-बार वह सौगन्ध खाती कि सेब पेड़ से टूट कर गिरा था पर उसके पति को विश्वास न होता।

अभी वे काश्मीर में ही थे कि ड्रिल मास्टर को कुछ ऐसा अनुभव होने लगा कि वह थका-थका-सा रहता है। कुछ दिन प्रतीक्षा करके भी जब कुछ आराम न हुआ तो वह डाक्टर के पास गया। डाक्टर ने टीके लगाने की राय दी। उसकी नर्स पत्नी तो टीके स्वयं लगा सकती थी। वह बाजार जाकर आवश्यक दवाइयाँ ले आई।

उन दिनों नसीम बाग़ में उन्होंने अपना तम्बू गाड़ा हुआ था। एक दुपहरी को, मीठी-मीठी धूप में बाहर लेटे हुए, उसके पति ने फिर टीके के लिए अनुरोध किया। जब वह न टाला जा सका तो अन्त में तम्बू में से सारा सामान तैयार करके वह ले आई। उसकी बाँह पर उसने सुई लगा दी। टीका लगाते ही उसके पति की आँखे बन्द होनी आरम्भ हो गईं और देखते-देखते ही वह मूर्छित हो गया।

सामने नगीने की तरह जड़ी हुई डल झील, एक ओर चिनारों के अपार वृक्ष। काश्मीर की मीठी ठण्डक, हल्की-हल्की धूप। घास के मैदान में लेटे हुए, उस पर एक नशा-सा चढ़ा हुआ था। उसकेपास उसका पति अचेत पड़ा था। उसके भीतर की नर्स जानती थी कि जो टीका उसने लगाया था उसका प्रभाव कितनी देर और रहेगा?

उसने अपने पति के सिर को उठा कर अपने घुटनों पर रख लिया और एक उन्माद में, एक आवेश में, एक आवेग में उसने अपनी उत्सुक उँगलियों के पोरों से उसकी नाक के एक-एक छिद्र को दबाना शुरू कर दिया। चुटकी ले एक टुकड़े को दबाती, बीच में से पिचक कर श्वेत चरबी की तरह कोई चीज़ नोक की तरह बाहर सिर निकालती और वह अपनी चुनरिया के साथ साफ़ करती जाती। इस प्रकार वह नाक को दबाती गई, दबाती गई-और जब वह दबा कर रुकी, उसे ऐसे लगा जैसे वह तृप्त हो गई हो, जैसे जन्म-जन्मान्तर का उसके सिर पर चढ़ा कोई भार उतर गया हो। उसका अंग-अंग जैसे फूल जैसा हल्का हो गया हो; और ऐसे आनन्दविभोर सी वह घास पर लेट गई। डल से आ रही ठण्डी-मीठी हवा, श्रीनगर की ढलती हुई दुपहरी की हल्की-हल्की धूप, चिर-पुराने चिनारों की स्वच्छ हरियाली, दूर निशात और शालीमार से लदी आ रही सुगन्धियाँ, नरम-नरम, घास का मैदान, गहरा-नीला आकाश, दूर बहुत दूर शिकारे में गा रहे हाजी। आज पहली बार उसे महसूस हुआ कि काश्मीर कितना सुन्दर प्रदेश है!

इस प्रकार उन्माद में खोई वह लेटी हुई थी कि उसका पति हिला, और फिर एकदम उठ खड़ा हुआ। "मैं तो सो ही गया था," उसने अपनी पत्नी को ऐसे अकेले लेटे देख कर, लज्जित-सा हो कर कहा। फिर उसने टीके की प्रशंसा करनी शुरू कर दी-"मुझे तो लगता है कि जैसे एक ही टीके से मेरे अन्दर शक्ति का संचार हो गया है।" बार-बार वह कहता; और जब भी वह इस बात को दोहराता उसकी पत्नी की हँसी रोके न रुकती।

अपने प्यारे देश का तराना

"भाग्यवान्! यूँही आज तुम्हारी नींद खुल-खुल जा रही है।" और काके का बापू करवट बदल कर सो गया।

पर नहीं, यह हवा नहीं। बाहर ड्योढ़ी का किवाड़ किसी ने खटखटाया था। शायद डब्बू होगा। डब्बू को आजकल चैन नहीं था। जब से पाकिस्तानी छाताधारी उतरे थे, डब्बू दम नहीं लेने देता था; न सवेरे, न अंधेरे। गली में बैठा, आप ही आप भौंकता रहता। परछाइयों से उलझता रहता। कोई बात भी हुई।

ठक! ठक!! ठक!!! कोई दरवाज़ा खटखटा रहा है।

"काके के बापू! बाहर कोई है"।

काके का बापू निश्चिंत सो रहा है। कोई एक घंटा हुआ, ठीकरी-पहरा देकर लौटा है। सारा दिन खेत में मिट्टी के साथ मिट्टी होवो, और रात को बारी-बारी से पहरा दो। कैसे दिन आ गये हैं।

"काके के बापू"। वह फिर अपने घरवाले को आवाज़ देती है।

"राजी! पगली न बन, सो जा।"

"बाहर कोई है, काके के बापू।"

"कोई नहीं, तेरा वहम है। तुम्हें काका याद आ रहा है।"

राजी लज्जित-सी हो गई। शायद यही बात हो। यही बात थी। उसे अपना लाल याद आ रहा था। एक ही एक उसका लाड़ला, जिसे उसने फौज में भरती करवा दिया था। किसी का 'ढोल-सिपाही' बनेगा, यह सोच कर। राजी को 'ढोल-सिपाही' के गीत गाना सारी उम्र अच्छा लगता रहा था। लेकिन उसका दिल तो साहूकार के लड़के ने मोह लिया था। हाय! कैसे थे वह दिन! न ज़ात मिले; न बिरादरी मिले; न दीन मिले; और वह उसे दिल दे बैठी थी। उधर लोग हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के नारे लगाते दीवाने हो रहे थे, और इसे दिन-रात साहूकार के लड़के के सपने आते रहते। फिर मार-धाड़ शुरू हो गई। तोबा! तोबा, कैसा ख़ून-ख़राबा हुआ था। उधर से उजड़ कर लोग इधर आ गए थे। इधर से उजड़ कर लोग उधर जा रहे थे। यह तो उसका भैया था - सुलतान, अगर वह न होता तो यह भी उधर चली गई होती - अपने अब्बा-अम्मा के साथ। सुलतान उसका हमराज़ था। उधर तड़-तड़ गाँव में गोली चल रही थी, इधर इनके घर वाले भाग रहे थे कि सुलतान, राजी की बाँह उसके प्रियतम के हाथ में पकड़ा गया। साहूकार का बेटा उसका दोस्त जो था।

फिर उस साल राजी के घर काका हुआ। हू-ब-हू अपने मामा सुलतान की शक्ल! राजी ने उसका नाम सुलतान सिंह रखा। जब अपने जाये को बुलाती, अपने 'बीरन' की मीठी याद, उसकी छाती को ठंडा कर जाती।

"ठक! ठक!! ठक!!!" बाहर तो कोई है।

"बाहर कोई है काके के बापू।" राजी फिर साथ-की चारपाई पर बेसुध सोये-पड़े घर वाले को जगाती है।

"क्या है भाग्यवान्! एक पल सोने भी तो दो। जब तक भरती नहीं करवाया था, तुम साँस नहीं लेने देती थीं और अब जब से लड़ाई छिड़ी है, तुझे रात को नींद नहीं आती।"

"यह बात नहीं नेकबख्त। मैं कहती हूं, बाहर कोई है।"

"कोई नहीं, कोई भी नहीं, तू सो जा, बस।"

"तुमने अभी तक ईख भी नहीं काटी। बाकी गाँव वालों ने अपने खेत खाली कर दिए हैं, जब से यह कमबख्त छाताधारी उतरे हैं। मैं कहती हूँ, अगर तुमने कल ईख न काटी, तो मैं इसे आग लगा दूंगी। लोगों ने अपने खेत के खेत बरबाद कर दिए हैं। सिर-सिर तक ईख लगी है। क्या पता इसमें कोई आकर छुप जाये? बैरी का भरोसा नहीं करना चाहिए कभी!... मैं कहती हूं, तुम सुन भी रहे हो?... "

नहीं, वह तो कब का सो गया था। कैसे बातें करते-करते गहरी नींद सो जाता है।

ठक! ठक!! ठक!!!

बाहर तो कोई है। इस बार राजी 'बुक्कल' मार कर, दालान के बाहर निकल गई। बरामदा, आँगन, ड्योढ़ी, और बाहर का किवाड़।

आकाश पर बादल उमड़े हुए हैं। आज अंधेरा भी कितना है। हाथ को हाथ दिखाई नहीं देता। कमबख्त डब्बू न जाने कहाँ डूब मरा है। वैसे तो दम नहीं लेने देता और जब ज़रूरत हो तो गायब।

"क ौ न ?"

"सु ल ता न !"

अगले क्षण राजी सुलतलन की बाँहों में थी।

"बीरा! तुम कहां?" राजी उसे चुपके से ड्योढ़ी के अन्दर अंधेरे में ले आई। अन्दर से उसने साँकल लगा ली। बार-बार उसके कंधों को, उसकी बाँहों को, उसके हाथों को चूमने लगती। बार-बार उसे "बीरा" "बीरा" कहती, उसके सीने पर अपना सिर रख, आँखे मूंद-मूंद लेती।

'रे सुलतान! तुमने मुझे कभी चिट्ठी भी नहीं लिखी। अगर तुम्हें यूँ ख़फ़ा होना था, तो मुझे छोड़ कर ही क्यों गये? खुद तुमने मेरी बाँह इसके हाथ में पकड़ाई

थी! तुम्हारा भांजा तुम्हारी शक्ल का है, हू-ब-हू तुम्हारी शक्ल। तुम्हारा माथा, तुम्हारी नाक, तुम्हारे होंठ... मैंने उसका नाम सुलतान रखा। और जवान कैसा निकला है। बूटे-जितना क़द। मेरा जरनैल बेटा। मैंने उसे फौज में भरती करवाया। आजकल बाघा के उस पार पाकिस्तानियों से लड़ रहा है... पर तुम इस वक्त कैसे? सुलतान! तुम इस वक्त कहाँ? मेरे बीर! तुम कहाँ से आये? कब आये? कैसे आये?...

फिर राजी सब सवालों के जवाब समझ गई। राजी के दिल की जैसे एक धड़कन खो गई हो। उसकी आँखों के सामने अंधेरा छा गया।

अपने भाई को थामे, उसने भूसे की कोठरी में उसे जा छिपाया।

कितनी देर तक वह बातें करता रहा। उसके अब्बा की बातें, उसकी अम्मा की बातें। फिर वह ऊँघने लगा। ईख के खेत में छिपे, किसी को नींद थोड़े ही आती है। "अब तुम जाओ, तुम्हारा घरवाला न कहीं जाग जाये।"

वही बात हुई। दालान में लौट कर काम करते हुए, उसके हाथ से कनस्तर कुछ इस तरह गिरा कि उसका मालिक चौंक कर उठ बैठा।

"यह तू इस वक्त क्या कर रही है, भाग्यवान्? इस वक्त तुम्हें मिट्टी के तेल की क्या जरूरत आन पड़ी?"

"मुझे लालटेन जलानी थी।"

वह करवट बदल कर सो गया। मिट्टी के तेल की बोतल लबालब भर चुकी थी। बहुत सा तेल नीचे भी बह रहा था।

फिर एक शेरनी की तरह राजी बाहर अंधेरे आँगन में निकल गई। उसके दाँत उसके होंठों को चबा-चबा कर लहूलुहान कर रहे थे।

कोई पाँच मिनट, और राजी हाँफती हुई दालान में लौट आई। सामने वह सोया पड़ा था। उसके सिपाही-बेटे का बापू। अपने घरवाले की चारपाई पर उसकी बाँह को छाती से लगाये, वह लेट गई।

कुछ देर, और उसकी आँख खुल गई।

"वही बात! काके की माँ, तुझे डर लग रहा है। मैंने कहा नहीं था, तुझे आजकल डर लगने लगा है।"

"हां!" राजी ने धीरे से कहा। उसका गला रूँधा जा रहा था।

"सिपाहियों की माताएं यूँ डरा नहीं करतीं।"

"हां। हां।" राजी की आँखें छल-छल बह रही थीं। सामने भूसे की कोठरी में से शोले निकलने शुरू हो गये। चारों ओर से एकदम सारी की सारी कोठरे को आग लग गई। राजी की छम-छम बरस रही आँखों को लगता जैसे शोले नाच रहे हों, गा रहे हों। गा रहे हों – अपने प्यारे देश का कोई तराना।

प्लेग

तब मैं बहुत छोटा था। मुझे अपना गाँव बड़ा लगता था, इतना बड़ा, जैसे एक दुनिया हो।

मुझे गाँव की हलकी-हलकी धूप प्रिय लगती थी। ऊदा-ऊदा आकाश अच्छा लगता था। मेरी माँ के बनाये उपलों की गन्ध अच्छी लगती थी। भैंस की पीठ पर बैठ कर उसे बाहर ले जाना अच्छा लगता था। तालाब में भैंस को नहलाना अच्छा लगता था। घास पर लेटे-लेटे मैं कितनी-कितनी देर, दूर किसी को 'माहिया' के बोल गाते हुए सुनता रहता था। सुनते-सुनते सो जाता था। गाँव के गुरुद्वारों में बैठा हुआ मैं सोचा करता था कि इससे बड़ा मकान संसार में कोई होगा? अपना गाँव, उसके आगे एक और गाँव, उसके आगे एक और गाँव, उसके आगे, मैं सोचता, जंगल होगा, अँधेरा होगा, संसार समाप्त हो जाता होगा।

तब मैं बहुत छोटा था। बासी रोटी पर मक्खन रख कर खाता, काँसे के कटोरे भर-भर लस्सी गटकता, लस्सी जितनी खट्टी हो, उतना ही उसे चाव के साथ पीता। प्रातः बेरियों के बेर चुनने के लिए निकल जाता। सावन की बहार में तारंपीन और कुकरमुत्तों की तलाश में कहीं का कहीं हो आता।

अपने गाँव में मुझे खूब गहमा-गहमी लगती थी, बच्चे खूब ऊँचा हँसते थे, मसजिद का मुल्ला खूब ऊँची अज़ान देता था, बाज़ार के लोग खूब ऊँचा-ऊँचा बोलते थे, लड़ने वाले ऊँचा लड़ते थे, रोने वाले ऊँचा रोते थे, खेलने के समय खेल-खेल कर लोग न थकते थे, न हारते थे।

इस प्रकार खुशी-खुशी दिन गुज़र रहे थे कि एक दिन सुनने में आया कि हमारे गाँव में प्लेग फैल गया है। गली में एक मरा हुआ चूहा लोगों ने देखा था। फिर किसी के घर में एक चूहा गिरा, फिर कई घरों में चूहे गिरने लगे। फिर एक नवयुवक की कमर पर गिलटी निकल आईं। पहले दिन गिलटी निकली और अगले रोज़ वह खत्म हो गया। इस मुरदे को जला कर अभी लोग लौटे थे कि दो और नवयुवकों के गिलटियाँ निकल आई। सारे के सारे गाँव का लहू जैसे सोख लिया गया हो, हरेक चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। फिर देखते-देखते गाँव खाली हो गया।

हम भी अपना गाँव छोड़ कर शहर चले गये- मैं, मेरे बहन-भाई, मेरी माँ और मेरे पिता जी। पर मेरे दादी-दादा घर छोड़ कर जाने के लिए तैयार नहीं थे।

शहर, जहाँ जा कर हम रहे, हमारे गाँव से तीन मील दूर था। प्रतिदिन प्रातः मेरे बड़े लाला जी (दादा) हमें दूध पहुँचाने आते, मक्खन दे जाते। गाँव के कुएँ पर से सब्जी ले आते और कितनी-कितनी देर बच्चों के साथ बातें करते, और इस प्रकार हम से मिल कर गाँव लौट जाते।

मेरे माता-पिता, बड़े लाला जी से गाँव की ख़ैर-ख़ैरियत पूछते। हर रोज़ जो समाचार वह देते, वह अच्छा न होता। अभी चूहे गिर रहे थे, अभी गिलटियाँ निकल रही थीं। अभी लोग एक-एक दिन, दो-दो दिन बीमार रह कर मर रहे थे।

लाख मेरे माता-पिता खफ़ा होते, पर मेरे बड़े लाला जी अपना गाँव छोड़ने को राज़ी न हुए। अगर कोई साफ-सुथरा रहे, साफ़-सुथरा खाये-पिए, मेरे बड़े लाला जी कहते, तो कोई बीमारी नज़दीक नहीं आती।

मुझे शहर का घर ज़रा अच्छा न लगा। हर रोज़ जब बड़े लाला जी गाँव लौटने को होते तो मैं उनकी ओर ललचाई हुई नज़रों से देखता। यह भी कोई घर हुआ? मैं बार-बार अपने से कहता - एक कमरा, एक और कमरा और खत्म। बाहर का आँगन दस और किरायेदारों का साझा! आँगन में लगे हुए नल पर दिन भर स्त्रियाँ नहाती रहतीं, कपड़े धोती रहतीं, अर्ध-नग्न! मुझे बड़ी शर्म आती।

जिस अहाते में हमारा घर था, उसके बाहर म्यूनिसिपल कमेटी की चुंगी थी, चुंगी के आगे सड़क थी, और सड़क के पार छावनी की सीमा शुरू हो जाती थी। रावलपिंडी की छावनी, मैंने सुना था बड़ी मशहूर छावनी थी।

मेरी नज़र में छावनी की बस तीन निशानियाँ थीं, सड़क के पार एक पानी की टंकी थी, जहाँ सुबह-शाम फ़ौजी घोड़े पानी पीने के लिए लाये जाते, सामने सड़क पर पेड़ों के नीचे कभी-कभी शाम को गोरों के बच्चे हवाई बन्दूकें लिये कबूतरों की खोज में आते, या सड़क के उस पार कोई आया, फिरंगी के किसी दूध जैसे गोरे-चिट्टे बच्चे को गाड़ी में डाले सैर करवा रही होती।

मैं सड़क के पार छावनी की इन नयी-नयी चीज़ों को देख-देख कर हैरान होता रहता।

विशेषतः पानी की टंकी मुझे सदा अपनी ओर खींचती रहती। न जाने इसलिए, कि अब मुझसे मेरा तालाब छिन गया था, जहाँ सुबह-शाम मैं नहाता रहता था; या फिर इसलिए कि उसमें घोड़े आ कर पानी पीते थे और घोड़ों को देख कर मुझे अपनी भैंस याद आ जाती थी। एक दिन डरता-डरता मैं, सड़क के पार, उस टंकी की ओर गया। मैंने देखा टंकी में मोतियों जैसा निर्मल पानी था। एक ओर नल से पानी आ रहा था, दूसरी ओर नाली में से पानी बह रहा था। ठंडे शीतल इस जल को देख कर मेरा जी चाहा कि मैं कपड़े उतार कर उसमें कूद पड़ूँ। पर आगे-पीछे कई सैनिक आ-जा रहे थे। साहस न हुआ। उस रोज़ शाम को घर आकर मैंने माँ से अपनी यह इच्छा प्रकट की। मेरी माँ ने मुझे एकदम डरा दिया- "अगर तुझे

सड़क के पार घूमते हुए किसी गोरे ने देख लिया, तो पकड़ कर हवालात में बंद कर देगा और जब कोई गोरा किसी को पकड़े, तो उससे पूछताछ भी नहीं की जा सकती।"

"मैं तब जाऊँगा, जब कोई सैनिक आगे-पीछे नहीं होगा।"

"न बेटा!" मेरी माँ ने मुझे और भयभीत करने हेतु कहा, "ये सैनिक कई बार साधारण कपड़े पहन कर भी घूमते रहते हैं, तू अपने नल पर ही नहाया कर।"

पर नल कभी एक क्षण के लिए भी खाली नहीं होता था, अहाते की स्त्रियाँ सुबह कपड़े धोने जो बैठतीं कि शाम हो जाती। मैं प्रायः अपने आँगन के बाहर बैठा टंकी को देखता रहता। टंकी, जिसमें मैंने स्वयं देखा था कि मोतियों-सा निर्मल जल बहता रहता था।

सवेरे-शाम, शाम-सवेरे मैं टंकी की ओर देखता रहता और इस प्रकार देख-देख कर आखिर मुझसे रहा न गया। एक दिन दोपहर बड़ी गरमी थी। टंकी के आगे-पीछे कोई व्यक्ति नज़र नहीं आ रहा था। मैंने चुपके से अपने कपड़े उतार कर अपनी दहलीज़ पर रख दिए, और दौड़ता हुआ सड़क पार करके टंकी में जा कूदा। पहली डुबकी लगा कर जब मैंने सिर बाहर निकाला तो मेरे आश्चर्य की सीमा न रही, टंकी के किनारे खड़ा एक गोरा मुझे कान से पकड़ कर बाहर निकाल रहा था। मेरी आँखों के आगे अंधकार छा गया। पता नहीं, वह दुष्ट कहाँ से आ टपका था। मैं बेल से टूटी तुरई की तरह उसकी बाँहों में औंधा जा पड़ा। फिर मुझे नहीं मालूम कि उसने मेरे साथ क्या किया, फिर मुझे नहीं मालूम कि उससे किसी ने क्या कहा, जब मेरी चेतना लौटी तो मैं अपने घर में चारपाई पर पड़ा था।

उस दिन से अंग्रेज़ों के प्रति मेरे हृदय में घृणा भर गई। एक अजीब डर बस गया। जहाँ कहीं मैं किसी गोरे को देख लेता, मेरा चेहरा क्रोध के मारे लाल हो जाता, मेरी आँखें डर के मारे झुक जातीं, मैं थर-थर काँपने लगता।

अगर मैं डरता नहीं था तो फिरंगी के उन बच्चों से, जो हवाई बंदूकें लिए कई बार शाम को सड़क के पार, पेड़ों के नीचें, कबूतरों को ढूंढ़ने आया करते थे। उन पर तो प्रायः मुझे क्रोध आ जाता था।

एक दिन मैंने देखा कि एक अकेला अँग्रेज़ बालक बंदूक लिए सामने सड़क पर घूम रहा है। मैं दौड़ कर भीतर से अपनी गुलेल उठा लाया और सड़क के पार जा कर पेड़ों पर अन्धाधुन्ध कंकर फेंकने लगा। अँग्रेज़ बच्चे ने झूट-मूठ बंदूक मेरी ओर करके मुझे डराया। मैंने सचमुच ही एक कंकर उसकी छाती पर दे मारा और घबरा कर वह वहाँ से भाग गया।

उस दिन मैं रात को बहुत खुश था। हँस रहा था, खेल रहा था।

अगले दिन शाम को मैं आँगन के बाहर की दहलीज़ पर बैठा था कि मैंने

देखा कि तीन-चार अँग्रेज़ बालक मेरी ओर आ रहे हैं। हरेक के हाथ में गुलेल हैं। लम्बे-लम्बे, पक्के-मजबूत रबड़, लोहे की मूठें, गोल-गोल कंकड़ियाँ वह मेरी ओर फेंकने लगे। मैंने देखा तो घबरा गया। भागा-भागा मैं भीतर अपने घर में आ घुसा। कितनी देर वे बालक हमारे आँगन के बाहर मँडराते रहे।

उसके बाद जब कभी वे बालक मुझे देखते, मैं घबराया हुआ, भाग कर अपने आँगन में आ छिपता। मुझे शहर का यह जीवन जहर-सा लगता था। पर हमारे गाँव में प्लेग ज़ोरों पर था और मुझे कोई उस ओर मुँह तक न करने देता था। एक दिन मैं शाम को अपने घर की दहलीज़ पर बैठा सामने आँगन में नल के गिर्द बैठी कपड़े धो रही स्त्रियों को देख रहा था, कि बाहर से एक पड़ोसन ने आ कर उन्हें कोई बात बताई और एकदम उन्होंने कपड़े धोना बंद कर दिया। सब स्त्रियाँ ठोड़ियों पर उँगलियाँ रखे कितनी देर सिर जोड़ कर खुसर-फुसर करती रहीं। फिर वैसी-की-वैसी, कपड़े सँभाल, हाथ मलती हुई वे अपने-अपने घरों को चली गईं। मेरी माँ जब घर आई, तो मैने उससे सारी बात पूछी।

"बेटे, बड़ा अनर्थ हुआ है।" मेरी माँ ने मुझे बतलाया, "सामने, सड़क पर एक आया, गोरे के एक बच्चे को गाड़ी में घुमा रही थी, उधर से एक ट्रक आया और बच्चा गाड़ी समेत उसके नीचे दब गया। आया तो बच गयी पर बच्चा, न मालूम कैसे ट्रक के नीचे आ गया। हाय बेटा, बड़ा अनर्थ हुआ है। बेचारी आया...।"

"क्यों, आया का अब क्या होगा?"

"हाय बेटा, आया बेचारी की मिट्टी पलीद होगी।"

"क्यों, आया को सज़ा मिलेगी?"

"सज़ा जैसी सज़ा! इन फिरंगियों से भगवान बचाये।"

"आया को क्या करेंगे माँ?"

"क्या करेंगे? आधा धड़ उसका ज़मीन में दबा कर बाक़ी आधे को शिकारी कुत्तों से नुचवाएँगे। ये फिरंगी बड़े दुष्ट हैं बेटा!"

मेरी माँ न जाने कितनी देर तक बोलती रही। मुझे उसके बाद कुछ सुनाई न दिया। गुमसुम जहाँ बैठा था, वहीं जम गया।

उस रात मैं खाना नहीं खा सका। खाने के समय मुझे नींद आ रही थी। काफ़ी रात गये, काम-काज से निवृत्त हो, चारपाई पर आ कर लेटी अपनी माँ से मैंने फिर पूछा, 'माँ, उस आया को कुत्तों से कैसे नुचवाएँगे, ये गोरे?'

"बेटा, पहले एक गढ़ा खोदेंगे, उसमें आया को खड़ा करेंगे। फिर आगे-पीछे मिट्टी डाल कर उसे कमर तक गाड़ देंगे। फिर भूखे शिकारी कुत्तों को छोड़ेंगे जो उस बेबस औरत की बोटी-बोटी कर देंगे। ये फिरंगी बड़े निर्दयी हैं।"

मैं चुपचाप अपने पलँग पर आ पड़ा। सारी रात मैं सो न सका। बार-बार मेरी आँखों के सामने एक भारतीय नारी का चित्र उभरता, जिसे गोरों के कुत्ते नोच-नोच कर खा रहे थे। बार-बार अपनी आँखों के आगे मैं हथेलियाँ रख लेता। मैं सोचता रहा, सोचता रहा और सुबह हो गई।

अगली सुबह जब मेरे बड़े लाला जी गाँव से आये, मैं उनके साथ चलने को तैयार हो गया। मुझे लाख समझाया गया कि गाँव में प्लेग अपने पूरे ज़ोरों पर है। मेरी माँ मुझ पर ख़फ़ा भी हुई। मेरे पिता ने मुझे डाँटा भी। पर मैंने किसी की एक न सुनी। मुझे यूँ लगता कि यदि मैं एक दिन और गोरों के उस पड़ोस में रह गया तो मेरे गिलटी निकल आयेगी। जब मेरे बड़े लाला जी लौटने लगे, रोता-धोता, मिन्नतें करता, मैं उनके पीछे हो लिया। थोड़ी दूरी पर जा कर उन्होंने मुझे यूं हठ करते देखा तो उठा कर मुझे घोड़ी पर बैठा लिया। हम तेज़-तेज़ वापस अपने गाँव लौट आये, जहाँ उपलों की सुगंध मुझे अच्छी लगती थी, भैंस के साथ तालाब में नहाना मुझे अच्छा लगता था, घास पर लेटे-लेटे दूर, बहुत दूर 'माहिया' के बोल सुनना अच्छा लगता था, और इस प्रकार सुनते-सुनते प्रायः मैं सो जाया करता था, अपने गाँव की हलकी-हलकी धूप में।